Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# विश्व के सन्त-महापुरुष

L-5

डॉ. देवराज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# विश्व के सन्त-महापुरुष

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# विश्व के सन्त-महापुरुष

संपादक

डॉ० देवराज

सयाजीराव गायकवाड़ प्रोफेसर, भारतीय सभ्यता और संस्कृति; अध्यक्ष, भारतीय दर्शन और धर्म विभाग; हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रकाशक
© काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५

मूल्य २)५०

मुद्रक
लक्ष्मीदास
बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी प्रेस,
वाराणसी—५ (भारत)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

## FOREWORD

I have great pleasure in commending this book to the University students studying religion and to the general public. Religion is one of the pivotal factors in human life, being the foundation of man's moral and spiritual values; and there can be no better guide to these values than the lives and teachings of the saints and prophets presented in this book.

Some years ago the Government of India appointed a Committee on Religious and Moral Instruction, with Shri Sri Prakash, the illustrious son of late Dr. Bhagavan Das and ex-Governor of Bombay, as Chairman. The results of the deliberations of the Committee together with its recommendations were published in the form of a Report in 1960. The terms of reference of the Committee were laid down as follows:

(i) To examine the desirability and feasibility of making specific provision for the teaching of moral and spiritual values in educational institutionas.

(ii) If it is found desirable and feasible to make such provision, (*a*) to define broadly the content of instruction at various stages of education, and (*b*) to consider its place in the normal curriculum.

The Committee took note of the "feeling of frustration" among Indian youth, of "the loosening of social relationships and increasing emphasis on careerism," of "corruption and dishonesty in our official and business life", of the "general decline in educational standards" attended with student indiscipline, and of "the disruptive forces" at work in our society outside the school. It strongly recommended the introduction

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



of "instruction in moral and spiritual values" in a non-sectarian spirit in the educational institutions.

The Committee indicated a broad framework of such instruction, suggesting among other things that the students in the colleges and universities be required, in the first year of the degree course, to familiarize themselves with the lives of the great religious and spiritual leaders of the world.

Following these suggestions, I constituted a Board or Committee of some teachers from the Departments of Philosophy and Indian Philosophy and Religion, Banaras Hindu University, with Dr. N. K. Devaraja, Head of the Department of Indian philosophy and Religion, as Convener to undertake the preparation of a Volume on the "Lives of Religious Leaders and Saints" for the benefit and use particularly of the students of the first year degree course. At a later stage, the Committee was able to secure active association and advice of Shri Sri Prakash and Principal Ram Chandra Sastri of the Sanskrit Mahavidyalaya, Banaras Hindu University, in regard to the selection of names to be included in the "Lives" and some other matters. I take this opportunity to express my grateful thanks to them for their cooperation. I am particularly grateful to Dr. N. K. Devaraja, the editor of the Volume, and to the teachers and Research Scholars who have cooperated with him in preparing the lives collected here.

Banaras Hindu University, N. H. BHAGWATI
*April 10, 1964.*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# प्रस्तावना

इस पुस्तक में विश्व के धर्म-शिक्षकों एवं धार्मिक महापुरुषों के जीवनवृत्त और संक्षिप्त उपदेश संकलित किये गये हैं। मनुष्य के इतिहास में धर्म-नामक संस्था संभवतः सबसे महत्वपूर्ण रही है, उसने मानव की मन-बुद्धि तथा हृदय को सर्वाधिक प्रभावित किया है। अधिकांश देशों और सभ्यताओं में धर्म नैतिक जीवन की प्रेरणा और नियामक रहा हैं; उसका जीवन के चरम लक्ष्य और चरम संतोष व सम्पूर्त्ति (फुलफिलमेण्ट) से भी साक्षात् सम्बन्ध रहा है। जहाँ तक हमारे देश का सम्बन्ध है, यहां धर्म का सदा से विशेष स्थान रहा है। हमारे देश के दर्शन भी मुख्यतः मोक्ष-दर्शन रहे हैं। दूसरे देशों में धर्म और दर्शन का वैसा निकट सम्बन्ध नहीं रहा, फिर भी दर्शन प्रायः कहीं भी जीवन के आध्यात्मिक (स्प्रिचुअल, रेलीजस) लक्ष्य से उदासीन नहीं रह सका है।

प्रश्न किया जा सकता है कि—आज के वैज्ञानिक युग में धर्म और अध्यात्म की क्या जरूरत अथवा उपयोगिता है ? जीवन के सुख व तृप्ति के लिए क्या विज्ञान और उसकी चमत्कारपूर्ण देनें काफी नहीं है ? उत्तर में हम दो बातें कहेंगे। एक, विज्ञान का क्षेत्र भौतिक जगत है। विज्ञान की अन्वेषण-प्रणाली केवल भौतिक जगत की प्रक्रियाओं को समझने के लिए उपयुक्त हैं। विज्ञान मानव-जीवन के मूल्यों के बारे में कोई प्रामाणिक वक्तव्य या सम्मति नहीं दे सकता। दूसरे, मनुष्य का अब तक का अनुभव यह है कि वह केवल सुख-भोग की भौतिक सामग्री से सन्तोष प्राप्त नहीं कर सकता। उन्नीसवीं शती के कार्लमार्क्स तथा दूसरे समाजवादी व सुधारवादी विचारकों की यह धारणा थी कि हमारे समस्त कष्टों और संकटों का मूल गरीबी है, अर्थात् भौतिक सुखभोग की सामग्री की, सम्पत्ति की, कमी; दूसरा कारण सम्पत्ति का विषम विभाजन है। आज हम जानते हैं कि मानवीय कष्टों तथा संकटों का यह विश्लेषण अपूर्ण और भ्रामक भी है। अमेरिका जैसे समृद्ध देश में भी जहाँ गरीब से गरीब व्यक्ति डेढ़-दो सौ रुपये प्रतिमास सरलता से कमा लेता है और अधिकांश लोग कहीं अधिक कमाते हैं, लोग सन्तुष्ट नहीं हैं। यही दशा तथाकथित साम्यवादी देशों में है। यही नहीं, वैज्ञानिक सभ्यता की प्रगति ने जहाँ युद्ध के खतरों और उसके व्यय को बेहद बढ़ा दिया है, वहाँ वह विश्व की जनता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



को शान्तिप्रिय बनाने के लिए कुछ भी नहीं कर सकी है। शान्ति के प्रचार के लिए हमें बरबस विश्व के धार्मिक-आध्यात्मिक नेताओं की ओर देखना पड़ता है। हमारे इस कथन का यह मतलब नहीं कि विज्ञान व्यर्थ है, या उसकी उपयोगिता नहीं है; यह भी नहीं कि भौतिक सामग्री जीवन के लिए अनावश्यक है, या कि गरीबी अच्छी चीज़ है। अभिप्राय सिर्फ यह है कि मनुष्य की जरूरतें सिर्फ भौतिक ही नहीं नैतिक-आध्यात्मिक भी हैं, और इन जरूरतों की पूर्त्ति विज्ञान द्वारा संभव नहीं है। यही नहीं, नैतिकता और अध्यात्म के बिना विज्ञान की लब्धियाँ मनुष्यों के कष्ट का कारण भी हो सकती हैं।

नैतिक-आध्यात्मिक शिक्षा के लिए हम, स्वभावतः, विश्व के धर्म-शिक्षकों की ओर देखते हैं। प्रश्न है, ये धर्म-शिक्षक आपस में मतभेद रखते हैं; वे अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं; ऐसी दशा में हम उनमें से किसका अनुसरण करें?

इसका एक उत्तर महापुरुषों की जीवनियाँ हैं। भले ही धर्म-शिक्षकों के सिद्धान्त भिन्न-भिन्न रहे हों, पर उनकी जीवन-पद्धतियाँ प्रायः समान सद्गुणों को प्रकाशित करती हैं, जैसे सत्य-निष्ठा, निर्भयता और साहस, उदारता और करुणा आदि। ये सद्गुण मूल वस्तु हैं, सिद्धान्त अपेक्षाकृत गौण हैं। मुख्य चीज वह जीवन-प्रणाली या प्रणालियाँ हैं, जिन्हें बौद्धिक आधार देने के लिए सिद्धान्तों की परिकल्पना की जाती है। यह बात स्वयं विज्ञान के सिद्धान्तों पर भी लागू होती है। इन सिद्धान्तों की कल्पना प्रेक्षण तथा प्रयोगों द्वारा उपलब्ध तथ्यों की व्याख्या के लिए की जाती है। तथ्य मुख्य होते हैं; सिद्धान्त समय-समय पर बदलते रहते हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में जीवनचर्या की वे अनुभूत प्रणालियाँ जो शान्ति और आनन्द देती हैं, तथ्यों का महत्व रखती हैं। हमारे पाठक यह याद रख सकते हैं कि आध्यात्मिक तथ्यों के साक्षात्कार और उनकी व्याख्या इन दोनों की दृष्टि से भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का विशेष महत्व है। यहा अनेक धर्म और पंथ प्रचलित हुए, और अनेकानेक महात्मा तथा संत उत्पन्न हुए। यहाँ के धर्म-शिक्षकों में जहाँ एक ओर महान ईश्वर-भक्त हुए हैं, वहाँ दूसरी ओर बुद्ध और महावीर जैसे शिक्षक भी जो स्रष्टा ईश्वर को स्वीकार नहीं कर सके। महत्त्व की बात यह है कि इन सभी प्रकार के शिक्षकों ने आध्यात्मिक जीवन के मूल तत्त्वों का बहुत कुछ समान रूप प्रतिपादित किया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



जीवनियों के सम्बन्ध में यहाँ एक बात और कहनी है। आदरणीय श्री श्री प्रकाश जी, भूतपूर्व राज्यपाल, बम्बई, का सुझाव था कि जीवनवृत्तों में यथासंभव अलौकिक घटनाओं का समावेश न किया जाय, क्योंकि आज के वैज्ञानिक युग में ऐसी घटनाएँ विश्वसनीय नहीं जान पड़तीं। किन्तु लेखकों को यह अनुभव हुआ कि कुछ जीवनियों में अलौकिक तथ्य और चमत्कार इतने अनुस्यूत हैं कि उन्हें निकाल देने पर जीवनवृत्त ही गायब हो जायगा। उदाहरण के रूप में मूसा की जीवनी पेश की जा सकती है। हम पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे चामत्कारिक घटनाओं को अधिक महत्त्व न दें। साथ ही हम कहेंगे कि इस तरह की घटनाओं को एकदम असत्य घोषित करना भी वैज्ञानिक नहीं हैं। इधर परामनोविज्ञान (पैरासाइकॉलॉजी) के अन्वेषण यह सिद्ध करते जान पड़ रहे हैं कि हमारे सामान्य अनुभव और ज्ञान से भिन्न कोटि के अनुभव भी संभव हैं।

यह पुस्तक हिन्दू विश्वविद्यालय के कई शिक्षकों, कुछ छात्रों और एक-दो बाहर के विद्वानों के सहयोग का फल हैं। विभिन्न लेखकों का विवरण इस प्रकार है : मूसा, जरथुस्त्र, लाओत्से और कन्फ्यूशियस—डा० रामशंकर मिश्र, रीडर भारतीय दर्शन और धर्म विभाग; गौतम बुद्ध, सुकरात, शंकर, गुरु नानक और रामकृष्ण परम हंस—डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी, रीडर दर्शन विभाग; समर्थ रामदास और महामना मालवीय—श्री सीताराम त्रिपाठी, संस्कृत महाविद्यालय; भगवान् महावीर—श्री दरबारी लाल कोठिया, संस्कृत महाविद्यालय; विवेकानन्द—श्री उदयचन्द्र जैन, संस्कृत महाविद्यालय। रामानुज और मध्व की जीवनियाँ तैयार करने में श्री श्रीप्रकाश दुबे का; बसवेश्वर की जीवनी में श्री नीलकंठ शर्मा हिरेमठ का और दयानन्द के जीवनवृत्त में कु० किरन कुमारी श्रीवास्तव का सहयोग मिला है—ये सब भारतीय दर्शन और धर्म विभाग में शोध के विद्यार्थी हैं। उक्त सहयोगियों और छात्र-छात्राओं का मैं हृदय से आभारी हूँ। शेष जीवनियों में 'मुहम्मद' और 'महात्मा गान्धी' संपादक द्वारा तैयार की गई हैं। ईसामसीह की जीवनी में स्थानीय क्वीन्स कालेज के प्राध्यापक डॉ० दयाल शरण वर्मा से सहायता ली गई है, उनका मैं कृतज्ञ हूँ।

निबन्धों की भाषा के संशोधन व सुधार में समय-समय पर डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, अध्यक्ष हिन्दी विभाग से सहायता मिली है। महामना मालवीय और महात्मा गांधी की जीवनियाँ तथ्यों की दृष्टि से श्री श्री प्रकाश जी द्वारा पर्यालोचित की गई है; सम्पादक उनका आभारी है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



यह पुस्तक हिन्दू विश्वविद्यालय के कर्मठ कुलपति और कर्मयोगी श्री एन्० एच्० भगवती की प्रेरणा और परामर्श का परिणाम है। उन्हें धन्यवाद देने की धृष्टता मैं नहीं करूँगा। आशा है सामान्य पाठक और धर्म विषय का अध्ययन करने वाले विश्वविद्यालयों के छात्र पुस्तक को उपयोगी पाएँगे।

हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी
२५ मार्च, १९६४

देवराज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# अनुक्रम


| विषय | | पृष्ठांक |
|---|---|---|
| १. | हजरत मूसा—(डॉ० रामशंकर मिश्र) | १ |
| २. | जरथुस्त्र— ,, | १० |
| ३. | तीर्थंकर महावीर—(श्री दरबारी लाल कोठिया) | २२ |
| ४. | गौतम बुद्ध—(डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी) | ३२ |
| ५. | लाओत्से—(डॉ० रामशंकर मिश्र) | ४३ |
| ६. | कनफ्यूशियस—( ,, ) | ५३ |
| ७. | सुकरात—(डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी) | ६४ |
| ८. | ईसामसीह—(डॉ० दयालशरण वर्मा) | ७६ |
| ९. | मुहम्मद साहब—(डॉ० देवराज) | ९३ |
| १०. | रामानुजाचार्य—(श्री श्रीप्रकाश दुबे) | १०४ |
| ११. | महात्मा बसवेश्वर—(श्री नीलकंठ शर्मा हिरेमठ) | ११२ |
| १२. | आचार्य शंकर—(डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी) | ११९ |
| १३. | श्री मध्वाचार्य—(श्री श्रीप्रकाश दुबे) | १२९ |
| १४. | गुरु नानक—(डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी) | १३५ |
| १५. | श्री स्वामी समर्थ रामदास—(श्री सीताराम त्रिपाठी) | १४५ |
| १६. | श्री रामकृष्ण परमहंस—(डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी) | १५३ |
| १७. | स्वामी दयानन्द सरस्वती—(कु० किरन कुमारी श्रीवास्तव) | १६७ |
| १८. | विवेकानन्द—(श्री उदय चंद्र जैन) | १७८ |
| १९. | महामना मदनमोहन मालवीय—(श्री सीताराम त्रिपाठी) | १९५ |
| २०. | महात्मा गांधी—(डॉ० देवराज) | २०५ |


CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

## आधार-ग्रन्थ


| | |
|---|---|
| हजरत मूसा, जरथुस्त्र, लाओत्से कन्फ्यूशियस | बाइबिल (द ओल्ड टेस्टामेन्ट); सचर, एस. एल., ए हिस्ट्री आफ द ज्यूज़; स्मिथ, सी. आर., द रिलीजन आफ द हेब्रूज; स्पीगेल बर्ग, एफ़., लिविंग रिलीजन्स आफ द वर्ल्ड; भट्टाचार्य, एच्., द फाउण्डेशन्स आफ लिविंग फेथ्स; फिनेगन, जे., द आर्केआलाजी आफ वर्ल्ड रिलीजन्स; बुके, ए. सी., कम्पेरेटिव रिलीजन; चेम्पियन, एस. जी. तथा शार्ट. डी., रीडिंग्स फ्राम वर्ल्ड रिलीजन्स; जैकसन, जोरो-आस्ट्रियन स्टडीज़ |
| तीर्थंकर महावीर | डा० जगदीश चन्द्र जैन, भगवान महावीर; मुनि श्री कल्याण विजय जी, भगवान महावीर; मुनि श्री विजयेन्द्र सूरि, तीर्थंकर महावीर |
| गौतम बुद्ध | एल्. ऐडम्स बैक, द लाइफ आफ बुद्ध |
| सुकरात | एफ्. जी. चर्च, द ट्रायल ऐण्ड डेथ आफ सॉक्रेटीज़ |
| ईसा मसीह | जोज़ेफ क्लाज़नर, जीसस ऑफ् नेज़ारेथ; एमिल लुडविग, द सन ऑफ मैन |
| मुहम्मद साहब | इशाक, द लाइफ आफ मुहम्मद (अं. अनुवाद)<br>मुहम्मद अली, द लिविंग थाट्स आफ द प्रॉफेट मुहम्मद<br>मौलाना मुहम्मद अली, मुहम्मद द प्रॉफेट |
| रामानुजाचार्य मध्वाचार्य | स्वामी रामकृष्णानन्द, लाइफ आफ श्री रामानुज; नागराज राव, इन्ट्रोडक्शन टु वेदान्त; थ्री ग्रेट आचार्यज़् (प्रकाशक, जी. ए. नटेसन, मद्रास) |
| आचार्य शंकर | पं० बलदेव प्रसाद उपाध्याय, 'श्री शंकराचार्य'; माधवाचार्य, शंकर-दिग्विजय |
| वसवेश्वर | सिंदिग सिद्धप्पा, श्री वसवेश्वरन् चरित्रे (कन्नड़); अ० न० कृष्णराय, श्री बसवण्णनवर अमृत वाणि (कन्नड़); कर्म मंगले श्री कण्ठय्य, वीरशैव मताचार्यर काल-निर्णय (कन्नड़) |


CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



| | |
|---|---|
| **गुरुनानक** | एम. ए. मेकालिफ, द सिख रिलीजन; राजा श्री दलजीत सिंह, गुरुनानक |
| **श्री स्वामी समर्थ दास** | बाबू रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी दास बोध |
| **श्री रामकृष्ण परमहंस** | श्री रामकृष्ण गीता प्रेस; ए शार्ट लाइफ ऑफ श्री रामकृष्ण, अद्वैत आश्रम मायावती |
| **दयानन्द सरस्वती** | हर विलास शारदा, लाइफ ऑफ् दयानन्द सरस्वती; कल्चुरल हैरिटेज ऑव् इंडिया, भाग ४ |
| **विवेकानन्द** | सिस्टर निवेदिता, माई मास्टर ऐज़ आई सा हिम; लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द (राम कृष्ण मिशन); रोमाँ रोलाँ, लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द ऐन्ड हिज गॉस्पेल |
| **महामना मदन मोहन मालवीय** | पं० रामनरेश त्रिपाठी, तीस दिन मालवीय जी के साथ पं० सीताराम चतुर्वेदी, महामना पं० मदनमोहन मालवीय |
| **महात्मा गान्धी** | लुई फिशर, द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी (दो भाग, विद्या-भवन, बम्बई); महात्मा गान्धी, आत्मकथा |

## आवश्यक संशोधन

(१) "आचार्य शंकर" जीवनी मुहम्मद साहब के बाद और रामानुज से पूर्व होनी चाहिए; इसी क्रम में पढ़ें।

(२) श्री रामकृष्ण परमहंस का जन्म-वर्ष १८३६ ई० है; उनकी जीवनी दयानन्द सरस्वती के बाद और विवेकानन्द के पूर्व निवेशित होनी चाहिए; कृपया क्रम सुधार कर पढ़ें।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# हज़रत मूसा

## ( १३०० ई० पू० )

हज़रत मूसा[1] यहूदी धर्म के संस्थापक तथा प्रवर्तक माने गये हैं। यों तो यहूदी धर्म का अस्तित्व मूसा से पहले भी था पर उस धर्म को सुगठित तथा परिमार्जित रूप देने का तथा संसार के महान धर्मों की श्रेणी में स्थान दिलाने का श्रेय मूसा को ही प्राप्त है। केवल इतना ही नहीं, यहूदी जाति को एक राष्ट्र का रूप देने वाले भी मूसा ही हैं। इसीलिए यहूदी धर्म के नेताओं में मूसा का सर्वोच्च स्थान माना गया है।

### जन्म और बाल्य-काल

बाइबिल के अनुसार मूसा का जन्म मिस्र देश में हुआ। इतिहासकार साधारण रूप से इनका जन्म ईसा की तेरहवीं शताब्दी पूर्व मानते हैं। मिस्र में रहने वाली यहूदी जाति के लिए यह समय गंभीर संकट का था। मिस्र के सम्राट फराह[2] की तरफ से यहूदियों पर नाना-प्रकार के अत्याचार किये जा रहे थे। मिस्र में बसने वाले यहूदियों के पूर्वज केनान[3] देश से आकर मिस्र में बस गये थे। कई शताब्दियों तक वे सुख पूर्वक रहे, पर अन्त में एक फराह के समय उनपर अत्याचार होने लगे और उन्हें गुलामी का जीवन स्वीकार करना पड़ा। यहूदियों से मज़दूरों का काम लिया जाने लगा। वे स्वतन्त्र नागरिकों के सब अधिकारों से वंचित कर दिये गये। यहूदी जाति के इसी संकट के काल में मूसा का जन्म हुआ। इनके जन्म के विषय में भी बाइबिल में एक रोचक कथा है। इनके जन्म को इनकी माता ने तीन महीने तक छिपा रखा; क्योंकि फराह का उस समय आदेश था कि यहूदियों के जितने लड़के जन्म लें उन्हें मार डाला जाय, और केवल लड़कियाँ ही जीवित रह सकें। जब वह अधिक छिपा न सकी तो वह उन्हें एक पिटारी में रख कर नील नदी के किनारे रख आई। उसकी बहन कुछ दूर पर खड़ी होकर देखने लगी कि उसका क्या होता है। इसी समय फराह की लड़की अपनी सहेलियों और दासियों के साथ नदी में स्नान करने आई। उसने कुछ दूर पर किनारे एक पिटारी रखी देखी

---

1. मोज़ेज़
2. प्राचीन काल में मिस्र के सम्राट फराह कहे जाते थे।
3. जिसे आजकल फिलस्तीन कहते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



और दासियों से उसे लाने के लिये कहा। जब वह खोली गई तो उसने बच्चे को देखा। बच्चा रो रहा था। यह देखकर उसे दया आ गई और उसने कहा कि यह एक यहूदी बच्चा है। बच्चे की बहन जो कुछ दूर से यह दृश्य देख रही थी, पास आकर बोली कि इसे किसी यहूदी दाई को दे दिया जाये जो बच्चे का पालन कर सके। फराह की लड़की ने स्वीकृति दे दी। वह लड़की गई और उस बच्चे की मां को ले आयी। फराह की लड़की ने उससे कहा कि बच्चे को ले जाये और उसका पालन पोषण करे। वह उसे इसका पारिश्रमिक देगी। वह स्त्री बच्चे को ले गई और उसका पालन करने लगी। जब वह बच्चा कुछ बड़ा हुआ तो वह उसे फराह की लड़की के पास ले गई। उसने उसे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया और उसका नाम मूसा रक्खा, क्योंकि उसने उसे पानी में से निकाला था।

### मिस्र से पलायन

इस प्रकार मिस्र की राजकुमारी की छत्रछाया में मूसा राज परिवार के ही एक व्यक्ति के रूप में बड़े हुए। राजवंश के समस्त सुख एवं ऐश्वर्य उन्हें उपलब्ध थे। पर उनके जीवन में आमूल परिवर्तन होने की घड़ी निकट थी। एक दिन की बात है कि जब वे बड़े हो गये थे, अपने यहूदी भाइयों को देखने के लिये गये। उनके ऊपर होने वाले अत्याचारों को उन्होंने देखा। उन्होंने वहीं एक यहूदी को एक मिस्री के द्वारा बुरी तरह पिटते हुए भी देखा। यह देखकर उनसे न रहा गया। उन्होंने इधर-उधर देखा और किसी को वहाँ न देखकर उस मिस्री की हत्या कर उसकी लाश को बालू में गाड़ दिया। पर किसी प्रकार यह समाचार फराह के पास पहुँच गया। फराह ने उन्हें मृत्यु-दण्ड देना चाहा। पर मूसा तब तक फराह के राज्य से दूर जा चुके थे। वह मीदियन लोगों के देश में पहुँचे। वहाँ एक कुएँ के पास बैठ गये। उसी समय वहाँ के मुख्य पुरोहित की लड़कियाँ कुएँ में पानी भरने आईं। मूसा ने गड़ेरियों के एक दल से उनकी रक्षा की जो उनको तथा उनकी भेड़ों को ले जाना चाहते थे। उन्होंने उनके लिए पानी भी स्वयं भर दिया। जब वे लड़कियाँ अपने घर पहुँचीं तो उनके पिता ने पूछा कि वे इतनी जल्दी कैसे वापस आ गईं। उन्होंने उत्तर दिया कि एक मिस्री ने उनकी तथा उनकी भेड़ों की गड़ेरियों से रक्षा की और पानी भी स्वयं भर दिया। उसने उनसे मूसा को घर ले आने को कहा। इस प्रकार मूसा उस परिवार में रहने लगे। अपनी एक लड़की से उसने मूसा की शादी कर दी। उससे उनके एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



## ईश्वर का साक्षात्कार

एक समय की बात है कि अपने श्वसुर की भेड़ें चराते हुए मूसा होरेब नाम के पर्वत पर जा पहुँचे, जो ईश्वर का निवासस्थान कहा जाता था। उसी समय एक झाड़ी के बीच से अग्निज्योति प्रकट हुई। उसी के रूप में उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ। मूसा ने वहाँ एक आश्चर्यजनक दृश्य देखा कि झाड़ी जल रही थी पर आग उसे भस्म नहीं कर रही थी। उस झाड़ी के बीच से मूसा ने एक आवाज़ सुनी "मूसा, मूसा"। मूसा ने उत्तर दिया, "मैं यहाँ हूँ"। फिर आवाज़ आई, "पास मत आओ। जूतों को उतार दो क्योंकि जिस स्थान पर तुम हो वह पवित्र भूमि है"। मूसा ने फिर सुना "मैं अब्राहम, इसाक तथा जैबक आदि तुम्हारे पूर्वजों का ईश्वर हूँ"। यह सुनकर मूसा ने अपना मुख छिपा लिया, क्योंकि उन्हें ईश्वर की तरफ देखने में डर लगता था। ईश्वर ने कहा, "मैंने अपनी प्रजा का दुःख देखा है, जो मिस्र में हैं। दमन तथा यातना सहते हुए उन लोगों का करुण चीत्कार सुना है। मैं उनके दुःखों को जानता हूँ। मैं उन्हें मिस्र से मुक्त करने आया हूँ। उन्हें मुक्त करके ऐसे सुन्दर और प्रशस्त देश में ले जाऊंगा, जहाँ दूध और शहद की नदियाँ बहती हैं...। तुम जाओ मैं तुम्हें मिस्र के सम्राट फराह के पास भेजूगाँ, जिससे तुम इसराइल की सन्तानों को मिस्र से ला सको"। मूसा ने कहा, "मैं हूं कौन जो फराह के पास जाऊं?" ईश्वर ने कहा, "मैं तुम्हारे साथ हूं···जब तुम मिस्र से इसराइलियों को लाओगे तो इसी पर्वत पर ईश्वर की पूजा करोगे। मूसा ने ईश्वर से कहा, "यदि मैं इसराइल के लोगों के पास जाऊंगा और कहूंगा कि तुम्हारे पूर्व पुरुषों के ईश्वर ने मुझे भेजा है और वे पूछेंगे कि उसका नाम क्या है तो. मैं क्या कहूंगा?" ईश्वर ने उत्तर दिया, "मैं हूं जो मैं हूं" और यह कहा, "इसराइल लोगों से कहना कि 'मैं हूं' ने तुम्हें उनके पास भेजा है।" ईश्वर ने मूसा को अनेक प्रकार के चमत्कार करने की शक्ति भी प्रदान की।

इस प्रकार ईश्वर का आदेश पाकर और अनेक प्रकार की शक्ति से सम्पन्न होकर मूसा मिस्र देश के लिए चल पड़े। मूसा ने मिस्र पहुंच कर वहां के वृद्ध यहूदियों को ईश्वर का सन्देश सुनाया और उनके सामने कुछ ऐसे चमत्कार भी दिखाये, जिससे उनको ईश्वर के आदेश में विश्वास हो गया।

## फराह से भेंट

इसके बाद मूसा सम्राट फराह के पास पहुंचे और कहा कि उनके ईश्वर की यह आज्ञा हुई है कि इसराइली लोगों को वह मिस्र के बाहर जाने दें जहाँ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



जाकर ईश्वर के लिए वे पूजा का आयोजन कर सकें। फराह ने उत्तर दिया कि वह किसी ऐसे ईश्वर को नहीं जानता और वह इसराइलियों को मिस्र के बाहर नहीं जाने देगा। मूसा ने कहा कि वह इसराइलियों को तीन दिन की यात्रा में जाने दे, जहाँ जंगल में जाकर ईश्वर के लिए वह एक यज्ञ कर सकें। ऐसा न करने से वे ईश्वर के कोप के भागी बनेंगे। फराह ने उनकी बात अस्वीकार कर दी। उसने अपने राज्य के अधिकारियों को बुलाकर आज्ञा दी कि वे यहूदियों से और भी कसकर काम लें, जिससे इधर-उधर की बातों पर ध्यान देने का उन्हें अवसर ही न मिल सके। अधिकारियों ने यहूदियों पर और भी अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। यहूदी मजदूरी के बोझ से और भी पिसने लगे। इसके लिए उन्होने मूसा को ही दोष दिया, क्योंकि उन्हीं के कारण उनके ऊपर अत्याचार और भी बढ़ा दिये गए थे। मूसा ने यह देखकर ईश्वर से यहूदियों के और अधिक उत्पीड़ित किये जाने की शिकायत की। ईश्वर ने कहा कि फराह को बाध्य होकर यहूदियों को मिस्र से बाहर भेजना पड़ेगा। ईश्वर ने यहूदियों के पूर्व पुरूष अब्राहम, इशाक तथा जैकब को वचन दिया था कि जिस देश में वे पर्यटक के रूप में आये थे, उसी देश केनान को उनकी सन्तानों को देंगे। वही उनका आगे स्वदेश होगा। मूसा ने ईश्वर के इस सन्देश को यहूदियों से जाकर कहा। पर कष्ट और पराधीनता से उन लोगों की आत्मा इतनी कुचल गई थी कि उन्होंने मूसा की बात भी न सुनी।

## चमत्कारों का प्रदर्शन

इस परिस्थिति में मूसा ईश्वर के आदेशानुसार अपने भाई एरान के साथ सम्राट फराह के पास पहुचे। वहाँ उन लोगों ने एक चमत्कार किया। उनकी एक छड़ी जो ईश्वरीय शक्ति से सम्पन्न हो चुकी थी, फराह के सामने ज़मीन में फेंक दी गई और वह सर्प के रूप में परिणत हो गई। किन्तु फराह के ऊपर इस चमत्कार का कोई प्रभाव न पड़ा। इस पर मूसा ने दूसरे दिन एक और आश्चर्यजनक कार्य दिखलाया। फराह और उसके सेवकों के सामने उन्होंने अपनी छड़ी को ऊपर उठाया और नील नदी के पानी में मारा। उसी समय नील नदी का सब पानी खून के रूप में बदल गया। इससे नील नदी की सब मछलियां मर गईं और उसका पानी मिस्र निवासियों के पीने लायक भी न रहा। पर इस चमत्कार का भी फराह के उपर अधिक प्रभाव न पड़ा। वह मूसा की बात स्वीकार करने को तैयार न हुआ। इसके एक सप्ताह बाद मूसा ने ईश्वर के आदेशानुसार फराह से जाकर कहा कि वे इसराइलियों को मिस्र से जाने दें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



नहीं तो नील नदी से तथा सब छोटी नदियों और तालावों से मेंढ़क निकल कर देश भर में फैल जाएँगें। और ऐसा ही हुआ भी। फराह् ने मूसा को बुलाकर कहा कि वे देश से मेढकों को दूर करदें और वह इसराइली लोगों को ईश्वर के निमित्त यज्ञ करने के लिए जाने देगा। पर मेढकों के हट्ते ही उसका मन बदल गया और उसने अपना हठ न छोड़ा। तव मूसा ने फिर अपना चमत्कार दिखाया। उस जादू की छड़ी को ज़मीन में पटकने से देश भर में कीड़े फैल गये। उसके वाद मक्खियां फैलीं। जब इन चमत्कारों से फराह् का हृदय न वदला तो मूसा ने ईश्वरीय आदेश से और भी भयंकर तथा आश्चर्यजनक चमत्कार दिखलाया। उसके कारण मिस्र में जानवरों में महामारी फैली जिसके कारण सब चौपाये मर गये। पर आश्चर्यंजनक वात यह हुई कि इसराइली लोगों के जानवर उस महामारी से पूर्ण रूप से सुरक्षित रहे। पर इन भयानक संकटों के बीच भी फराह् अपने हठ पर अटल रहा। तव मूसा के माध्यम से ईश्वर ने देश भर में टिड्ढी दलों का जाल फैला दिया। मिस्र भर में जितने खेत, पेड़-पौधे थे सबको टिड्डियों ने साफ कर दिया। मिस्र में अभूतपूर्व बर्फ की भी वर्षा हुई। इससे जन-धन की अपार हानि हुई। इतने उपद्रव के होने पर भी जब फराह् ने मूसा की बात न मानी तो मूसा ने ईश्वर के आदेशानुसार आकाश की ओर हाथ उठाया। उसके फलस्वरूप मिस्र भर में अंधकार छा गया। वह अंधकार तीन दिन तक रहा। उस घनीभूत अंधकार में कोई एक दूसरे को देख नहीं सकता था। तीन दिन तक कोई अपने स्थान से उठ न सका। पर और आश्चर्य की वात यह हुई कि इसराइल के लोगों के स्थान में प्रकाश था। इससे उन लोगों को कोई कष्ट न हुआ। तब फराह् ने मूसा को बुलाकर कहा कि वे इसराइलियों को ईश्वर की पूजा के लिए ले·जा सकते हैं। साथ में बच्चे भी जा सकते हैं। पर उन्हें अपने मवेशियों को तथा अन्य वस्तुओं को मिस्र में ही छोड़कर जाना होगा। मूसा ने यह स्वीकार न किया। इससे फराह् का हृदय फिर कठोर हो गया। उसने मूसा को अपने सामने से चले जाने का आदेश दिया और कहा कि यदि वे उसके सामने फिर आयेंगे तो उन्हें मृत्युदण्ड दिया जायेगा। मूसा ने उत्तर दिया कि ठीक है, वे उससे फिर न मिलेंगे।

पर इसी समय ईश्वर ने मूसा को कुछ आदेश दिया। मूसा ने फराह् के सामने ही कहा कि ईश्वर का आदेश है कि फराह् की हठधर्मी के कारण मिस्र में सबसे बड़ी विपत्ति आवेगी; उसी मध्य रात्रि में मिस्र की सभी प्रथम जात

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सन्तानें मर जायेंगी। फराह की प्रथम सन्तान से लेकर साधारण व्यक्तियों तक की प्रथम सन्तानें मर जायेंगी। पशुओं की प्रथम सन्तानें भी इसी प्रकार काल-कवलित होंगीं; पर इसराइली लोंगों पर इस महान विपत्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इतना कहकर मूसा क्रोध के आवेश में फराह के यहाँ से चले गये।

ईश्वरीय विधान के अनुसार वह रात्रि मिस्र-वासियों के लिये काल बन गई। ठीक मध्यरात्रि में मिस्र भर में हाहाकार और कुहराम मच गया। फराह के प्रथम पुत्र से लेकर नौकरों तक की प्रथम सन्तानें मृत्यु को प्राप्त हुईं। मृत पशुओं की गिनती ही न थी। यह देखकर फराह और उनके अनुचर आतंकित हो उठे। फराह ने मूसा को बुलाकर कहा कि वे इसराइलियों को लेकर मिस्र से तुरंत बाहर चले जायें और अपने ईश्वर की पूजा करें। वे अपने सब मवेशियों और सामान आदि के साथ जा सकते हैं। इसराइली लोगों ने मूसा के नेतृत्व में मिस्र से प्रस्थान करने की पूरी तैयारी करली। चलते समय उन्होंने मिस्रवासियों से सोने चांदी के जेवरों की भी मांग की। मिस्रवासी संकटों और विपत्तियों से इतने त्रस्त हो चुके थे कि उन्होंने यहूदियों को पर्याप्त मात्रा में सोने चांदी के उपहार दिये। इस प्रकार मिस्री लोग इसराइलियों द्वारा लूटे गये।

### इसराइलियों का प्रस्थान

इसराइलियों ने स्त्री, बच्चे, मवेशी तथा सभी सामान आदि के साथ मिस्र से प्रस्थान किया। बाइबिल के अनुसार उनकी संख्या लगभग ६ लाख थी। वे चार सौ तीस वर्ष मिस्र में रह चुके थे।

मिस्र के सम्राट को जब मालूम हुआ कि इसराइली मिस्र से जा चुके हैं, तो उसे अफसोस हुआ। उसने कहा कि इसराइली गुलाम थे इससे व्यर्थ ही उन्हें जाने दिया गया। उसने अपने सेनाधिकारियों को इसराइली लोगों को वापस लाने के लिए आज्ञा दी। जब फराह की सेना को इसराइलियों ने पास आते देखा तो भय से वे कांप गये। वे मूसा को मिस्र से बाहर लाने के लिए बुरा-भला कहने लगे। उन्होंने कहा कि मिस्री सेना द्वारा मारे जाने की अपेक्षा मिस्र में रहकर उनकी गुलामी करना कहीं अच्छा था। पर मूसा चट्टान की तरह अटल थे। उन्होंने इसराइलियों को ढाड़स दिया और कहा कि वे शीघ्र ही ईश्वरीय चमत्कार देखेंगे। जो मिस्री उनके सामने हैं वे फिर कभी दिखलाई न देंगे। ईश्वर उनके पक्ष में है और उनके लिये वे युद्ध करेंगे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



यह घटना लाल सागर के किनारे घटित हुई थी। इसराइली समुद्र के तट पर थे। आगे जाने का कोई मार्ग न था। ईश्वर की आज्ञा से मूसा ने इसराइलियों को आगे बढ़नें की आज्ञा दी। उन्होंने अपनी छड़ी को समुद्र के ऊपर हिलाया और इसके कारण एक महान चमत्कार हुआ। समुद्र के बीच में एक मार्ग बन गया। दोनों तरफ पानी की दीवार खड़ी थी और बीच में पूरा मार्ग बना हुआ था। इसराइली लोग उस मार्ग से समुद्र पार कर गये। इतने ही में मिस्री सेना भी वहाँ आ पहुंची। उसने भी उसी मार्ग में प्रवेश किया। पर उनके रथ आदि के पहिए वहाँ दलदल में फँस गये, जिससे वे बड़ी कठिनाई से आगे बढ़ रहे थे। उनको यह अनुभव होने लगा कि यह इसराइल देवता का ही कार्य है, और इससे वे वहाँ से वापस लौटने की बात करने लगे। पर इतने ही में ईश्वर की आज्ञा से मूसा ने एक और चमत्कार दिखाया। उन्होंने अपनी छड़ी फिर घुमाई जिससे उस सूखे मार्ग में पानी फिर भरने लगा। मिस्रियों ने भागना शुरू कर दिया। पर तब तक पानी भर चुका था। इससे फराह के रथ, घोड़े और सब सेना समुद्र के गर्भ में समा गयी। एक व्यक्ति भी जीवित न बचा, इधर इसराइली सुखपूर्वक समुद्र पार कर चुके थे। ईश्वर ने मिस्रियों के हाथ से उनकी उस दिन रक्षा की और मिस्रियों को उन्होंने समुद्र के किनारे मरे हुए देखा। इस महान आश्चर्यजनक कार्य के कारण इसराइलियों को ईश्वर की शक्ति पर विश्वास हो गया। और उनके हृदय में भी ईश्वर के प्रति भय उत्पन्न हो गया। और साथ ही मूसा पर भी उनका विश्वास दृढ़ हो गया। इस अवसर पर इसराइली लोगों ने मूसा के साथ ईश्वर की स्तुति की।

इसके बाद मूसा इसराइलियों को लेकर आगे बढ़े। रास्ते में कहीं पानी के दर्शन न हुए। मूसा ने चमत्कार दिखाकर उनके लिए पानी भी सुलभ कर दिया। इस प्रकार मूसा अनेक प्रकार की कठिनाइयों को पार करते हुए इसराइलियों के साथ सिनाई पर्वत पर पहुंचे। यहां ईश्वर ने मूसा को दस आदेश दिये। यहूदियों को यहीं धार्मिक, नैतिक तथा समाजिक आदर्शों के पालन का उपदेश दिया गया। इसलिए सिनाई पर्वत का यहूदी धर्म में अत्यन्त महत्व है। यहां मूसा के माध्यम से यहूदी धर्म के ईश्वर (याहवे) ने यहूदियों को सब प्रकार की शिक्षायें दीं और उनका अक्षरशः पालन करने की आज्ञा दी। यहूदी जाति का ईश्वर से साक्षात् सम्पर्क स्थापित हुआ। अन्त में ईश्वर ने मूसा को इसराइलियों को लेकर केनान की तरफ बढ़ने की आज्ञा दी। यहूदियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



को अनेक प्रकार की और अत्यधिक विपत्तियों का मार्ग में सामना करना पड़ा। बाइबिल के अनुसार उनको केनान तक आने में ४० वर्ष लग गए। किन्तु मूसा को केनान के अन्दर प्रवेश करना बदा न था। उन्होंने यहूदियों का मिस्र से ईश्वर की सहायता से उद्धार किया। सब प्रकार के संकटों का सामना करते हुए वे केनान के पास तक उन्हें ले आये। पर उस भूमि का वे दूर से ही दर्शन कर पाये। उनका अन्तिम समय आ पहुंचा। उन्होंने इसराइलियों का नेतृत्व दूसरों को सुपुर्द किया और संसार से प्रस्थान कर गये। मूसा के संसार से विदा होने के बाद इसराइलियों ने केनान में प्रवेश किया। ऐसा कहा जाता है कि मिस्र से जितने युवक मूसा के साथ चले थे, उनमें से कोई भी केनान में प्रवेश न कर सका। ४० वर्षों तक निरन्तर भ्रमण करते हुए और अनेक प्रकार के संकटों का सामने करते हुए वे सब मर चुके थे। इसराइलियों की नई पीढ़ी ने ही जोशु के नेतृत्व में केनान में प्रवेश किया और वहाँ बसी।

सिनाई पर्वत पर यहूदियों के ईश्वर याह्वे ने मूसा को जो **दस आदेश** (टेन कमाण्डमेन्ट्स्) दिये वे निम्नलिखित हैं :—

१. मैं तुम लोगों का ईश्वर हूँ। मैंने तुम्हें मिस्र देश से गुलामी से मुक्त किया है।

२. मेरे सामने किसी अन्य देवता की उपासना मत करना। मूर्ति पूजा मत करना——मैं तुम्हारा स्वामी ईश्वर हूँ। मैं ईर्षालु हूं, और जो मुझसे नफरत करते हैं उनके दुष्कर्मों का बदला उनकी तीसरी और चौथी पीढ़ी से लेता हूँ। जो मुझसे प्रेम करते हैं और मेरे आदेशों का पालन करते है उनके प्रति मैं दयालु रहता हूं।

३. तुम लोग अपने स्वामी ईश्वर का नाम व्यर्थ में न लेना। जो लोग ईश्वर का नाम निरर्थक ही लेते हैं वह उनको निर्दोष नहीं मानता।

४. सैबथ दिवस[1] का स्मरण रखना, उसे पवित्र रखना। छः दिन तुम परिश्रम करना और सब कार्यों को करना। किन्तु सातवां दिन तुम्हारे ईश्वर का विश्राम दिवस है। इस दिन तुम कोई काम मत करना। तुम्हारे पुत्र-पुत्रियां, नौकर आदि भी कोई कार्य नहीं करेंगे। क्योंकि छः दिन में ईश्वर ने आकाश, पृथ्वी और समुद्र और जो भी उनके अन्दर है सबका निर्माण किया,

---

[1] यहूदी धर्म के अनुसार सप्ताह का अन्तिम दिन जो विश्राम दिवस के रूप में माना जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



और सातवें दिन विश्राम किया। इसी से ईश्वर ने इस विश्राम-दिवस को अपने आशीर्वाद से पवित्र बनाया है।

५. अपने पिता माता का आदर करो जिससे कि उस भूमि में दीर्घ जीवन प्राप्त कर सको, जिसे ईश्वर ने तुमको दिया है।

६. हिंसा मत करो।

७. व्यभिचार मत करो।

८. चोरी न करो।

९. अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही न दो।

१०. अपने पड़ोसी के घर के प्रति लालच मत करो। उसकी स्त्री के प्रति, उसके नौकर, नौकरानी, बैल, गदहे और उसकी किसी भी प्रकार की सम्पत्ति के प्रति लालच मत करो।

———

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# जरथुस्त्र

## (१००० ई० पू०)

जरथुस्त्र पारसी धर्म के महान् प्रवर्तक थे। पारसी धर्म अत्यन्त प्राचीन है। यह जरथुस्त्र के बहुत समय पूर्व से ही ईरान में प्रचलित धर्म माना जाता था। पर जरथुस्त्र के आविर्भाव ने इसे निश्चित रूप से एक पूर्णतया नवीन रूप दिया। जरथुस्त्र ने प्राचीन पारसी धर्म को न केवल ठोस दार्शनिक आधार दिया, बल्कि उसे उच्च नैतिक और व्यवहारिक स्वरूप भी प्रदान किया। गोकि ये पारसी धर्म के मूल संस्थापक नहीं माने गये हैं, किन्तु इन्होंने पारसी धर्म को जो नया स्वरूप प्रदान किया इस कारण, इनका नाम उस धर्म से अविभाज्य रूप से जुड़ चुका है। पारसी धर्म और जरथुस्त्र धर्म पर्यायवाची बन गये हैं।

पारसी धर्म की प्राचीन कथाओं में जरथुस्त्र के जन्म के विषय में तथा उनके जन्म के पूर्व की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन किया गया है। पारसी धर्म में न केवल एक जरथुस्त्र की, बल्कि अनेक जरथुस्त्रों की कल्पना की गई हैं। जिस प्रकार बौद्ध धर्म में अनेक बुद्धों की कल्पना की गई है, उसी प्रकार वहाँ अनेक जरथुस्त्रों की कल्पना है। जरथुस्त्र बचपन से ही बड़े शक्तिशाली थे। इन्होंने बचपन से ही अनेक चमत्कारपूर्ण कार्य किये। भयानक सर्पों से तथा शैतान के प्रतिनिधि अनेक जीवों से घोर युद्ध किया। इनके आधिदैवी कार्यों का वर्णन भगवान् कृष्ण की बचपन की लीलाओं से मिलता है। यह भी कहा जाता है कि नवजात शिशुओं की तरह जन्म के समय यह रोये नहीं, बल्कि अट्टहास किया। कहा जाता है कि सात वर्ष तक यह बिल्कुल मौन रहे। बीस वर्ष तक इन्होंने फकीरी का जीवन व्यतीत किया। सतहत्तर वर्ष की अवस्था में एक आक्रमणकारी सेना द्वारा यह मारे गये।

इनके आविर्भाव काल के विषय में कोई निश्चय नहीं है। पारसी सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार इनका काल ६००० ई० पू० का है। प्राचीन ग्रीक विद्वान भी इस मत से सहमत थे, किन्तु आधुनिक विद्वान उनका आविर्भाव काल इतना प्राचीन नहीं मानते। उनके मत के अनुसार इनका काल लगभग १००० ई० पू० का है। प्राचीन काल में एक यह भी विश्वास प्रचलित था कि जरथुस्त्र के आध्यात्मिक शरीर का निर्माण ६००० ई० पू० हो चुका था। कुछ आधुनिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



विद्वान् इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्भवतः इसी विश्वास के कारण प्राचीन ग्रीक लोगों ने इनको ईसा के ६००० वर्ष पूर्व का मान लिया होगा।

जरथुस्त्र के विषय में यह भी कहना कठिन है कि वे ईरान के किस स्थान के मूल निवासी थे। किन्तु विद्वानों का प्रायः यह अनुमान है कि ये उत्तर पूर्व अथवा उत्तर पश्चिम ईरान के निवासी थे। प्राचीन अरब विद्वानों के अनुसार वे अजरबैजान के निवासी थे। इनके जीवन के विषय में कोई विशेष वात मालूम नहीं है। पारसी धर्म-ग्रन्थों में इनके पिता पौरूशस्प और इनके वंश स्पितमा का उल्लेख मिलता है। इनकी स्त्री का भी उल्लेख है। वह एक राज परिवार की थीं। इससे अनुमान किया जाता है कि जरथुस्त्र भी किसी राज परिवार से सम्बद्ध थे।

## अहुरमजदा से साक्षात्कार

इनके विषय में कहा जाता है जब यह तीस वर्ष के थे, तब इन्होंने दैती नदी को पार किया। उसके दूरवर्ती किनारे पर इनकी एक प्रधान देवदूत से भेंट हुई। उसका नाम वोहुमनह (शुभ-संकल्प) था। उसने जरथुस्त्र से पूछा कि वह कौन है, कहाँ से आता है। उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य क्या है। उसने देवदूत से कहा कि वह जरथुस्त्र है, स्पितमा वंश का है। सत्यता उसके जीवन की कामना है और उसका उद्देश्य देवताओं की इच्छा जानना है, जिससे वह जीवन में उनके द्वारा दिखाये हुए सत्य मार्ग पर चल सके। इस प्रकार का उत्तर पाने पर वोहुमनह उसे प्रधान देवदूतों के मण्डल में ले गया। वह जब उनके समीप पहुँचा तो उनके असीम तेज के कारण उसे जमीन में अपनी छाया भी नहीं दिखाई दी। जरथुस्त्र ने वहाँ अहुर मजदा (पारसी-धर्म के परमेश्वर) का जयकार किया और उन देवदूतों के बीच में जाकर बैठ गये। तब अहुर मजदा ने उन्हें दर्शन दिये और शुद्ध धर्म के सिद्धान्तों का उपदेश दिया। इस प्रकार जरथुस्त्र अध्यात्म मार्ग पर बढ़ते गए। उनकी आध्यात्मिक चेतना का अधिकाधिक विकास होता गया। इसके बाद दस वर्षों तक इन्हें अन्य आध्यात्मिक रहस्यों का साक्षात्कार हुआ। दस वर्षों के बाद इन्होंने सबसे पहले अपने चचेरे भाई को अपने मत में दीक्षित किया।

इस प्रकार जरथुस्त्र ने अपने धर्म का उपदेश तथा प्रचार प्रारम्भ किया। थोड़े ही समय के अन्दर इन्हें एक महान् सफलता प्राप्त हुई, यह थी राजा विष्टस्प का इनके धर्म को स्वीकार करना। कहा जाता है कि अहुर मजदा के आदेश से जरथुस्त्र अकेले ही राजा विष्टस्प के महल में गये और राजा से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



मिलने पर उससे अहुर मजदा का धर्म स्वीकार करने के लिए कहा। पर राजा इनके मत को स्वीकार करे, इसके पूर्व इन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। आसुरी भावनाओं तथा शक्तियों से इन्हें घोर संघर्ष करना पड़ा। राजदरबार के प्रसिद्ध विद्वानों से भी इनका शास्त्रार्थ हुआ। अन्त में जरथुस्त्र को विजय प्राप्त हुई। राजा ने इनके धर्म को स्वीकार कर लिया। इस समय से जरथुस्त्र के धर्म का व्यापक प्रसार आरम्भ हुआ। ईरानी साम्राज्य भर में इनके धर्म का प्रसार हुआ। दिनकर्ड में इस बात का उल्लेख है कि यदि राजा विष्टस्प और उस काल की प्रजा जरथुस्त्र का धर्म स्वीकार न करती तो आगे उसका विकास न हो पाता।

मुस्लिम इतिहासकार अलबेरूनी के अनुसार राजा विष्टस्प के प्रतापी पुत्र इसफेनदाद ने शक्ति, बल तथा सन्धियों द्वारा पूर्व से पश्चिम तक इस धर्म का और अधिक प्रसार किया। उसका साम्राज्य चीन की सीमा से लेकर ग्रीक साम्राज्य की सीमा तक फैला हुआ था। उसने साम्राज्य भर में अग्नि देवता के मन्दिर बनवाये। उसके बाद के राजाओं ने तो जरथुस्त्र के धर्म को ईरान एवं ईराक के लिये आवश्यक रूप से राज धर्म स्वीकार किया।

फिरदौसी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ शाहनामा में इसका विस्तृत वर्णन किया है कि किस प्रकार इसफेनदाद ने आक्रमणकारी तूरानियों से घोर युद्ध करके जरथुस्त्र के धर्म का प्रसार किया। इसफेनदाद ने अनेक बार धर्म-युद्ध किये। शाहनामा के अनुसार तूरानियों ने बलख पर आक्रमण किया और अग्नि देव के मन्दिर को भी नष्ट कर दिया। इसी आक्रमण में जरथुस्त्र भी मारे गये।

पारसी धर्म का धर्म-ग्रन्थ **जेन्दअवेस्ता** कहलाता है। हिन्दूधर्म में **वेद** का जो स्थान है, वही पारसी धर्म में **अवेस्ता** का है। यह प्राचीन ईरानी भाषा में लिखा हुआ है। इसे अवेस्ता भाषा कहते हैं। अवेस्तन भाषा संस्कृत से बहुत मिलती है। **अवेस्ता** अथवा **जेन्द अवेस्ता** में, विशेष रूप से उसके अन्तर्गत ग्रन्थ-गाथाओं में, जरथुस्त्र के मत का प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार जरथुस्त्र की मूल शिक्षाओं को जानने के लिए गाथाओं पर ही निर्भर होना पड़ता है।

## दो प्रकार की विचार धाराएँ-नैतिक एकदेववाद और द्वैतवाद

जरथुस्त्र के धर्म में दो प्रकार की विचार धाराएँ साथ-साथ विकसित होती हैं। इनमें से एक है नैतिक एकदेववाद और दूसरी है द्वैतवाद। अहुरमजदा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



इनके धर्म के ईश्वर हैं। ये सबके शासक हैं। ये सर्वज्ञ हैं तथा विश्व के रचियता और पालनकर्त्ता हैं। किन्तु ये विश्व के शुभतत्वों के ही रचने और पालन करने वाले हैं। अहुरमजदा के अतिरिक्त जरथुस्त्र का धर्मग्रन्थ दैवी शक्तियों अथवा देवों पर भी विश्वास करता है। ये अहुरमजदा की सन्तति कहे जाते हैं। अहुरमजदा इनके उत्पन्न करने वाले भी कहे जाते हैं। इन देवात्माओं में ६: प्रधान हैं और इन्हें **अमेशस्पेन्टस** (अमर कल्याणकारी देवात्माएँ) कहा जाता है। ये नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों की मूर्तिमान प्रतीक हैं। ये हैं—(१) वोहुमनह (शुभ संकल्प) (२) अशवहिस्त (सदाचार), (४) सशत्रवैर्य (इच्छित राज्य), (४) स्पेन्ता अरमैती (पवित्रता) (५) हौरवतत् (कल्याण) (६) अमेरतत् (अमृतत्व)। इनके अतिरिक्त एक सातवीं शक्ति भी मानी गई है, जिसे स्पेन्टामैन्यू (पवित्र आत्मा) कहा गया है। इसका अहुरमजदा में ही निवास रहता है, उनसे यह पृथक् नहीं है।

इन दैवी शक्तियों के अतिरिक्त जरथुस्त्र धर्म में आसुरी शक्तियों का भी बड़ा महत्व है। यह धर्म विश्व को दो भागों में विभाजित करता है। एक भाग वह है जहाँ सत्यता, पवित्रता और सदाचार का निवास है। यह भाग अहुरमजदा और उनके अन्तर्गत देवात्माओं द्वारा शासित तथा परिचालित होता है। दूसरा वह है जहां अशुभ का निवास है। यह हर प्रकार के अशुभ तत्वों द्वारा शासित तथा परिचालित होता है। विश्व के इन दो परस्पर विरोधी भागों को हम धर्म राज्य और अधर्म राज्य कह सकते हैं। अधर्म राज्य को द्रुज (अधर्म, मिथ्यात्व, अशुभ) कहते हैं। अधर्म राज्य में कई आसुरी तत्वों की कल्पना की गई है। इनमें से कुछ ये हैं—महामारी, मृत्यु, दम्भ, अन्याय आदि के आसुरी रूप। विभिन्न आसुरी आत्माओं के रूप में इनकी कल्पना की गई है। जिस प्रकार हिन्दू धर्म में विद्या, बुद्धि, धन, शक्ति आदि दैवी गुणों के प्रतिनिधि सरस्वती, गणेश, लक्ष्मी, दुर्गा आदि माने गये हैं, उसी प्रकार जरथुस्त्र धर्म में दैवी तत्वों की कल्पना की गई है। उनके विरुद्ध असुरों की भी कल्पना की गई है।

जरथुस्त्र धर्म के जो दो प्रधान तत्व हैं, वह हैं अहुर मजदा और अह्लिमान। अह्लिमान ईश्वर अथवा अहुरमजदा का विरोधी है। यह अशुभ एवं अन्धकार का मूर्तिमान प्रतीक है और असुरों का अधिपति है।[1] जेन्दावेस्ता में इसका

---

[1] यह ध्यान देने योग्य बात है कि वैदिक धर्म में असुर शब्द का प्रयोग बुराई का द्योतक है। किन्तु पारसी धर्म में इसका प्रयोग दैवी शक्तियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अंग्रमैन्यू के नाम से उल्लेख हुआ है। जिस प्रकार दैवी और आसुरी तत्वों का विरोध है, उसी प्रकार संसार में भी दो प्रकार के जीव हैं, जो धर्म और अधर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। जेन्द अवेस्ता में उल्लेख है कि अहुरमजदा ने जितनी भी चीजें उत्पन्न की उनकी विरोधी वस्तुएं अह्रिमान ने उत्पन्न की।

दैवी तथा आसुरी तत्वों का विरोध केवल देवताओं, असुरों तथा मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है। वह पशुओं और जड़ जगत् में भी पाया जाता है। उदाहरण के लिए गाय अहुरमजदा द्वारा उत्पन्न की गई है। धातुओं को अहुरमजदा द्वारा रची हुई बताया गया है। उसी प्रकार मोर्चा, जो धातुओं को नष्ट करता है, अह्रिमान का उत्पन्न किया हुआ कहा जाता है।

इस प्रकार जरथुस्त्र के धर्म में सम्पूर्ण विश्व परस्पर विरोधी तत्वों में विभाजित है। इन परस्पर विरोधी तत्वों का सदा संघर्ष चलता रहता है। धर्म और अधर्म का प्रतिनिधित्व करने वाले दोनों पक्ष प्रति क्षण एक दूसरे को दवाने का प्रयत्न करते रहते हैं। इस चिरन्तन तथा सर्वव्यापी देवासुर संग्राम में मनुष्य के ऊपर एक भारी जिम्मेदारी है। वह इस विश्व संग्राम का केवल एक मूक द्रष्टा नहीं है, जिसमें छोटी शक्तियों से लेकर बड़ी शक्तियाँ और ईश्वर तक, संलग्न हैं; वह धर्म पक्ष का एक बहुत बड़ा सैनिक है और उसके ऊपर अत्यधिक नैतिक जिम्मेदारी है। उसके प्रत्येक विचार, प्रत्येक शब्द तथा प्रत्येक कार्य का नैतिक महत्त्व होता है। उसके प्रत्येक शुभ संकल्प, सत्यवादिता तथा नैतिक कार्य अहुरमजदा की अथवा धर्मपक्ष की विजय में सहायक होते हैं। दूसरी ओर अशुभ विचार, मिथ्याभाषण और अनैतिक कार्य अह्रिमान अथवा अधर्म पक्ष को और अधिक प्रबल बनाने में सहायक होते हैं। इस प्रकार मनुष्य का नैतिक और धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व है।

जरथुस्त्र का धर्म मनुष्य-जीवन को अत्यन्त व्यापक दृष्टि से देखता है। वह उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक चेतना के विकास पर अत्यधिक जोर देता है। उसकी दृष्टि में मनुष्य का जीवन केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं बना है। उसके जीवन का उद्देश्य समाज और देश के लिए महत्वपूर्ण कार्य करने से भी पूर्ण नहीं माना जाता। उसके ऊपर इससे भी बड़ी जिम्मेदारी है। उसका अन्तिम तथा मुख्य उद्देश्य विश्व में ईश्वरीय राज्य अथवा

---

के लिए होता है। वेद का "स" अवेस्ता का "ह" हो जाता है। प्रस्तुत लेख में देव और असुर का प्रयोग साधारण वैदिक अर्थ में ही किया गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



धर्मराज्य स्थापित करना है। अनैतिकता, अधार्मिकता, सामाजिक तथा राजनीतिक अव्यवस्था आदि दूर करके उसे विश्व में नैतिक तथा धार्मिक व्यवस्था स्थापित करनी है।

हिन्दू धर्म की तरह जरथुस्त्र के धर्म में भी अधर्म को अत्यधिक निन्दनीय समझा गया है। हिन्दू धर्म में विश्वव्यवस्था को धर्म तथा नैतिकता पर आधारित करने पर इतना अधिक जोर दिया है कि अधर्म को समाप्त करने के लिए स्वयं भगवान् को पृथ्वी पर अवतार लेना पड़ता है। जरथुस्त्र के धर्म में भी अन्त में अधर्म पर पूर्ण विजय प्राप्त करने का विश्वास है। अहुरमजदा अथवा धर्म का अह्रिमान तथा अधर्म पर पूर्ण विजय प्राप्त करना निश्चित है। इसमें केवल समय की अपेक्षा है। इस प्रकार गोकि जरथुस्त्र का मत द्वैतवाद को अत्यधिक प्रश्रय देता है, किन्तु अन्तिम रूप से वह अहुरमजदा की सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शुद्ध एवं शुभ सत्ता पर केन्द्रित हो जाता है। जरथुस्त्र अधर्म की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हैं, अव्यवस्था तथा अशान्ति उत्पन्न करने में उसकी असीम शक्ति का अनुभव करते हैं। पर अन्तिम रूप से अथवा पारमार्थिक रूप से उसको महत्व नहीं देते। अन्तिम रूप में अहुरमजदा की ही सत्ता पर वह अपने विश्वास को केन्द्रित करते हैं। ईश्वर एक है, वह सर्वज्ञ है तथा नैतिक दृष्टि से पूर्ण है। उसमें असत्य, अपूर्णता, अधर्म तथा किसी भी प्रकार के अनैतिक तत्व का योग संभव नहीं है। अपने भक्तों से वह किसी भौतिक वस्तु की अपेक्षा नहीं करता। वह उनके हृदय की भक्ति की अपेक्षा करता है। वह विश्व में आसुरी शक्तियों को पराभूत करने तथा दैवी शक्तियों को प्रवल करने में सतत् प्रयत्न शील रहता है; और अन्त में उसकी अधर्म पर पूर्ण विजय निश्चित है। इस प्रकार जरथुस्त्र का धर्म अन्त में कठोर द्वैतवाद से ऊपर उठकर एकदेववाद के नैतिक स्वरूप की प्रतिष्ठा स्वीकार करता है। इस प्रकार इस धर्म में द्वैतवाद और नैतिक एकदेववाद-ये दोनों ही विचारधारायें साथ-साथ चलती है।

जरथुस्त्र के धर्म में मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष्य पर भी विचार किया गया है। उसके अनुसार धार्मिक व्यक्तियों को मरने के वाद आनन्दमय स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है और अधर्म करने वालों को रौरवनरक में निवास करना पड़ता है। इस विषय में दो तीन मतों का उल्लेख आवश्यक है। एक मत यह है कि मरने के वाद जीव को एक ऐसा पुल पार करके जाना पड़ता है, जो अधार्मिक जीवों के लिए तलवार की धार के समान तीखा और संकरा हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



जाता है, और धार्मिक जीवों के लिए चौड़ा तथा प्रशस्त मार्ग बन जाता है। इस कारण अह्रिमान अथवा अधर्म के पक्ष के जीव जब मरने के बाद उस पुल को पार करने लगते हैं तो वह पुल की तेज धार के कारण कटकर दो भागों में विभाजित हो जाते हैं और सदा के लिए पुल के दोनों तरफ अधंकार के रौरव नरक में चले जाते हैं। दूसरा मत यह है कि धार्मिक तथा अधार्मिक आत्माएं, दोनों ही पुल को पार कर लेती हैं। पर उस पार जाने पर धार्मिक आत्मा का अपने पुण्य-बल से एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री से मिलन हो जाता है जो सदा उसके साथ रहती है। किन्तु अधार्मिक आत्मा इस प्रकार की सुन्दर स्त्री प्राप्त करने से वंचित रह जाती है, और उसे जीवन संगिनी के रूप में एक छली तथा मायाविनी स्त्री मिलती है। एक तीसरा मत यह है कि अन्त में विश्व में एक प्रलय सा होगा। इसमें एक जलती हुई धातु की नदी पृथ्वी पर बहेगी। इसमें अह्रिमान अथवा अधर्म के पालन करनेवाले जलकर भस्म हो जायेंगे और अहुरमजदा अथवा धर्म के पक्ष वालों के लिए, यह शहद मिश्रित दूध की नदी के समान प्रतीत होगी। इस धर्म में मृत्यु के उपरांत धर्म तथा अधर्म के पथ पर चलनेवाले की क्या गति होगी इसका उसके कर्मानुसार शुभ तथा अशुभ की प्राप्ति के विषय में विशद विचार हुआ है।

पारसी धर्म-ग्रन्थों में कुछ ऐसे नैतिक गुणों का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है, जो धर्म और अधर्म पक्ष के सार्वभौम तथा निरन्तर चलनेवाले युद्ध में धर्म पक्ष को प्रबल बनाने में सहायक होते हैं। उनमें एक प्रमुख गुण है सरलता। इस गुण के कारण व्यक्ति छल-कपट से दूर रहता है और उसके व्यक्तित्व का समुचित रूप से विकास सम्भव होता है। सरलता को अन्य धर्म भी बहुत महत्व देते हैं। हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म में भी स्वभाव तथा व्यवहार की सरलता पर पर्याप्त जोर दिया गया है। हिन्दू धर्म के अनुसार स्वभाव की सरलता तथा निष्कपटता प्राप्त किए बिना आत्मज्ञान सम्भव नहीं है। ईसाई धर्म के अनुसार भी सरल हृदयवाले मनुष्य ही ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्यों का स्वभाव छोटे बच्चों की तरह सरल तथा विकारहीन होना चाहिये, इस भावना पर सभी धर्मों तथा नीति शास्त्रियों ने जोर दिया है। सरलता के अभाव में व्यक्ति अहंकार से ग्रस्त हो जाता है और अहंकार की स्थिति में वह न अपने प्रति न दूसरों के प्रति ही उचित व्यवहार कर पाता है। उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है। वह मानसिक सन्तुलन अथवा शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता। इसलिए नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए सरलता का विकास आवश्यक है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


दूसरा महत्वपूर्ण सद्गुण है विवेक। विचार, वचन तथा कार्यों में विवेक से काम लेना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। बालकों में सरलता होती है पर विवेक का अभाव होता है; अच्छे बुरे का उन्हें वोध नहीं होता। पर आध्यात्मिक तथा नैतिक उत्कर्ष के अभिलाषी व्यक्ति के लिए विवेकी होना आवश्यक है। जरथुस्त्र के अनुसार विश्वव्यापी धर्म तथा अधर्म के युद्ध के लिए मनुष्य के प्रत्येक विचार, वचन तथा कार्य का अपना एक विशेष महत्व होता है। इस विषय में मनुष्य को सदा सजग तथा जागरूक रहना चाहिए। एक क्षण के लिए भी यदि वह विवेक-शून्य हुआ तो परिणाम भयावह हो सकता है। वह न केवल स्वयं नैतिकता के आदर्श से गिर जाएगा, बल्कि उसके कारण अहुरमजदा अथवा धर्म के पक्ष को भी हानि पहुंचेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जरथुस्त्र ने व्यक्ति के नैतिक कार्य अथवा विचार को सार्वभौम रूप देने का प्रयत्न किया है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति के नैतिक कार्यों का केवल उसी के व्यक्तिगत नैतिक अथवा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए महत्व नहीं होता, बल्कि उसका सार्वजनीन महत्व होता है। यदि व्यक्ति समष्टि पर निर्भर करता है तो समष्टि भी व्यक्ति पर किसी न किसी रूप में निर्भर है। दैवी तथा आसुरी शक्तियां दोनों ही मनुष्य की सहायता की अपेक्षा रखती हैं। मनुष्य अन्तिम रूप से धर्म का ही आश्रय लेगा और उसी के अनुसार आचरण करेगा, यह जरथुस्त्र का अडिग विश्वास है। इस महान् धर्म प्रवर्तक के अनुसार मनुष्य का अनन्त विश्व के रंगमंच पर एक महत्वपूर्ण स्थान है। वह विश्व का एक कण होते हुए भी विश्व के शाश्वत अभिनय का एक श्रेष्ठ अभिनेता है। इस महान् तथा असाधारण घटनापूर्ण अभिनय को सफल बनाने का दायित्व उस पर भी है, यह उसे नहीं भूलना है।

जरथुस्त्र ने एक अन्य महत्वपूर्ण स्थिति की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु उसके अन्दर ही रहता है। यह महान् सत्य है। वही उसकी प्रगति का बाधक है। इस शत्रु पर विजय प्राप्त करने का एक सर्वोत्तम उपाय है—सचाई के मार्ग से विचलित न होना और अपने कर्त्तव्य का समुचित रूप से पालन करना। कर्त्तव्य-पालन का अभ्यास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य को सफलता प्रदान करता है। इससे न केवल मनुष्य भौतिक दृष्टि से सफल होता है बल्कि उसका नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास भी होता है। मनुष्य के अन्दर अनेक दुर्बल भावनाएँ कार्य करती रहती हैं। काम क्रोध, मोह, प्रमाद, आलस्य आदि अनेक भावनाएं ऐसी हैं जो उसे सदा कर्त्तव्य

२

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



पथ से विचलित करती-रहती हैं। यदि मनुष्य इन भावनाओं को अपने अन्दर पालता है और उनके अनुसार कार्य करता है तो धीरे-धीरे उसकी इच्छा-शक्ति दुर्बल होती जाती है। इसके फलस्वरूप वह अपने कर्त्तव्य का समुचित रूप से निर्वाह नहीं कर पाता। यह स्थिति मनुष्य के आन्तरिक पतन की द्योतक है। अपने ऊपर विजय प्राप्त करने के वजाय वह अपनी निम्न प्रवृत्तियों का शिकार हो जाता है। इसीलिए, जरथुस्त्र कर्त्तव्य-पालन को अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। सभी धर्मों में कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा दी गई है। जीवन के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को विश्व के सभी धर्मों ने स्वीकार किया है। सत्य, सदाचार, कर्त्तव्य-पालन आदि ये जितने गुण हैं, वह सभी को स्वीकार हैं।

इन नैतिक आदर्शों के पालन करने के साथ-साथ जरथुस्त्र ने अहुरमजदा के प्रति भक्ति तथा अपने धर्म के प्रति दृढ़ता रखने की विशेष रूप से शिक्षा दी है। मनुष्य अहुरमजदा पर आश्रित है। उसका जीवन, उसकी सुख-समृद्धि तथा उसकी सफलता सभी अहुरमजदा की कृपा पर निर्भर करते हैं। जिस प्रकार ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं के प्रति स्तुतियां की गई हैं, उसी प्रकार अहुरमजदा की भी स्तुति अवेस्ता में की गई हैं। मनुष्य अपने लिए उनसे सभी प्रकार के ऐश्वर्य की तथा अपनी सन्तानों और अपने पशुओं के लिए, समृद्धि और सुरक्षा की प्रार्थना करता है। युद्ध में शत्रु पर विजय प्राप्त करने में सहायता की कामना करता है और धर्म पथ पर चलने के लिए उनकी कृपा का अभिलाषी है। अपने किये हुए बुरे कर्मों के लिए पश्चाताप करता है तथा उनसे क्षमा करने की प्रार्थना करता है। इस प्रकार अहुरमजदा के प्रति अटूट विश्वास. भक्तिपूर्ण भावना तथा धार्मिक जीवन पालन करने का जरथुस्त्र का उपदेश है। ऐसा व्यक्ति अन्त में दिव्य लोक में अमर जीवन प्राप्त करने का अधिकारी होता है। जरथुस्त्र आत्मा का विनाश नहीं मानते। वह अविनाशी है। मृत्यु शरीर को नष्ट करती है, आत्मा को नहीं। पर बुरे कर्म को करने वाले व्यक्ति एक प्रकार से आत्म विनाश को प्राप्त करते हैं, क्योंकि उन्हें मृत्यु के बाद सदा के लिए निविड़ अधंकार से पूर्ण नरक में निवास करना पड़ता है। भारतीय धर्मों की तरह जरथुस्त्र पुनर्जन्म को नहीं मानते। मनुष्य को इसी जीवन में सदा के लिए अपने भविष्य को निश्चित कर लेना है। उसे धर्म और अधर्म के मार्गों में से एक को निश्चित रूप से चुन लेता है। धर्म मार्ग को अपनाने से ही उसका परम कल्याण संभव है। इस प्रकार मनुष्य पर जरथुस्त्र ने वहुत वड़ी जिम्मेदारी रख दी है, क्योंकि इसी जीवन के कर्म पर उसका अनन्तकाल तक का भविष्य निर्भर करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



जरथुस्त्र के अनुयायियों के लिए निम्नलिखित दस आदेशों का पालन करना आवश्यक माना गया है :—

१ प्रत्येक व्यक्ति को अपना सुयश स्थापित करने का यत्न करना चाहिए जिससे उसके माता-पिता, गुरू, संरक्षक आदि को भी यश प्राप्त हो सके।

२ कुयश से बचने का सदा प्रयत्न करता रहे, जिससे उसके संरक्षकों की भी बदनामी न हो।

३ अपने शिक्षक का निरादर न करे और शिक्षक के मुंह से जो स्वयं उसने न सुना हो उसे उसके नाम पर कहकर कलंकित न करे।

४ अपने शिक्षक से जो भी विद्या प्राप्त हुई हो उसे योग्य शिष्य को प्रदान करे।

५ धर्म के अनुसार अच्छे कर्म करने वालों को पुरस्कार तथा बुरे कर्म करने वालों को दण्ड देना चाहिए।

६ सज्जनों का घर में सदा सत्कार होना चाहिए, जिससे धर्म का घर में निवास हो।

७ पाप का प्रायश्चित, अवश्य करना चाहिए और उसे अपने धार्मिक जीवन में कहीं भी स्थान नहीं देना चाहिए।

८ अपने अंदर छिपे हुए शैतान को दूर करने के लिए अपने हृदय से सब प्रकार की अशुभ भावनाओं को दूर कर देना चाहिए।

९ अपने धर्म का विकास करने नें सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए और विपत्ति के दिनों में जब धर्म का ह्रास होने लगता है तो धर्म की फिर से जीवन में प्रतिष्ठा करनी चाहिए। अपने समस्त जीवन को उसमें लगा देना चाहिए।

१० राजा और धर्मगुरुओं के अनुशासन को श्रद्धा से मानना चाहिए।

## जरथुस्त्र की शिक्षायें

अपने संबंध और जाति की ऊँचाई का तुम्हें घमण्ड नहीं करना चाहिए, क्योंकि अन्त में तुम्हारे कर्मों पर ही तुम्हारा भविष्य निर्भर करता है।

लालच तथा लोभ को अपने अन्दर मत आने दो। लोभी मनुष्य संसारिक सुख और आध्यात्मिक वैभव प्राप्त नहीं कर पाता।

तुम्हें परिश्रमी और संयमी होना चाहिए और अपने परिश्रम से प्राप्त धन का ही उपयोग करना चाहिए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



पूर्णता की पहली भूमि है, शुभ विचार, दूसरी है अच्छे वचन तथा तीसरी है अच्छे कर्म।

पवित्रता सब अच्छाइयों से बढ़कर है। वस्तुतः वही आदमी सुखी है, जिनके अन्दर पूर्ण पवित्रता का निवास है। ईश्वर की इच्छा ही पवित्रता का महान नियम है। सब प्रकार के नैतिक तथा धार्मिक वैभव उसे प्राप्त होंगे जो ईश्वर के लिए संसार में कार्य करता है और उसकी दी हुई शक्ति का गरीब् मनुष्यों के उद्धार में उपयोग करता है।

संसार में अहुरमजदा के प्रति जो प्रेम करना चाहता है, उसे सदाचारी मनुष्य से प्रेम करना चाहिए। सदाचारी मनुष्य अहुरमजदा का ही दूसरा रूप है।

वही मनुष्य अच्छा है, जो दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार नहीं करता, जो अपने प्रति किया जाना उचित नहीं समझता।

अनुशासन की अनुशासन हीनता पर विजय हो। शान्ति की अशान्ति पर विजय हो। उदारता का संकीर्णता पर, श्रद्धा का अश्रद्धा पर, सत्य का असत्य पर आधिपत्य हो। धर्म के शाश्वत नियम का अधर्म पर पूर्ण रूप से शासन हो।

सब प्रकार के अच्छे विचार, अच्छे वचन और अच्छे कर्म स्वर्ग में पहुंचाने वाले हैं। बुरे विचार, बुरे वचन और बुरे कर्म नरक में पहुंचाते हैं। अच्छे विचार, अच्छे वचन और अच्छे कर्म धार्मिक मनुष्य के चिन्ह हैं, जो उसे स्वर्ग ले जाते हैं।

प्रत्येक अच्छे कार्य जो आज कर सकते हो उसे कल के लिए मत स्थगित करो। तुम्हारी अन्तरआत्मा जो कहती है उसका पालन करो।

सचाई पर आधारित गरीबी दूसरों की लूटपर आधारित अमीरी से अच्छी है।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति पवित्र हो सकता है; केवल उसे अपने विचारों को, वाणी को तथा कर्मों को शुद्ध करना है।

जरथुस्त्र के धर्म के चार महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं—योग्य व्यक्तियों के प्रति उदारता का व्यवहार करो, न्याय करो, सबके प्रति मैत्री भाव रक्खो, सचाई और सत्यता को अपनाओ और पाखंड को अपने से एकदम दूर रक्खो।

जिसने अपनी आत्मा को नहीं पाया, उसे कुछ नहीं मिला।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



जो उधार ली हुई वस्तु को वापस नहीं करता, वह चोरी करता है; मनुष्य को लूटता है।

एक सत्यवादी मनुष्य संसार भर के झूठ बोलनेवालों से अच्छा है।

संसार के सब प्रकार के धनों में ज्ञान-धन सबसे बढ़कर है।

संसार के सुखों को प्राप्त कर तुम्हें प्रमत्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि संसार के सुख वर्षा के बादलों के समान होते हैं। बहुत धन और ऐश्वर्य पाकर भी प्रसन्न नहीं होना चाहिए; क्योंकि अन्त में तुम्हें सब कुछ छोड़कर जाना होगा।

अपने शत्रु से न्याय के साथ युद्ध करो। मित्र के साथ मैत्री का व्यवहार करो। द्वेषी मनुष्य के साथ किसी प्रकार के झगड़े में न पड़ो। लोभी मनुष्य के साथ साझेदारी न करो और उसके नेतृत्व में विश्वास न करो। निंदा करनेवाले मनुष्य के साथ राजा के यहां न जाओ। बदनाम आदमी से सम्बन्ध न रक्खो। मूर्ख व्यक्ति को अपना विश्वास पात्र और मित्र मत बनाओ। उसके साथ झगड़ा भी न करो। नशे में मस्त व्यक्ति के साथ रास्ते में न चलो। दुष्ट स्वभाववाले आदमी से कर्ज न लो।

उन व्यक्तियों को धनी समझो जो ज्ञान से पूर्ण हैं, जो शरीर से स्वस्थ हैं और जो निर्भय होकर रहते हैं, जो संतोषी हैं, जिनका भाग्य धर्म पर चलने में सहायक है, जो सज्जन तथा पवित्र आत्माओं से अपने सदाचार के लिए प्रशंसा प्राप्त करते हैं, जो अहुरमजदा के शुद्ध और श्रेष्ठ पद में विश्वास रखते हैं, जो सच्चाई से सम्पन्न हैं।

सभी स्त्री पुरूषों को अच्छे कर्म करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि वह मोक्ष प्रदान करने वाले होते हैं। बैल, घोड़े, सोना, चांदी आदि नष्ट होकर धूल में मिल जाते हैं। बलवान मनुष्य नष्ट हो जाते हैं। सभी एक दिन मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यदि कोई ऐसी वस्तु है जिसका नाश नहीं होता तो वह है धर्म-साधन और अच्छे लोगों के प्रति किया हुआ उपकार। अच्छे व्यक्तियों की सहायता करनेवालों को दिव्य जीवन प्राप्त होता है। बुरे मनुष्यों की सहायता करना धर्म का अपमान करना है।

उदारता, सत्य, कृतज्ञता, संतोष, करूणा और मैत्री-ये दिव्य जीवन प्राप्त करने के श्रेष्ठ साधन हैं।

---

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# तीर्थंकर महावीर

## ( ५९९–५२७ ई० पू० )

### जन्म और बचपन

ईसासे पांचसौ निन्यानवे वर्ष पूर्व तीर्थंकर महावीर का जन्म भारतवर्ष के विदेह प्रदेश (विहार प्रान्त) के 'कुण्डपुर' नगर में हुआ था। 'कुण्डपुर' विदेह की राजधानी वैशाली के निकट बसा हुआ था और एक प्रगतशील एवं स्वतंत्र गणतन्त्र के रूप में प्रसिद्ध था। उसके शासक सिद्धार्थ नरेश थे, जो लिच्छवि ज्ञातृ-वंशी थे और बड़े न्यायशील तथा प्रजा-प्रेमी थे। इनका शासन अहिंसा और गणतन्त्र (प्रजातन्त्र) के सिद्धान्तों के आधार पर चलता था। ये उस समय के नौ लिच्छवि (वज्जि) गणों में एक थे, और उस मंडल में इनका अच्छा सम्मान तथा आदर था। सिद्धार्थ भी उन्हें इसी तरह सम्मान देते थे।

सिद्धार्थ के इन्हीं समभाव, प्रेम, संगठन, प्रभावादि गुणों से आकृष्ट होकर वैशाली के प्रभावशाली नरेश चेटक ने अपनी गुणवती राजकुमारी त्रिशाला का विवाह उनके साथ किया था।

इसी भाग्यशाली दम्पति से भगवान् महावीर का जन्म हुआ। जिस दिन महावीर का जन्म हुआ वह चैत सुदी तेरस का पावन दिवस था, जो आज सारे भारत में **महावीर-जयन्ती** अथवा **महावीर-त्रयोदशी** के नाम से प्रसिद्ध है।

महावीर बाल्यावस्था से ही विशिष्ट प्रतिभाशाली और असाधारण मेधावी थे। बड़ी-से-बड़ी समस्याओं और शंकाओं का वे क्षणभरमें समाधान कर देते थे। सामान्य लोगों के अतिरिक्त साधु-संत भी अपनी शंकाएं लेकर उनसे पूछने आते थे। एक बार की बात है कि जब वे बारह वर्ष के ही थे, तब संजय और विजय नामक मुनि-युगल अपनी एक असामान्य एवं जटिल शंकाको लेकर उनसे पूछने आये, महावीर ने उसका तत्काल समाधान कर दिया। सन्त संजय और विजय बालक महावीर की विलक्षण प्रतिभासे बहुत प्रभावित एवं सन्तुष्ट हुए तथा उनके ज्ञानकी अतिशय प्रशंसा करते हुए उन्हें **'सन्मति'** नाम से सम्बोधित किया, जो आज भी उनके पांच नामोंमेंसे एक नामके रूपमें प्रसिद्ध है। इसी तरह भिन्न-भिन्न घटनाओंके आधारपर उनके वर्द्धमान, वीर, अतिवीर और महावीर नाम भी ख्यात हुए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



## तत्कालीन स्थिति और विरक्ति

योग्य वय हो जाने पर एक दिन माता-पिताने उनके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा। पर उनका मन तो और ही कहीं था। उस समय जन-साधारण की जो दुर्दशा थी उसे देख कर उन्हें असह्य पीड़ा हो रही थी। समाज में भारी अज्ञान और मूढ़ता फैली हुई थी। धनिकों और राजकुमारों को छोड़कर आम लोगों के लिए उत्तम शिक्षाका कोई साधन न था। बाह्य क्रिया-काण्ड को ही मुख्यतया धर्म समझा जाता था। याज्ञिक पशु-बलिका अधिक जोर था। हिंसाकी ओर लोगों की प्रवृत्ति बड़े वेग से बढ़ रही थी। बात-बात में जीव-घात करना साधारण-सी चीज हो गई थी। अधिकांश लोगों को असत्य बोलने, परद्रव्यका अपहरण करने, अनाचारपूर्ण स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने और संग्रह करने में कोई हिचक नहीं रही थी। सामाजिक अन्याय और विषमता भी चरम सीमापर पहुंच चुकी थी। स्त्री, शूद्र और निम्न वर्ग के लोगों के साथ बड़ा दुर्व्यवहार होता था। उनके लिए उच्च ज्ञानका मार्ग अवरुद्ध कर दिया गया था। यदि किसीसे अज्ञानवश या भूलसे कोई अपराध बन जाता तो उसे जाति, धर्म और सभी उत्तम कार्यों से वंचित कर बहिष्कृत कर दिया जाता। साम्प्रदायिकता तो विषवेल की तरह पनपती जा रही थी। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को ऊंचा और दूसरे को नीचा समझता था। इस दयनीय स्थितिको देखकर परदुःखकातर महावीर का करुणापूर्ण हृदय द्रवित हो उठा।

## तप-साधना और कैवल्य-प्राप्ति

विवेकी महावीर भरी जवानी में सब तरह के सुलभ सुखों और सम्पन्न गृह तथा राज्यका त्याग कर निर्ग्रन्थ-अचेल साधु होकर वन-वनमें, पहाड़ों की गुफाओं और वृक्षों की कोटरों में समाधि लगाकर आत्मा की अचिन्त्य शक्ति को जगाने लगे और पूर्ण अहिंसा तथा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में तत्पर हो गये। काम-क्रोध, राग-द्वेष, मोह-माया, छल-ईर्ष्या आदि आत्मविकारोंपर, जो आत्माको सदैव कमजोर बनाते हैं और उसके विकास को रोकते हैं, विजय पाने लगे। वे ग्रीष्म में शिलाओं पर, वर्षा में वृक्षों के नीचे और शीतकालमें नदी-तटपर या मैदान में तप करते थे। उनका उद्देश्य तप द्वारा आत्म-शक्तिको विकसित करना था। कर्मशुद्धि और दोषोंका शमन तपके द्वारा ही हो सकता है। ऐसा कोई चीज नहीं है जो तपके द्वारा सिद्ध न की जा सके।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



वे थोड़ा और निर्दोष भोजन करते थे। भोजनमें उनकी कोई आसक्ति नहीं थी। शरीरको ऐसा कस लिया था कि मच्छर काटते या खुजली चलती तो भी वे विचलित नहीं होते थे। प्रमाद या आलस्य न आवे, इसलिए सदा चिन्तन और ध्यानरत रहते थे। निद्रा को भी वशीभूत कर लिया था। शारीरिक सुखों से आत्मिक सुख श्रेष्ठ है, इसका अनुभव करना उनका ध्येय था। अतः वे देह की केवल रक्षा के लिए चावल, मोठ, कुलठी आदिका रूखा आहार लेते थे। बहुधा वे उपवास ही कर लेते। एक-एक महीने तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करते। दूसरोंको कष्ट पहुंचाये विना सहजमें जो मिल जाता, ग्रहण कर लेते थे। उन्होंने अनुभव करके देखा कि शरीर के पोषणसे आत्मिक सुख प्राप्त नहीं होता, शरींरको जितना कष्ट-सहिष्णु बनाया जाय, उतनी ही आत्म-शक्ति बढ़ती है। लोग शरीरको सुखी बनाने के लिए दूसरोंको दुःख देते हैं, कष्ट पहुंचाते हैं। इसलिए उन्होंने शरीरके दुःखोंको सहकर देखा। इससे उन्हें आनन्दमें बाधा नहीं मालूम हुई। अपना शत्रु बाहर नहीं है। अपने दुर्गुण या दोष ही अपने शत्रु हैं और अपने सद्गुण ही मित्र हैं, इसलिए अपने आपकी कमजोरियों, बुराइयों पर विजय पाना ही सच्चा पुरुषार्थ है। राग-द्वेषादि कषायोंपर विजय पानेसे दुःख नहीं हो सकता—दुःख उन कषायोंसे ही होता है।

इस प्रकार लगातार बारह वर्ष तक सतत चिन्तन और घोर तप करने के उपरान्त ऋजुकूला नदी के किनारे जृम्भका गांव के निकट शाल-वृक्ष के नीचे एक शिला-पट्टपर ध्यानस्थ होकर उन्होंने कर्म-कलंक को नाशकर कैवल्य (सर्वज्ञत्व) प्राप्त किया और अर्हत्-जीवन्मुक्त-तीर्थंकर हो गये। आत्मा के चरम विकास की सबसे ऊँची अवस्था यही 'अर्हत्' अवस्था है, जो लोक-पूज्य तथा सबके लिए स्पृहणीय है। बौद्ध-ग्रन्थों में इसी अवस्था को अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध कहा गया है।

## तीर्थंकर महावीर और उनका प्रभाव

तीर्थंकर हो जानेपर महावीर ने अपने उद्देश्य के अनुसार अपने में पूर्ण अहिंसाभाव को स्थिर कर लिया था। समस्त जीवों पर उनका समभाव हो गया था। उनकी दृष्टि में न कोई शत्रु था और न कोई मित्र। सर्प-नेवला, सिंह-गाय जैसे जाति-विरोधी प्राणी भी उनके सान्निध्य में आकर अपने वैर-विरोध को भूल जाते थे। महर्षि पतंजलि ने सर्वथा ठीक लिखा है कि 'अहिंसा म प्रतिष्ठित योगी के निकट सभी विरोधी प्राणियों का परस्पर वैर-त्याग हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



जाता है ।' महावीर के इस स्वाभाविक आत्मिक प्रभाव की लोगों पर ऐसी अमिट छाप लगी कि लोग स्वयमेव आकृष्ट होकर उनके पास आने लगे। महावीर ने उचित अवसर और समय देखकर उन्हें धर्म और ज्ञान का उपदेश देना प्रारम्भ किया। वे पैदल यात्रा करते और लोगों को धार्मिक शिक्षाएं देते थे। उनकी उपदेश-सभा, जिसे जैन साहित्य में **समवसरण** कहा गया है, बड़ी विशाल होती थी। उसमें सभी लोग बिना रोक-टोक सम्मिलित होते थे। जात-पांत, छुआ-छूत और ऊंच-नीच का उसमें कोई भेद नहीं था, सब मनुष्य एक ही मनुष्य-जाति के अन्तर्गत समझे जाते थे। सामाजिक भेदभाव को भुलाकर आपस में प्रेम के साथ-मिलकर बैठते और धर्म-श्रवण करते। जो सामाजिक अन्याय से पीड़ित थे, पतित थे और धर्म-श्रवण का जिन्हें अधिकार प्राप्त नहीं था वे महावीर की इस धर्म-व्यवस्था से प्रसन्न थे। तीर्थंकर ने लगातार तीस वर्ष तक अनेक देश-देशान्तरों में पद-यात्रा करके सन्मार्ग का उपदेश दिया। सामाजिक न्याय और अधिकार प्रदान किये। अज्ञान और मूढ़ता को दूर किया। पशुबलि के विरोध में प्रबल आवाज उठाई और अहिंसा को परम धर्म बतलाया। फलतः यज्ञों की हिंसापर इतना प्रभाव पड़ा कि पशु-यज्ञ के स्थान पर आत्म-यज्ञ, ब्रह्म-यज्ञ, शान्ति-यज्ञ आदि अहिंसक यज्ञों का प्रतिपादन होने लगा और यज्ञ में पिष्ट-पशु (आटे के पशु) का विधान किया जाने लगा।

पशु-जाति की रक्षा और धर्मान्धता के निराकरण का कार्य करने के साथ ही महावीर ने हीन-पतित तथा स्त्रियों के उद्धार का भी कार्य किया। प्रत्येक व्यक्ति धर्म धारण कर सकता है और श्रेय को प्राप्त कर सकता है, इस उदार घोषणा के साथ उन्होंने उन्हें ऊंचे उठ सकने का अश्वासन, बल और साहस दिया। महावीर के संघ में पापी-से-पापी भी सम्मिलित हो सकते थे और उन्हें धर्मपालन की अनुज्ञा थी। उनका स्पष्ट कहना था कि **'पाप से घृणा-करो, पापी से नहीं'** और इसलिए उनके संघ का उस समय जो विशाल रूप था वह तत्कालीन अन्य संघों में कम मिलता था। ज्येष्ठा और अंजन चोर जैसे पापियों का उद्धार महावीर के द्वारा हुआ था। इस तरह उन्होंने मानव की प्रतिष्ठा की।

भगवान् महावीर ने किसी व्यक्ति के विरोध में कुछ नहीं कहा, क्योंकि दूसरे को वे कभी दुखित नहीं करना चाहते थे। अपने सुख के लिए नहीं, सबके सुख के लिए प्रयत्नशील होने का ही उन्होंने उपदेश दिया। जान पड़ता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



है कि इन्हीं सब बातों से स्वामी समन्तभद्र (ई० २–३ रीशती) ने महावीर के शासन (तीर्थ-धर्म) को 'सर्वोदय तीर्थ' ('सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव'–युक्त्यनुशासन)—सबका उदय करने वाला—कहा है।

## शिक्षाएँ और तत्त्वज्ञान

भगवान् महावीर ने हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह को दुःख का कारण बतलाया और प्रत्येक को छोड़ने का उपदेश दिया।

१. हम दूसरों को कष्ट न पहुँचायें, उन्हें भी जीने और अपने तरीके से रहने का अधिकार है। हम जब किसी को जीवन-दान नहीं दे सकते तो हमें उनका जीवन लेने का कोई हक नहीं है। हम अपने से छोटे और दुर्बल जीवों पर करुणाभाव रखें और उनकी रक्षा करें। जो बड़े और बलिष्ठ जीव हैं उनके साथ मैत्रीभाव रखें। समाज और राष्ट्र के बीच रहते हुए हमें अपनी ऐसी चर्या रखनी चाहिए, जो दूसरों को कष्टकर न हो। सबके साथ सह-अस्तित्व का व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि सभी सुख चाहते हैं और जीवित रहना चाहते हैं। अतः पारस्परिक अहिंसक व्यवहार ही सुख का सबसे बड़ा और प्रधान साधन है। संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी इन चार प्रकार की हिंसाओं में गृहस्थ के लिए संकल्पी हिंसा का त्याग करना ही चाहिए। शेष तीन हिंसाओं के बचाव का यथाशक्य प्रयत्न एवं विचार रखना चाहिए; क्योंकि समाज और राष्ट्र में रहते हुए उनका पूर्णतया परिहार शक्य नहीं। हां, मुमुक्ष साधु उनको भी छोड़ देता है।

२. इसके अतिरिक्त जीवन में सत्य आना चाहिए। किसी को धोखा न दिया जाय, जिससे जो कहा हो उसे पूरा किया जाय। दिये वचन अथवा विश्वास का घात न किया जाय। ऐसे शब्दों का भी प्रयोग न किया जाय, जो दूसरों को पीड़ा पहुंचायें। जैसे अन्धे को अन्धा कहना या काने को काना कहना सत्य तो है, पर अप्रिय होने से पीड़ा पहुंचाता है।

३. प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम और न्याय से अर्जित द्रव्य पर ही अपना अधिकार माने। जिस वस्तु को उसने अपने परिश्रम तथा न्याय से अर्जित नहीं किया है उसका वह स्वामी न बने। परद्रव्य का अपहरण सर्वथा अनुचित और अश्रेयस्कर है। अतः जीवन में अहिंसा और सत्य की तरह अस्तेय व्रत का भी नियम आना चाहिए। अस्तेय-व्रती चुंगी-शुल्क नहीं चुरायेगा, बिना टिकट रेलों या बसों में यात्रा नहीं करेगा। वह हमेशा यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



ध्यान रखेगा कि जिसके हम स्वामी नहीं अथवा नियमानुसार जिसका हमें मूल्य चुकाना चाहिए वह अवश्य चुकाया जाना चाहिए ।

४. स्त्री तथा पुरुष दोनों को भोगों में आसक्त नहीं होना चाहिए । भोगों में आसक्त व्यक्ति दुःख, बीमारी और अपव्यय से सदा पीड़ित रहता है । असंयत जीवन से केवल स्वास्थ्य का ही नाश नहीं होता है, अपितु ज्ञान, विवेक, त्याग, पवित्रता आदि सद्गुण भी नष्ट हो जाते हैं तथा समाज में दुराचार एवं दुर्बलता फैलती है । अतः मर्यादित एवं संयमित जीवन बिताने और अनेक विपत्तियों, अपयशों, दुःखों और दुर्ध्यानों से बचने के लिए यह उचित है कि प्रत्येक पुरुष को अपनी पत्नी के साथ और प्रत्येक स्त्री को अपने पति के साथ सन्तोष रखते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए ।

५. संग्रह हमेशा चिन्ता का कारण है । उसकी रक्षा और वृद्धि के लिए मनुष्य को रात-दिन चिन्तित रहना पड़ता है और चिन्ता चिता से भी अधिक दुःख देने वाली है । चिता केवल शरीर को ही जलाती है, किन्तु चिन्ता तो शरीर और आत्मा दोनों को राख बना देती है । अतः तृष्णा को रोकने और अनेक कष्टों से बचने तथा दूसरों के हित का भी ध्यान रखने के लिए आवश्यक है कि संग्रह की वृत्ति का त्याग हो । और उसकी सीमा बांध ली जाय । इससे परम सन्तोष होगा । अपरिग्रही सदा सुखी रहता हैं ।

इन पांच व्रतों का उपदेश तीर्थङ्कर ने हिंसादि पांच असद्वृत्तियों को छोड़ने के लिए दिया था । ये पांच व्रत न केवल व्यक्ति की ही उन्नति के साधक हैं, किन्तु समाज और राष्ट्र के उत्थान में भी सहायक हैं । समाज और राष्ट्र में यदि इन व्रतों का पालन हो तो भ्रष्टाचार, अनैतिकता और पद-लिप्सा सर्वथा समाप्त हो जाय ।

महावीर ने गृहस्थों और साधुओं दोनों की ऐसी चर्या बतलाई थी, जिसमें वे दोनों अपने-अपने स्थानों पर रहते हुए अपना और समाज का हित कर सकते हैं । इस चर्या को 'आचार-संहिता' के रूप में जैन ग्रन्थों में दिया गया है । गृहस्थों की आचार-संहिता पृथक् दी गई है और साधुओं की अलग बतलाई है । दोनों को उसके द्वारा अपनी और जन-समुदाय की उन्नति करने की प्रेरणा की गई है । लगता है कि इस आचार-संहिता का ही प्रभाव है कि वर्तमान जैन समुदाय उक्त हिंसदि असद्वृत्तियों से बहुत कुछ मुक्त है । महावीर के युग में लाखों श्रावक-श्राविकाएँ और साधु-साध्वियाँ उनके संघ में थे तथा दृढ़ता के साथ आचार-संहिता का अनुपालन करते थे । फलतः उनके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



चतुर्विध संघ का प्रभाव तत्कालीन दूसरे संघ-नायकों (पूरण कश्यप, अजित-केशकम्बलि, मक्खलि गोशालक, संजयवेलट्ठि पुत्त और बुद्ध) पर भी पड़ा था तथा उन्होंने भी संघ-व्यवस्था के लिए आचार के नियम-उपनियम बनाये थे।

महावीर ने आत्म-निग्रह पर बल देते हुए क्रोधादि कषायों और स्पर्शनादि इन्द्रियों को जीतने के लिए भी कहा था कि :

'क्रोध मत करो, मान मत करो, माया मत करो और लोभ मत करो; क्योंकि ये चारों ही आत्मा का अहित करते हैं। अतः इन्हें सदा के लिए छोड़ दो।'

उन्होंने बतलाया था कि 'क्रोध प्रीतिका नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता को समाप्त कर देती है और लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है'।

अतः 'शान्ति से क्रोध को जीतो, नम्रता से अभिमान को जीतो, सरलता से माया का नाश करो और सन्तोष से लोभ को वश में करो।'

'ज्यों-ज्यों लाभ होता है, लोभ बढ़ता जाता है। देखो न, पहले दो माशा सुवर्ण की आवश्यकता थी, पर बादको वह करोड़ों से भी पूरी नहीं हो सकी।'

'जिस तरह मन विषयों में रमता है उसी तरह यदि आत्म-साक्षात्कार करने में रमे तो हे योगिजन! जीव शीघ्र ही निर्वाण पा जाय।'

'यदि ज्ञानी मन और इन्द्रियों से छुटकारा पा जाय तो उसे किसी से कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं। यदि राग का प्रवाह रुक जाय तो आत्म-दर्शन सहज ही हो जाता है।'

'धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है। धर्म का अर्थ है—अहिंसा, संयम और तप। जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है, देवता भी उसे नमस्कार करते हैं।'

'किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, अदत्त (बिना दी हुई) वस्तु न ले, विश्वासघात करने वाले वचन न बोले, यह आत्म-निग्रही पुरुषों का धर्म है।'

'जो स्वयं प्राणियों की हिंसा करता है, दूसरो से हिंसा कराता है और हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है वह संसार में अपने लिए वैर ही बढ़ाता है।'

'सब जीव जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ प्राणि-वध का सर्वथा परित्याग करते तथा कराते हैं।'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



'कुशा की नोकपर स्थित ओस की बूंद की तरह मानव-जीवन भी क्षण-स्थायी है, इसलिए गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद मत करो।'

'जो भाषा कठोर हो, दूसरों को दुःखकर हो, भले ही वह सत्य क्यों न हो, नहीं बोलनी चाहिए, क्योंकि उससे पाप होता है।'

'रक्खी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई या बिना दी हुई चीज को न स्वयं लेना और न लेकर दूसरों को देना चाहिए।'

'जो मनुष्य दूसरे के पदार्थों (धनों) का हरण करता है, वह उसके प्राणों का अपहरण करता है, क्योंकि संसार में पदार्थ ही पुरुषों के बाह्य प्राण हैं।'

'आठ बातों से मनुष्य शिक्षित कहलाता है :—हर समय हँसने वाला न हो, सतत इन्द्रिय-निग्रही हो, मर्मान्तिक वचन न कहता हो, सुशील हो, दुराचारी न हो, रसलोलुप न हो, सत्य में रत हो, क्रोधी न हो, शान्त हो, वह शिक्षित है।'

'जो वीर, दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीतता है, यदि वह एक अपनी आत्मा को जीत ले तो यह उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय है।

'पांच इन्द्रियों, क्रोध, मान, माया, लोभ और सबसे अधिक दुर्जय अपनी आत्मा को जीतना चाहिए। एक आत्मा के जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।'

चारित्र की बड़े यत्न से रक्षा करनी चाहिए। धन तो सदैव आता-जाता रहता है। धन से हीन हीन नहीं कहलाता, लेकिन चरित्र से स्खलित का तो सर्वनाश ही हो जाता है।

इस तरह भगवान् महावीर ने जीवन को उंचा उठाने और पवित्र एवं आदर्श बनाने के लिए छोटी-सी-छोटी और बड़ी-से-बड़ी शिक्षाएं दीं। उन्होंने गृहस्थ और साधु दोनों को आचार–धर्म का प्रतिपादन किया।

आचार–धर्म के अतिरिक्त भगवान् महावीर ने जिस तत्वज्ञान का प्ररूपण किया उसके कुछ प्रमुख अंगों पर भी यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है।

## १. सर्वज्ञ-वाद

जैन धर्म का मन्तव्य है कि प्रत्येक योग्य आत्मा अपने अध्यवसाय और प्रयासों से संसार के बन्धन से मुक्त हो सकता है तथा सर्वज्ञ (परमात्मा) बन सकता है। सामान्य आत्मा भी दोषों और आवरणों को दूर करता हुआ महात्मा तथा परमात्मा बन जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



## २. रत्नत्रय-वाद—

जीव परमात्मा कैसे बन सकता है, इसका उपाय भी जैन धर्म में बतलाया गया है। वह उपाय है रत्नत्रय धर्म। जो जीव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीन रत्नों को धारण करता है वह संसार के दुःखों से मुक्त होता हुआ परमात्मा हो जाता है।

(क) सम्यक्दर्शन—मूढ़ता और मदरहित होकर यथार्थ देव, यथार्थ वचन और यथार्थ महात्मा को मानना और उनपर विश्वास करना सम्यक् दर्शन है। सम्यक्त्व, सम्यक् श्रद्धा और रुचि उसीके नाम हैं।

(ख) **सम्यग्ज्ञान**—सम्यक् वस्तु का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

(ग) **सम्यक्चारित्र**—सदाचार का नाम सम्यक्चारित्र है। अशुभ प्रवृत्तियों को छोड़कर शुभ प्रवृत्तियों में लगना ही सदाचार है, जिसे अहिंसादि व्रतों के रूप में ऊपर कहा जा चुका है।

## ३. कर्मवाद

जीव के साथ सम्बद्ध भीतरी जितना पुद्गल है और जो जीव को पराधीन बनाये रखता है, उसे स्वतंत्र नहीं होने देता, वह कर्म है। इस कर्म के कारण जीवात्मा नानायोनियों में जन्म ग्रहण करता है। इसके मूल में आठ भेद हैं—१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय। जो ज्ञानगुण को रोकता है, ढंकता है, वह **ज्ञानावरण** कर्म है। दर्शन गुण को आवृत करने लाले कर्म को **दर्शनावरण** कर्म कहते हैं। जिसके कारण जीवों को इष्ट वस्तुओं में सुख और अनिष्ट वस्तुओं में दुःख होता है वह **वेदनीय** कर्म है। मोह पैदा करने वाला **मोहनीय** कर्म है। जीव को तत्तत् शरीर में रोके रहने वाला **आयुकर्म** है। नाना प्रकार के शरीरों और उनके अंग प्रत्यंगों की रचना करनेवाला **नाम** कर्म है। उच्च-नीच के व्यवहार का प्रवर्तक **गोत्र** कर्म है और दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में बाधा डालने वाला कर्म अन्तराय है। ये आठ मूल कर्म हैं। इनके भी अनेकानेक भेद बतलाये गये हैं, जिनका सूक्ष्म-विवेचन कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादक जैन कर्म-ग्रन्थों से उपलब्ध किया जा सकता है।

## ४. अनेकान्त और स्याद्वाद

वस्तु का अपना स्वरूप क्या है और उसे जानने का सही तरीका क्या है, इस बात को बतलाने के लिए तीर्थंकर महावीर ने जैन धर्म के साथ ही जैन दर्शन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



का भी प्रतिपादन किया है। इस दर्शन के प्राणभूत सिद्धान्त हैं, अनेकान्त और स्याद्वाद।

(क) अनेकान्त—महावीर ने कहा है कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है—अर्थात् नाना धर्मों को अपने में रखे हुए हैं। जो वस्तु हमें बाहर से एक दिखाई देती है वह भीतर से अनेक धर्म विशिष्ट भी है। जो व्यक्ति किसी का पिता है, वह किसी दूसरे का पुत्र भी है, मामा भी है, भानजा भी है, भाई भी है, ताऊ भी है, चाचा भी है। इस तरह उसमें अनगिनत धर्म (पितृत्व, पुत्रत्व, मातुलत्व आदि) भरे पड़े हैं। यही हिसाब अन्य सभी वस्तुओं का है। इस सिद्धान्त को अनेकान्त कहते हैं।

(ख) स्याद्वाद—अनेकात्मक वस्तु के स्वरूप का ज्ञापन या कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है। प्रत्येक कथन सापेक्ष होता है, वह किसी अपेक्षा से सत्य होता है। अपेक्षा से कथन करने की शैली (वचन-प्रकार) स्याद्वाद है। यह विभिन्न मतों और दृष्टियों के समन्वय का सिद्धान्त है। इसे ध्यान में रखने पर परस्पर में कोई विरोध या संघर्ष नहीं आ सकता। विरोध या संघर्ष तभी आता है जब हम ऐकान्तिक रुख अपना लेते हैं, और अपने विचार को ही सत्य और पूर्ण तथा विरोधी-विचार को असत्य एवं असंगतबतलाते हैं। यदि उसके दृष्टिकोण से उसे भी स्थान दें तो सारा विरोध और संघर्ष मिट जाता है। जैन विचारकों ने जीवन-व्यवहार और तत्व-चिन्तन में इसी स्याद्वाद-दृष्टि और अनेकान्तवाद को हर समय सामने रखा और उन्हीं के माध्यम से दूसरों को भी विचार करने की प्रेरणा की है। इस तरह अनेकान्त और स्याद्वाद दोनों का बहुत बड़ा महत्व है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने जन-हित के लिए शिक्षा और तत्वज्ञानपूर्ण उपदेश दिया है। अन्त में ७२ वर्ष की आयु में कार्तिक बदी अमावस्या के प्रातः पावा (बिहार) में निर्वाण प्राप्त किया, जिसकी स्मृति में जैन-परम्परा में वीर-निर्वाण संवत् प्रचलित है।

---

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

## गौतम बुद्ध ( ५६३-४८३ ई० पू० )

संसार की संस्कृतियों को मोटे तौर पर दो प्रकारों में बांटा जा सकता है। एक प्रकार की संस्कृति पुनर्जन्म और कर्मवाद के सिद्धांतों पर अवलम्बित है और प्रायः एशियाई देशों में प्रचलित है, तथा दूसरी वह है जो इन सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करती और प्रायः यूरोप के देशों नें प्रचलित हैं। पहले प्रकार की परम्परा में एक महान् क्रान्ति ईसा से ५०० वर्ष पूर्व हुई। ठीक उसी प्रकार की क्रान्ति दूसरे प्रकार की परम्परा में लगभग ५०० वर्ष बाद हुई। दोनों का उद्देश्य लगभग एक ही था—आध्यात्मिक जीवन के सच्चे स्वरूप को सबके सामने रखना। उस काल में जनता नाना प्रकार की रूढ़ियों से अभिभूत होकर एक गहरे असन्तोष का अनुभव कर रही थी। गौतम बुद्ध ने धर्म की रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों को पृथक् कर वास्तविक आध्यात्मिक जीवन का मार्ग प्रशस्त किया।

हिमालय के समीप कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन की दो रानियां थीं, माया और प्रजावती। बहुत प्रतीक्षा के बाद बड़ी रानी माया गर्भवती हुईं और उनको स्वप्न हुआ कि उनके गर्भ से संसार का उद्धार करने वाले पुत्र का जन्म होगा। मायके जाते समय माया रानी ने एक बगीचे में ही वैशाखी पूर्णिमा के दिन नररत्न गौतम को जन्म दिया। ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की कि पुत्र मानव-जाति का सम्राट होगा, किन्तु या तो सांसारिक अर्थ में या आध्यात्मिक अर्थ में।

बालक का नाम सिद्धार्थ रखा गया। सिद्धार्थ का पालन-पोषण संसार के सभी सुख-साधनों से सम्पन्न वातावरण में होने लगा। वातावरण की यह कृत्रिमता ही सिद्धार्थ के सन्देह का कारण बन गई। क्या जीवन में सचमुच इस प्रकार दुःख का सर्वथा अभाव और सुख का सर्वथा भाव है ? सिद्धार्थ चिन्तित दिखाई पड़ने लगे। सुख का भार बढ़ाने के लिए राजा ने सुन्दरी कन्या यशोधरा से उनका ब्याह कर दिया। सांसारिक चमक-दमक और बढ़ाई गई। किन्तु सिद्धार्थ के मुख-मण्डल पर प्रकाश नहीं आया। उन्होंने स्त्री-सुख को आज़माया, किन्तु हृदय की पीड़ा बढ़ती ही गई। क्या यही जीवन है ? क्या यही जीवन का उद्देश्य है ? क्या जीवन में चिन्ता, भय, दुःख से निवृत्ति नहीं मिल सकती ?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



इसी बीच सिद्धार्थ के सामने जीवन का वह नाटक आया जिसने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी। एक दिन जब वे रथ पर बाहर जा रहे थे, उनके सामने एक वृद्ध पुरुष दिखाई पड़ा। सारथि चन्ना ने मानो उनके भय को बढ़ाते हुए कहा, "कुमार, सबका यही हाल होगा।" राजकुमार अभी चिन्ता ही में थे कि दूसरे दिन एक अत्यन्त रुग्ण पुरुष दिखाई पड़ा। सारथि ने चिन्ताग्नि में आहुति देते हुए कहा, "राजकुमार, यही जीवन है। जैसे वृद्ध होना ही पड़ता है, उसी तरह रोगों से भी छुटकारा नहीं मिल सकता।" उसी समय एक शव जाता दिखाई दिया और सारथि ने मानों अपना उद्देश्य पूर्ण करते हुए कहा, "राजकुमार, यही जीवन का अन्त है"। राजकुमार आगे न बढ़ सके। चिन्ता-सागर में गोते-लगाते हुए महल को लौट पड़े। सोचने लगे—क्या वृद्धत्व, मृत्यु, दुःख, रोग से मुक्ति नहीं ह ? जीवन में एक विषम निर्णय का समय सिद्धार्थ के सामने आया। जब तक जीवन के रहस्य का पता नहीं लगता उनको चैन नहीं। उनके अन्तः करण ने स्वीकार किया कि दिखावटी सुख-साधनों को त्यागकर वास्तविक सुख की खोज करनी होगी।

समय आया। एक रात्रि को सिद्धार्थ चुपके से उठे, एक बार सोते हुए स्त्री-पुत्र की ओर दृष्टिपात किया, और फिर नगर के बाहर निकल पड़े। प्रातः होते-होते एक नदी के किनारे पहुंचे और वहां से सारथि को अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण देकर बालों को कटाकर सत्य की खोज में चल पड़े। नैतिक और भौतिक सिद्धान्तों के चक्कर में रहनेवाले व्यक्तियों को सम्भवतः यह कदम उत्तरदायित्व से मुख मोड़ने के समान मालूम पड़े, किन्तु यह तो बीमा कम्पनी के एजेन्टों का तर्क होगा। व्यावहारिक जीवन आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक है, किन्तु नैतिकता का आवरण आध्यात्मिक दृष्टिकोण के सामने एक पर्दा ही है। उसे त्यागना पड़ता है। सिद्धार्थ का भविष्य ही इस बात का प्रमाण है कि उनका त्याग उत्तम और उचित था।

## २

मानव-हृदय स्वभाव से ही सत्य की खोज में पहले श्रद्धा का अनुसरण करता है, दूसरे के कहे हुए मार्ग पर चलता है। सिद्धार्थ ने भी यही किया। किन्तु उनको निराशा हुई और शान्ति न प्राप्त हो सकी। उन्होंने देखा कि ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित तपस्या का मार्ग अपूर्ण है। उनके प्रथम गुरु अराड थे, जिनके साथ गौतम ने अनेक दर्शनों और ग्रन्थों का अध्ययन किया। किन्तु



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



उन्हें ज्ञान का प्रकाश नहीं मिला; जीवन के दुःखों से मुक्ति का रास्ता नहीं दिखाई पड़ा। पाण्डित्य और तत्वबोध में भेद है। फिर गौतम उद्धक के पास गये। उद्धक की शिक्षा में उनको एक उच्चकोटि के स्वर्ग की प्राप्ति का मार्ग दिखाई पड़ा, किन्तु परिवर्तनशील जगत से मुक्ति का मार्ग नहीं। इसी बीच मगध के राजा विम्बसार की दृष्टि गौतम पर पड़ी और इनको देखकर विम्बसार इतने आकृष्ट हुए कि इनके चरणों पर अपनी सारी सम्पत्ति और राज्य भी रख दिया ताकि वे घर लौट चलें, किन्तु गौतम ने अडिग भाव से कहा, "राजन्! राज्य और सांसारिक सुख तो पीछे छूट गये हैं। मैं तो अब सत्य की खोज में अग्रसर हूं"। अंत में बिम्बसार ने प्रार्थना की, "महा-महिम! जब आप सत्य की प्राप्ति में सफल हों तो मुझे भी मार्ग प्रदर्शित करने की कृपा करें"। इसी प्रकार गौतम के स्वजन भी जब पता लगाते हुए राज-गृह के जंगलों में पहुंचे और राजकुमार से लौटने की प्रार्थना की तो गौतम का उत्तर स्पष्ट था—"जो प्रत्यक्ष रूप में नाशवान है उसकी ओर फिर मैं मुड़ नहीं सकता।"

अनेक शिक्षकों से मिलने के उपरान्त गौतम ने उरूवेला के जंगलों में जाकर अकेले तपस्या करने का निश्चय किया। इनकी कठोर तपस्या निरन्तर छः वर्षों तक चलती रही। उनके पाँच साथी इस प्रतीक्षा में थे कि देखें गौतम कब सफल होते हैं। गौतम का शरीर इतना क्षीण हो गया कि वे नदी में जल ग्रहण करने के लिए भी जाने में असमर्थ हो गये। चलना तो दूर, गौतम की शिथिलता इतनी वढ़ गई कि उनमें विचार करने की भी शक्ति न रही। वे बेहोश होकर गिर पड़े। इसी समय पुत्रप्राप्ति के उपलक्ष में जंगल के देवता को प्रसाद चढ़ाने के लिए वहां सुजाता आई। वैशाखी पूर्णिमा का दिन था। सुजाता ने अमृत के समान खीर तैयार की। अपने देवता को समर्पित करने के लिए सहेलियों के साथ जब वह जंगल में गई तो उसने देखा कि देवता प्रत्यक्ष होकर उसकी प्रतीक्षा में बैठे हैं। देवता ने खीर ग्रहण की, और जब थोड़ी शक्ति प्राप्त हुई तो पुनः उसी वटवृक्ष के नीचे, जहां तपस्या करते थे, जाकर बैठ गये। यह देखकर गौतम के पांचों साथी गौतम को असफल समझकर चल दिये और बनारस में जाकर रहने लगे। उनको दुर्बल समझकर माया-मोह ने घेरा डाला और तरह-तरह के आक्रमण भी किये, किन्तु गौतम का मन विचलित न हुआ। गौतम को समाधि लग गई और परम प्रकाश का अनुभव हुआ। कहा जाता है कि गौतम की समाधि सात दिनों तक लगातार चलती रही।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



समाधि टूटने पर गौतम बुद्ध ने विचारा, "मुझे सत्य की प्राप्ति हो चुकी। क्या मैं सत्य का उपदेश करूं ? और यदि करूं भी तो कैसे ? सत्य तो शब्द से परे हैं।" परन्तु संसार का कल्याण होना था। अतः गौतम की आत्मा प्रारम्भ से ही संसार के कल्याण के लिए कृतसंकल्प तथा करुणा से पूर्ण थी। उसने भीतर से प्रेरणा दी। साक्षात् ब्रह्मा ने जाकर प्रार्थना की। संसार के दुःखी प्राणियों के दुःख के निवारणार्थ गौतम ने सत्य का उपदेश करने का निश्चय किया।

भगवान बुद्ध बोधिवृक्ष के नीचे बैठे ही थे कि दो व्यापारी, मल्लिक और तपूस, ने आकर प्रणाम किया और शरण मांगी। वे ही प्रथम शिष्य हुए। फिर भी भगवान बुद्ध उपदेश देने के हेतु अभी उठे नहीं। उनके मन में फिर सन्देह हुआ—संसार में आसक्त पुरुष संसार की असत्यता में कैसे विश्वास करेंगे ? परन्तु देवताओं ने हाथ जोड़कर कहा, "भगवान्, संसार में कम से कम कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो आपके उपदेश को ग्रहण कर सकतें हैं। आपका उपदेश व्यर्थ न जाएगा। आप उपदेश करें।"

उठकर भगवान सबसे पहले अपने प्रथम गुरू अलर और उद्धक की खोज में गये, किन्तु उनका देहावसान हो चुका था। इसके उपरान्त वे उन पांच साथियों की खोज में निकले जो उनको असफल समझ कर त्याग चुके थे और जाकर बनारस में रहने लगे थे। चलते-चलते बनारस के पास इस्पताना नामक स्थान पर जिसे इस समय सारनाथ कहते हैं, वे पांचों व्यक्ति मिले। उन्होने गौतम को पहचान लिया, किन्तु निश्चय किया कि गौतम के आने पर वे उठेंगे नहीं और न कोई आदर ही दिखायेंगें। किन्तु क्या मजाल कि अध्यात्म-शक्ति के सामने अभिमान-शक्ति ठहर सके। ज्योंही भगवान बुद्ध उनके पास आये, वे लोग अपने को रोक न सके, सकपका कर खड़े हो गये। किसी ने उनका भिक्षापात्र लिया, किसी ने उनके कपड़े संभाले, किसी ने उनके लिए आसन बिछाया और किसी ने उनके लिए जल लाकर रखा। बुद्ध की विजय निश्चित थी। भगवान् ने उन बालबुद्धि साथियों पर करूणा करके कहा "भिक्षुओं ! धोखे में मत पड़ो। मुझे गौतम अथवा मित्र कहकर मत पुकारो। आंखे खोलकर देखो। आज मैं बुद्ध हूं। क्या तुम पहले के और अब के गौतम में कोई भेद नहीं देखते ?" भिक्षुओं ने संदेह किया, "गौतम ! तुम तपस्या का त्याग करके सत्य की प्राप्ति कैसे कर सकते हो ?" भगवान ने कहा "भिक्षुओं, मैंने कठोर तपस्या का त्याग अवश्य कर दिया है, किन्तु मैं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



भोगी नहीं हूं। विचार कर देखो। मैंने मध्यम मार्ग का अनुसंधान किया है। सत्य की प्राप्ति न तो भोग से है और न आत्मदमन से। दोनों ही अभिमानमूलक हैं। दोनों प्रकार की सीमाओं के बीच से होकर सत्य का मार्ग है, उसे पहचानो।" भिक्षुओं की आंखे खुलीं और धर्म-चक्र-प्रवर्तन हुआ।

३

जिस प्रकार जीवन एक चक्र है, उसी प्रकार धर्म भी एक चक्र है। भेद इतना ही है कि दोनों चक्रों की गति एक-दूसरे के विपरीत है। जीवन-चक्र का आदि स्रोत इच्छा है, और धर्म का आदिस्थान इच्छानाश। बुद्ध की शिक्षा के चार प्रधान स्तम्भ हैं—दुःख, दुःख का कारण, दुःख से मुक्ति तथा दुःख से मुक्ति का मार्ग। जीवन दुःख है, जन्म-मरण का चक्र दुःख है। इस दुःख का कारण है जीने की इच्छा और अभिनिवेश। दुःख से मुक्ति इच्छानाश से ही हो सकती है और इच्छानाश अष्टपदीय मार्ग के अवलम्बन से ही हो सकता है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् आचरण, सम्यक् जीवन, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् ध्यान, सम्यक् समाधि ये हैं धर्म के अष्ट पद। सम्यक् ज्ञान का तात्पर्य है असत्य का त्याग कर सत्य में दृढ़ विश्वास। सन्देह और असत्य का निराकरण करके मनुष्य को सर्वप्रथम सत्य विचार का साम्राज्य स्थापित करना होगा। यही सम्यक् जीवन की नींव है। बिना सम्यक् विचार के सम्यक् संकल्प हो ही नहीं सकता। सत्य क्रिया का आधार सत्य विचार ही है।

इसी प्रकार वाणी की सत्यता भी विचार की सत्यता पर अवलंबित है। परन्तु सम्यक् वाणी के अन्तर्गत केवल सत्यवाणी ही नहीं, वरन् उचित वाणी भी है। इस प्रकार पर-निन्दा, कठोर शब्द आदि का स्वतः निवारण हो जाता है। सम्यक् आचरण का अर्थ है संयमित आचरण, क्रोध, घृणा, प्रतिशोध, लोभ आदि के वशीभूत न होकर सम्यक् विचार के आदेश को मानना। सम्यक् वाणी और सम्यक् आचरण होने से संसार के सभी द्वंद्व दूर हो सकते हैं। सामाजिक जीवन की सभी समस्याएं इसके विपरीत आचरण से ही उत्पन्न होती हैं। सम्यक् वाणी और सम्यक् आचरण पूर्ण आत्मसंयम के द्योतक हैं। जीने की इच्छा का नाश एक क्षण में नहीं हो सकता, परन्तु जीवन को उचित मार्ग से ले चलने का प्रयत्न तो किया ही जा सकता है। अनुचित साधनों से जीवन-यापन करना तो मानों जीवन को ही साध्य बना लेना है। धर्म-चक्र में जीवन साध्य नहीं, साधनमात्र है। जीना ही है तो जीवन सम्यक् तो हो। सम्यक्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



प्रयत्न न होने से जीवन पानी पीटने के सदृश व्यर्थ हो जाता है। जीवन क्षण-क्षण साधन और साध्य को दृष्टि में रखकर बिताना चाहिए। अवतक बताई गई इन छः सीढ़ियों का उद्देश्य एक मात्र मन को वशीभूत करके एकाग्र करना है। अतः सप्तम सीढ़ी है सम्यक् ध्यान की संसारी मनुष्य विषयों का ही ध्यान करता है और जैसा की गीता में कहा है, उसी से नाश को प्राप्त होता है। परन्तु साधक विषयों की तुच्छता को समझ कर सत्य का ध्यान करता है। सत्य में स्थिर हो जाने पर सम्यक् समाधि की प्राप्ति होती है। वहां पहुंचने पर मनुष्य बुद्ध हो जाता है, शान्त हो जाता है, सुरक्षित हो जाता है, सब कुछ पा लेता है।

कुछ विचारकों ने बुद्ध की शिक्षाओं को बाइबिल के दस उपदेशों के रूप में रक्खा है। वे हैं :—

१—जीव हत्या न करो।
२—जो तुम्हें दिया न गया हो उसे ग्रहण न करो।
३—ब्रह्मचर्य से विचलित न हो।
४—असत्य का आश्रय न लो।
५—किसी भी मादक वस्तु का सेवन न करो।
६—भोजन संयमित और केवल अपराह्न में हो।
७—नृत्य, शृँगार, आदि उत्तेजक दृश्यों पर दृष्टि न डालो।
८—भोग के उपलक्षण माला, इत्र, आभूषण आदि धारण न करो।
९—संयमित निद्रा और संयमित विश्राम हो।
१०—धन एकत्र न करो।

इनमें से अन्तिम पांच आज्ञाएं गृहस्थों के लिए नहीं भिक्षुओं के लिए हैं।

४

सारनाथ में उपदेश करते हुए कुछ दिन बीत गये और शीघ्र ही भगवान के शिष्यों की संख्या ६० हो चली। तब एक दिन बुद्ध ने सभी शिष्यों को एकत्रित करके सम्बोधन किया, "भिक्षुओ! अब तुम संसार में फैल जाओ और भ्रमण करके धर्मचक्र का प्रवर्तन तथा मानव का कल्याण करो। मैं भी यहां से चलता हूं!" कहते हैं कि बुद्ध देव ने भिक्षुओं को तो धर्म-प्रवर्तन के लिए भेजा, किन्तु एक गृहस्थ शिष्य यशस को नहीं भेजा, उसके ऊपर माता-पिता की सेवा का भार था।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सारनाथ से लौटकर गौतम बुद्ध ने गया में जाकर उपदेश दिया। वहां से राजगृह जाकर विम्वसार को शिष्य बनाया। राजगृह में ही भगवान को दो ऐसे महान शिष्य प्राप्त हुए जो बौद्ध-धर्म के गण्यमान स्तम्भ हुए। एक दिन की बात है कि एक ब्राह्मण ने बौद्ध भिक्षु अस्स जी को भिक्षाटन करते हुए देखा। भिक्षु के तेज को देखते ही ब्राह्मण ने समझ लिया कि अवश्य ही यह व्यक्ति तत्ववेत्ता है। इसनें उसके गुरू के विषय में जिज्ञासा की। भिक्षु ने अपने शिक्षक तथा उनकी शिक्षा के विषय में ब्राह्मण को बताया। सुनते ही वह ब्राह्मण जो उपदेश का अन्यतम अधिकारी था, ज्ञान ज्योति से देदीप्यमान हो उठा। यही सारिपुत्र थे। ज्ञान प्राप्त करते ही सारिपुत्र अपने मित्र मौद्गयायन के पास दौड़े गये और उनसे भी बुद्ध के उपदेश कह सुनाये। तदुपरान्त सारिपुत्र और मौद्गल्यायन दोनों ही हाथ जोड़े बुद्ध की शरण गए। भगवान ने कहा—"ये दोनों मेरे महानतम् शिष्य होंगें। एक ज्ञान में और दूसरा अलौकिक शक्तियों में बेजोड़ होगा।" यहाँ ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि जनता ने बुद्ध के उपदेश को बिल्कुल निर्विरोध रूप में ग्रहण कर लिया। वर्णाश्रम-धर्मावलम्बी जनता ने मगध में बुद्ध की शिक्षाओं का विरोध किया और कहा, "बुद्ध तो घर-द्वार का छोड़ना सिखाते हैं।" भगवान ने स्थिर भाव से कहा कि जनता का "यह विरोध केवल कुछ दिनों के लिए है।"

भगवान बुद्ध की ख्याति जब उनके पिता तक पहुंची तो उन्होंने सन्देश भेजा कि वे अपने महान पुत्र को प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं। गौतम बुद्ध राज-गृह से कपिलवस्तु की ओर चल पड़े। बड़ी प्रतीक्षा के बाद कपिलवस्तु के लोगों ने देखा कि राजकुमार एक भिक्षु के रूप में नगर में प्रवेश कर रहे हैं। राजा को अपमान मालूम हुआ तथा यशोधरा को अमर्ष। गौतम बुद्ध ने पिता को उपदेश किया और तदुपरान्त वे यशोधरा के पास, जो अमर्षवश उनके पास नहीं आई थी, गये। उन्होंने भिक्षुओं को आगाह कर दिया। "भिक्षुओ! यदि यशोधरा मेरा आलिंगन भी करे तो उसे मत रोको, यद्यपि यह नियम के विरुद्ध है।" भगवान की करुणा अपार थी। यशोधरा दौड़कर उनके पैरों पर गिर पड़ी, परन्तु कुछ बोल न सकी। बुद्ध ने माता, पिता और पत्नी सबको उपदेश दिया। किन्तु पुत्र के लिए क्या करें? राहुल (उनका पुत्र) अभी छोटा था। उन्होंने भिक्षुओं से कहा, "भिक्षुओ! क्या मैं अपने पुत्र को अन्यतम साम्राज्य का उत्तराधिकारी बनाऊं? उसे भी संघ में शामिल करो।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



इस प्रकार पूरे परिवार को शान्ति का साम्राज्य देने के उपरान्त बुद्धदेव श्रावस्ती को लौटे और वहां जेतवन में रहकर उन्होंने बहुत दिनों तक उपदेश किया। वहां पर उनकी जीवन-चर्या इस प्रकार थी—वे प्रातः उठते और नित्य क्रिया के बाद भिक्षाटन के समय तक एकान्त सेवन करते। उसके बाद अकेले अथवा भिक्षुओं के साथ भिक्षाटन को जाते। भोजनोपरान्त आश्रम में आकर भिक्षुओं को उपदेश करते तथा शंका समाधान करते। उसके बाद वे विश्राम करते और ध्यान लगाकर चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर देखते कि किस व्यक्ति पर कृपा करने का समय आ गया है। जगत के प्राणियों के कल्याणार्थ विचरण करना ही महान आत्माओं का परम कार्य है। सन्ध्या समय फिर जन समूह को उपदेश करते और उसके बाद स्नान करके पुनः ध्यानमग्न हो जाते।

वैशाली की प्रसिद्ध गणिका अम्बपाली की कहानी भगवान बुद्ध की करुणा की कहानी है। जब उस ने सुना कि एक महात्मा आ रहे हैं तो उसने उनके निवास का प्रबन्ध अपने आम्रवन में किया। उस गणिका ने पहले तो भगवान बुद्ध के पास जाने का विचार नहीं किया था, किन्तु जब सुना कि नगर के सभी श्रेष्ठ पुरुष वहां जा रहे हैं, तो वह भी वहां गई। आम्रवन के द्वार पर एक रक्षक ने कहा, "देवि, आप वहां जाने के योग्य नहीं हैं।" गणिका का अभिमान चूर चूर हो गया और चेहरा फीका पड़ गया। इसी बीच एक दूसरे भिक्षु ने कहा, "महिला को भीतर जाने दो, भगवान उसे देखना चाहते हैं।" गणिका को अपने आकर्षण और सौन्दर्य का अभिमान था, किन्तु वहां जाते ही वह हतप्रभ हो गई। भगवान के पैरों को छोड़कर उठती ही न थी। फिर सँभलकर उठी और प्रार्थना की, "भगवान! क्या कल मेरे यहां भिक्षाटन की कृपा करेगें ?" भगवान ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। वैशाली के नागरिक दंग रह गए और उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि भगवान गणिका के यहां न जाकर उनके यहां भिक्षा करें। किन्तु भगवान अपनी बात पर दृढ़ थे। अम्बपाली ने अपना सर्वस्व संघ को देकर धर्म का सर्वस्व प्राप्त किया। इसी प्रकार बामित्र की पुत्री विशाखा ने भी अपने त्याग तथा सेवा से भगवान बुद्ध की महती कृपा प्राप्त की।

भगवान बुद्ध ने स्त्रियों को उपदेश दिया, किन्तु उनके संघ में आकर भिक्षुणी के रूप में रहने की आज्ञा नही दी। वे स्त्रियों को संघ में नहीं रखना चाहते थे। एक अवसर पर आनन्द ने भगवान से पूछा, "भगवन्! स्त्रियों के प्रति भिक्षुओं का व्यवहार कैसा होना चाहिए ?"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



"भिक्षुओं को स्त्रियों की ओर देखना नहीं चाहिए।"

"किन्तु यदि देखना ही पड़े, तो ?"

"तो उनसे बोलो मत।"

"और यदि बोलना ही पड़े तो ?"

"तब तो महान जागरूकता की आवश्यकता है।"

अतः भगवान स्त्रियों को संघ में नहीं आने देना चाहते थे। परन्तु शिष्यों के प्रेम ने उन्हें अपने नियम की कठोरता को कम करने के लिए बाध्य कर दिया। रानी प्रजावती ने गौतम की माता के देहान्त के उपरान्त उनका पोषण किया था। उन्होंने स्वयं संघ में प्रवेश करने की अनुमति मांगी और उनकी ओर से आनन्द ने भी कई बार भगवान से प्रार्थना की। अंत में भगवान ने कहा, "आनन्द, यदि वे भिक्षुओं के नियमों के अतिरिक्त आठ अन्य नियमों को स्वीकार करें तो उनको संघ में शामिल किया जा सकता है।" आनन्द ने कहा "उनको वे आठ नियम मान्य है।" बुद्ध ने फिर सोचकर कहा "आनन्द, यदि स्त्रियों ने भिक्षुणी होना स्वीकार न किया होता तो मेरा धर्म बहुत दिनों तक जीवित रहता, किन्तु अब यह धर्म बहुत दिन तक नहीं चल सकता।"

५

कहा जाता है कि भगवान बुद्ध कई प्रश्नों के उत्तर में मौन हो जाते थे। उन्हों ने एक अवसर पर कहा, "यदि किसी को तीर लगा हो तो तीर निकालने के पहले क्या तुम इस प्रश्न का उत्तर जानना चाहोगे कि तीर किसने बनाया और धनुष कैसे बना ? इसी से मैं आत्मा और सृष्टि के विषय में कुछ नहीं कहता।" वच्छगोत्र नामक संन्यासी ने भगवान बुद्ध से पूछा "गौतम ! क्या आत्मा है?" भगवान चुप रहे। संन्यासी के चले जाने पर आनन्द ने पूछा "भगवान ! आपने वच्छगोत्र को उत्तर क्यों नहीं दिया?" भगवान ने कहा, "यदि मैंने कह दिया होता कि आत्मा है तो वह शाश्वतवादियों की भांति इस जीव को ही नित्य मान लेता और यदि मैंने कहा होता कि आत्मा नहीं है तो वह उच्छेदवादियों की भांति मृत्यु के उपरान्त किसी वस्तु का अस्तित्व न मानता। वच्छगोत्र उस अवस्था को प्राप्त नहीं है कि उसे उत्तर दिया जा सके।" इसी से भगवान बुद्ध को कुशल वैद्य कहा गया है। वे रोगी को पहचान कर तदनुसार उपचार किया करते थे। सबके लिए एक ही शिक्षा देना, सबको एक ही स्तर पर ले आना, ठीक नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


भिक्षु पूर्ण जब धर्म के प्रचारार्थ प्रस्थान करने लगे तो भगवान ने उनसे पूछा, "भिक्षु ! यदि लोग तुम्हें गाली दें तो तुम क्या समझोगे?"

"मैं यही सोचूँगा कि उन्होंने केवल गाली ही दी, मारा तो नहीं।"

"और यदि मारें तो ?"

"तो यह सोचूँगा किउन्होंने केवल मारा ही, कोई अंग तो नहीं काटा।"

"और यदि काटें तो ?"

"तो यह सोचूंगा कि उन्होंने शिरश्च्छेदन तो नहीं किया।"

"और यदि वे शिरश्च्छेन करदें तो ?"

"तो यह सोचूंगा कि उन्होंने मेरे सिर पर से वहुत बड़ा बोझ उतार दिया।"

वास्तव में पूर्ण पूर्ण ही थे। भगवान ने उन्हें आशीर्वाद देकर बाहर भेजा।

भिक्षुओं को उपर्युक्त दृष्टिकोण रखना आवश्यक था, क्योंकि बौद्ध धर्म के प्रचार का विरोध कम न था। इसके अतिरिक्त मनुष्य के स्वाभाविक शत्रु ईर्ष्या और द्वेष तो सदा और सर्वत्र ही पाये जाते हैं। गौतम के भाई देवदत्त को तो स्वयं भगवान् बुद्ध से ईर्ष्या हो गई और वह भी इस हद तक कि उसने बुद्ध के प्राण लेने तक का प्रयत्न किया, किन्तु गौतम बुद्ध ने उसकी कोई परवाह न की। देवदत्त के कुचक्रों से तो भगवान् बच गये, किन्तु काल के गाल से कौन बच सकता है ? फिर भी अन्तकाल निकट जानकर भगवान् ने आनन्द से कहा कि तथागत जितने दिन चाहे पृथ्वी पर जीवन धारण कर सकता है। किन्तु आनन्द को यह न सूझा कि भगवान् से कुछ दिन और पृथ्वीतल पर रहने की प्रार्थना करें। एक दिन बुद्ध भगवान् ने स्पष्ट कर दिया, "तीन महीने में मैं शरीर छोड़ दूंगा।" आनन्द रोने लगे और प्रार्थना की, "भगवान्, जीवों के उद्धार के लिए कुछ दिन और पृथ्वी पर रहें।" भगवान् ने कहा इस प्रकार की प्रार्थना का समय बीत गया।

कुछ दिन उपरान्त कुशीनगर के पास जाकर भगवान अस्वस्थ हो गये और भिक्षुओं से कहा, "आज रात के तीसरे पहर तथागत शरीर छोड़ देगें।" आस-पास के लोगों को जब यह सूचना मिली तो आकर भगवान का दर्शन करने लगे। जब सब लोग दर्शन कर चुके तो सुभद्र नामक एक व्यक्ति आया और उसने भगवान के दर्शन की इच्छा प्रकट की। आनन्द ने उसे तीन बार आने से रोका। परन्तु भगवान ने सुन लिया और कहा "आनन्द, उनको आने दो, वह सच्चे जिज्ञासु हैं।" सुभद्र ने भगवान से अपनी शंकाएं कहीं और भगवान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



न समाधान किया तथा सुभद्र ने बुद्ध की शरण ली। अन्त समय तक भगवान बुद्ध शिष्यों को उपदेश करते रहे। उन्होंने कहा, "भिक्षुओ! सभी वस्तुएँ नश्वर हैं। प्रयत्न करके अपना उद्धार करो।"

भगवान बुद्ध की शिक्षाओं में वह प्राणशक्ति थी, जिससे थोड़े ही दिनों में बौद्धधर्म भारतवर्ष मे ही नहीं बल्कि देश-देशान्तर मे फैल गया। इस सफलता के अनेक कारण कहे जाते हैं। किन्तु उनमे सबसे प्रधान बुद्ध का व्यक्तित्व और उनकी शिक्षाओं की विशेषता थी। श्री आर० आर० दिवाकर ने बौद्ध धर्म की विशेषताओं को इस प्रकार व्यक्त किया है :—

(१) भगवान बुद्ध की शिक्षाएं अपने अनुभव तथा मानव मात्र के अनुभव पर अवलंबित थीं, न कि किसी शास्त्र के आधार पर। यहाँ तक कि भगवान ने अपने शिष्यों से अपनी शिक्षाओं को भी केवल श्रद्धा के आधार पर ही स्वीकार करने से मना किया और उन पर विचार करने को कहा। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि और अपने प्रयत्न का ही भरोसा हो सकता है।

(२) भगवान बुद्ध ने सब प्रकार के वाह्याडम्बरों का त्याग किया। आध्यात्मिक साधन मानसिक जगत की वस्तु है और मन को जीतना ही उसका प्रधान लक्ष्य है।

(३) मन को जीतने के लिए नैतिक जीवन और सदाचार अत्यंत आवश्यक हैं। अनैतिक जीवन से मन कभी शान्त नहीं हो सकता।

(४) भगवान बुद्ध ने केवल वाह्याडम्बर ही नहीं, अपितु आवश्यक दार्शनिक उड़ान का भी त्याग किया। तत्व के विषय में तरह-तरह की कल्पनाएं करना धार्मिक आचरण के लिए आवश्यक नहीं हैं। साधक के लिए दार्शनिक विवादों में पड़ना हानिकर है। जब यह प्रत्यक्ष है कि दुःख का कारण तृष्णा है तो तृष्णा को कम करना आवश्यक है, न कि यह विवाद करना कि आत्मा क्या है।

(५) ब्राह्मण-धर्म ने समाज में वर्ण-व्यवस्था स्वीकृत की है। भगवान बुद्ध ने कहा कि यह व्यवस्था गलत है। धर्म-मार्ग पर चलनेवालों में कोई भेद-भाव नहीं है। धर्म ही प्रधान है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# लाओत्से

## ( छठी शती ई० पू० )

संसार के धर्म संस्थापकों में लाओत्से[1] को एक प्रमुख स्थान प्राप्त है। ये चीन देश के **ताओ धर्म** अथवा **ताओ मार्ग** के संस्थापक माने गये हैं। लाओत्से शब्द व्यक्तिवाचक नहीं है। इसका अर्थ है प्राचीन गुरू अथवा प्राचीन दार्शनिक। लाओत्से का वास्तविक नाम था ली अर्ह। इनका स्वयं का नाम था अर्ह और ली इनका पारिवारिक नाम था। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि इनके असाधारण बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के कारण इन्हें लाओत्से की पदवी से विभूषित किया गया। सर्व साधारण में ये इसी नाम से प्रसिद्ध हुए। ये चीन के चू राज्य के कू जिले के एक ग्राम के निवासी थे। यह सम्भवतः पूर्वीय होनान के आधुनिक लु-ची के समीप था। कालान्तर में ये चाऊ चले गये। वहां इनकी राजकीय पुस्तकालय के एक अधिकारी के रूप में नियुक्ति हुई।

### जीवन तथा काल

इनके आविर्भाव काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। परम्परा के अनुसार इनका जन्मकाल ईसा के छठी शताब्दी पूर्व में माना जाता है। कुछ विद्वान इनका काल ईसा की तीसरी शताब्दी पूर्व का मानते हैं। इस प्रकार इनके काल के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। पर साधारण रूप से इनका काल ईसा के छठी शताब्दी पूर्व का ही माना जाता है। इन्हे कनफ्यूशियश का समकालीन माना जाता है। कहा जाता है कि ये कनफ्यूशियश से पचास वर्ष पहले उत्पन्न हुए थे। कुछ आधुनिक विद्वानों का यह भी मत हैं कि लाओत्से नाम के कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे ही नहीं। संभवतः कुछ पीछे के दार्शनिकों ने इनके नाम से ताओ का तथा अन्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। यह भी हो सकता हैं कि कोई एक दार्शनिक रहा हो, जिसने **ताओ** के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, पर उसका नाम ज्ञात नहीं है। पर लाओत्से का जो महान यश है वह उनके पीछे के महान शिष्य च्वागंत्सू के ग्रंथों के कारण हुआ है, न कि उनसे सम्बद्ध किसी ऐसी बात के कारण जिसका हमें ज्ञान हो। एक यह भी प्रसिद्धि है कि कनफ्यूशियश और लाओत्से

१. इन्हें लाओत्जू भी कहते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



से एक बार भेंट भी हुई थी। लाओत्से ने कनफ्यूशियश की कुछ भर्त्सना की और कहा कि उन्हें अपने अहंकार को दूर कर देना चाहिए और अपने अनियन्त्रित मन को वश में करना चाहिए। कनफ्यूशियश लाओत्से से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने लाओत्से की तुलना एक ऐसे पक्षवर सर्प से की जो बादलों को चीरते हुए वायु मार्ग से अकाश में पहुँचने की क्षमता रखता हो।

विश्व के अनेक धर्म-संस्थापकों तथा महात्माओं के विषय में अनेक चमत्कार पूर्ण बातें कही गई हैं। लाओत्से भी इसके अपवाद नहीं हैं। इनके जन्म के विषय में एक किंवदन्ती है कि ये अपनी माता के गर्भ में बयासी वर्ष तक रहे। इस प्रकार इनका एक वृद्ध पुरुष के रूप में जन्म हुआ। जन्म के समय ही इनकी एक लम्बी सफेद दाढ़ी थी। इनके चेहरे पर झूरियां पड़ी हुई थीं। किन्तु इस स्वरूप के होते हुए भी ये नवजात शिशुओं की तरह जमीन में लोट कर वाल क्रीड़ा करने लगे। इस प्रकार चीन देश की संस्कृति के अनुसार बालक का माता-पिता के प्रति जैसा प्रेम और आदर का भाव होना चाहिए उसका उन्होंने पूर्ण रूप से पालन किया। भारत की तरह चीन में भी प्राचीन काल में माता-पिता तथा गुरुजनों के प्रति प्रेम और आदर का भाव रखना तथा उनकी आज्ञा पालन करने पर अत्यधिक जोर दिया जाता था। यह उनकी संस्कृति का एक महान् सिद्धान्त था। लाओत्से इस संस्कृति के एक अन्यतम प्रतिनिधि थे। कुछ ही समय में वे एक महान ऋषि के रूप में प्रसिद्ध हो गये। लाओत्से के एक वृद्ध के रूप में जन्म लेने की कथा सम्भवतः उनके महान ज्ञान सम्पन्न होने की प्रतीक है। प्राचीन काल में चीन में वयोवृद्ध लोगों का न केवल उनकी आयु की दृष्टि से आदर किया जाता था, बल्कि उन्हें अधिक ज्ञान और अनुभव से सम्पन्न भी माना जाता था। वृद्ध लोगों के ज्ञान और जीवन के लम्बे अनुभव से बहुत कुछ सीखा जा सकता है ऐसा विश्वास प्रचलित था। परम्परा के अनुसार लाओत्से की आयु बहुत लम्बी मानी गयी है। इसके अनुसार इन्होंने दो सौ वर्ष से भी अधिक आयु प्राप्त की।

लाओत्से के जीवन का अधिकांश समय चाऊ में ही बीता। किन्तु एक किंवदन्ती है कि जब ये वृद्ध हुए तो और अधिक ज्ञान प्राप्त करने की खोज में चीन छोड़कर पश्चिम की ओर चले गये। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये भारत आये या किसी अन्य देश में पहुँचे। इस घटना से इनकी ज्ञान पिपासा के विषय में सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। ये एक महान पुरुष थे और इन्होंने वास्तविक रूप से एक वीतराग संन्यासी का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सा जीवन व्यतीत किया। इनका तिरोभाव कब और कहाँ हुआ इसके विषय में कुछ पता नहीं है।

लाओत्से के चीन छोड़ने के विषय में एक मनोरंजक कहानी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि विदेश यात्रा के लिए जब ये चीन के सीमान्त में पहुँचे तो वहाँ के चुंगी अधिकारी ने देश के बाहर अपना सामान ले जाने के लिए इनसे अनुमति पत्र की मांग की। लाओत्से के पास कोई सामान तो था नहीं। उन्होंने कहा कि उनके पास जो कुछ है वह उनका दर्शन है और वह उनके मस्तिष्क में है। तब चुंगी अधिकारी ने उनसे निवेदन किया कि ऐसी परिस्थिति में उन्हें देश छोड़ने के पहिले अपना दर्शन वहीं छोड़ जाना चाहिए। इस पर लाओत्से सीमान्त पर तीन दिन ठहर गये और उस अवधि में उन्होंने एक पुस्तक की रचना की जिसे **'ताओ ते किंग'** कहते हैं।

## ताओ ते किंग

**ताओ ते किंग** एक छोटा, किन्तु अत्यन्त गम्भीर ग्रन्थ है। इसमें लाओत्से के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। प्राचीन **ताओ** धर्म अथवा दर्शन के ज्ञान के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्यिक आधार है। **ताओ ते किंग** का अर्थ है **ताओ** और **ते** का महान् ग्रन्थ। **ताओ** और **ते** ये दो शब्द महत्व पूर्ण हैं। लाओत्से के सिद्धान्तों को समझने के लिए **ताओ** और **ते** के वास्तविक अर्थ का ज्ञान आवश्यक है।

**ताओ** चीनी भाषा का अत्यन्त प्राचीन एवं सारगर्भित शब्द है। लाओत्से के समय से बहुत पूर्व से ही इसका चीनी भाषा में प्रयोग होता था। चीनी भाषा में **ताओ** शब्द का मुख्य अर्थ है **"मार्ग।"** लाओत्से ने इस शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से परमसत्ता अथवा परमतत्व के लिए किया है। यह परमतत्व अव्यक्त तथा निराकार है। इसका शब्दों द्वारा निरूपण संभव नहीं है। वेदान्त के **'ब्रह्म'** तथा बौद्ध दर्शन के **'शून्य'** अथवा **'तथता'** के ही समान **ताओ** का भी प्रयोग हुआ है। लाओत्से ने आरम्भ से अन्त तक **ताओ** के अनिर्वचनीयता पर प्रकाश डाला है। जिस प्रकार ब्रह्म का अथवा शून्य का शब्दों द्वारा यथार्थ निरूपण सम्भव नहीं है, उसी प्रकार **ताओ** का भी शब्दों द्वारा विवेचन सम्भव नहीं है। शब्दों द्वारा उसे व्यक्त करने का जब हम प्रयत्न करते हैं, तब हम उसे खो देते हैं। वह सदा अपने रूप में अवस्थित रहता है। वह स्वतंत्र हैं, अपरिवर्तित है तथा मन और वाणी से परे है। वह विश्व का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आधार है। प्रकृति का शाश्वत नियम है। विश्व में व्याप्त परमतत्व है। वह ऋत है। विश्व का तथा मनुष्य के चरित्र और व्यवहार का विधायक नियम है। इस प्रकार **ताओ ते किंग** में **ताओ** शब्द का मुख्य रूप से दार्शनिक तथा नैतिक दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है। परमसत्ता के लिए इसका प्रयोग होता है और मनुष्य के नैतिक मार्ग को स्थिर करने वाले शाश्वत तथा सार्वभौम नियम के रूप में भी यह प्रयुक्त होता है।

लाओत्से के अनुसार अव्यक्त तथा अनिर्वचनीय **ताओ** से आकाश और पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। आकाश तथा पृथ्वी के उत्पन्न होने के पूर्व एक निराकार पूर्ण सत् था। वह शब्द से रहित, अद्रव्य, निरपेक्ष, अपरिवर्तित सर्व-व्यापी तथा सनातन तत्व था। समस्त विश्व की उसे जननी कह सकते हैं। इसके वास्तविक नाम का ज्ञान नहीं है। 'ताओ' अथवा 'मार्ग' के नाम से इसे सम्बोधित किया जा सकता है।

'ते' शब्द का अर्थ है गुण अथवा शक्ति। यह किसी वस्तु में अन्तर्निहित गुण अथवा शक्ति है। लाओत्से के अनुसार 'ते' का प्रादुर्भाव 'ताओ' से ही होता है। 'किंग' का चीनी भाषा में अर्थ है महान् ग्रन्थ। इस प्रकार **ताओ ते किंग** का अर्थ है **ताओ** और **ते** का महान् ग्रन्थ।

## जीवन दर्शन

**ताओ** के सिद्धान्त के आधार पर लाओत्से ने एक सुन्दर जीवन-दर्शन का भी निर्माण किया है। उनके अनुसार मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य **ताओ** की अनुभूति तथा प्राप्ति होनी चाहिए। पूर्णता प्राप्त करने के लिए उस अनिर्वचनीय परमतत्व से एकरूपता प्राप्त करना आवश्यक है। जिस प्रकार भारतीय दर्शन में **ब्रह्म** अथवा **निर्वाण** की प्राप्ति जीवन का अन्तिम उद्देश्य निर्धारित की गई है उसी प्रकार लाओत्से के अनुसार जीवन की सार्थकता **ताओ** से एकरूपता प्राप्त करने में है। **ब्रह्मवाद** और **ताओवाद** में इस प्रकार अत्यधिक समानता दिखलाई पड़ती है।

**ताओवाद** के अनुसार मनुष्य को सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे बाहरी घटनाओं तथा मानसिक विकारों से अप्रभावित रहने का प्रयत्न करना चाहिए। सादा जीवन और मितव्ययी होना **ताओ मार्ग** के अनुयायी के लिए आवश्यक है। ये गुण उसके नैतिक उत्कर्ष में सहायक होते हैं। मनुष्य को ऐसी स्थिति प्राप्त करनी है कि उसके कार्य उसके स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा से संचालित हों। साधारण रूप से व्यक्ति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


को उसके कार्यों में मानसिक संघर्ष का अनुभव होता है। उसे जब दो मार्गों अथवा दो वस्तुओं में से एक को चुनना होता है तो उसे अपने अन्दर एक संघर्ष का अनुभव होता है। उसके फलस्वरूप मन में स्थिरता नहीं रह जाती। कभी वह एक वस्तु अथवा एक मार्ग को ग्रहण करना चाहता है, कभी दूसरी वस्तु अथवा दूसरे मार्ग को। यह स्थिति इस बात की द्योतक है कि व्यक्ति की चेतना का समुचित विकास नहीं हो सका है, उसका विवेक स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकता, तथा वह वासनाओं से सर्वथा मुक्त नहीं है। यह नैतिक चेतना के समुचित विकास की अवस्था नहीं कही जा सकती। ऐसी अवस्था में मनुष्य के कार्यों का स्वाभाविक तथा सहज रूप से होना तथा अन्तःप्रेरणा से संचालित होना संभव नहीं है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए नैतिक चेतना का समुचित तथा उत्तरोत्तर विकास आवश्यक है। नैतिक चेतना के पूर्ण विकास से ही मन में समत्व की प्राप्ति होती है। समत्व का अर्थ है चेतना की उस स्थिति को प्राप्त करना जहां किसी प्रकार के मानसिक द्वन्द का अनुभव नहीं होता, तथा जहां बाहरी घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गीता में योग का अर्थ समत्व की प्राप्ति माना गया है। लाओत्से ने भी समत्व पर अत्यधिक जोर दिया है। लाओत्से का कहना यहाँतक है कि मनुष्य के अन्दर प्रतिरोध का अभाव होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह दुर्गुणों के साथ-साथ गुणों से भी ऊपर उठ जाए। उसे गुणों को प्राप्त करने का भी प्रयत्न छोड़ देना चाहिए। कारण यह है कि गुणों के अर्जन का प्रयत्न भी प्रतिरोध उत्पन्न करता है, जिससे मन में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था में परस्पर विरोधी विचार एक दूसरे से टकराते हैं, उनमें संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस सबके फलस्वरूप मानसिक शान्ति तथा स्थिरता समाप्त हो जाती है। लाओत्से ने इस प्रकार की मानसिक स्थिति का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रत्येक गुण सापेक्ष होता है। इस कारण वह अपने विरोधी गुण से सदा सीमित रहता है और उसके द्वारा उसका सदा प्रतिरोध होता रहता है। उनका कहना है कि चूंकि प्रत्येक व्यक्ति सुन्दर वस्तु को सुन्दर मानता है इससे असुन्दर का विचार भी स्वयमेव खड़ा हो जाता है; पुण्य भावना ही पाप की भावना को उत्पन्न कर देती है। अतः अच्छाई-बुराई, सत्-असत्, ऊंच-नीच, लंबा-छोटा, आगे-पीछे, आदि के विचार भी सापेक्ष हैं। इसलिए लाओत्से के अनुसार ताओ मार्ग पर चलने वाला सन्त पुरुष गुण-अवगुण, पाप-पुण्य के द्वन्द्व से अपने को मुक्त रखता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



गुणों को अर्जन न करने का लाओत्से का उपदेश साधारण रूप से कुछ असंगत और नैतिक चेतना के विरूद्ध प्रतीत होता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इसमें किसी प्रकार की असंगति नहीं दिखाई पड़ती। लाओत्से का यह तात्पर्य नहीं है कि मनुष्य अच्छे-बुरे का विचार ही न करे अथवा नैतिक चेतना के लिए प्रयत्न ही न करे। उनका वास्तविक अभिप्राय यह है कि नैतिक चेतना मनुष्य के विकास की अन्तिम भूमि नहीं है। यह चेतना कितनी भी विकसित क्यों न हो, द्वन्द्व से अथवा अन्तर्विरोध से सर्वथा मुक्त नहीं कही जा सकती। इस अन्तर्विरोध के कारण इस अवस्था में भी मन पूर्ण रूप से स्थिरता अथवा समत्व नहीं प्राप्त कर पाता। इसीलिए लाओत्से नैतिक चेतना की भूमि से भी ऊपर उठकर गुणातीत अवस्था को प्राप्त करने पर जोर देते हैं। इस अवस्था में मन की सब प्रकार की हलचल शान्त हो जाती है, और अन्तर्विरोध मिट जाते हैं। अन्त में मनुष्य ताओ अथवा परमार्थ तत्व का साक्षात्कार करता है तथा उससे एकरूपता प्राप्त करता है। इस अवस्था को प्राप्त करनेवाला महात्मा सभी वस्तुओं में समभाव स्थापित कर लेता है। इससे उसे परम शुभ अथवा शिवत्व के दर्शन होते हैं, और वह शुद्ध सत्य की उपलब्धि करता है। लाओत्से का यह वर्णन सत्यं शिवं सुन्दरम् का साक्षात्कार करनेवाले भारत के वीतराग-महात्मा के आदर्श से पूर्ण रूप से मिलता है। लाओत्से 'ताओ' की तुलना जल से करते हैं। जल सबका उपकार करता है। किसी से विरोध नहीं करता। जल का स्वभाव यह है कि वह निम्न से निम्न स्थान ग्रहण कर लेता है। पर उसमें सब वस्तुओं को व्याप्त करने की क्षमता रहती है। इसलिए यह ताओ के समीप है।

## शिक्षा, राजनीति तथा सामाजिक व्यवहार

शिक्षा, सामाजिक व्यवहार तथा राजनीति के संबन्ध में लाओत्से का अपना अलग मत है। शिक्षा के सम्बन्ध में उनका कहना है कि मनुष्य को अधिक शिक्षित होने के बजाय अधिक सरल हृदय होना चाहिए। इससे वह अधिक सुखी रह सकता है, क्योंकि उसे अधिक संतोष मिल सकता है। गीता का भी यही उपदेश है कि अशान्त व्यक्ति का सुखी होना संभव नहीं है। लाओत्से का यह उपदेश है कि मनुष्य के पास जो कुछ है उसी से उसे संतुष्ट और प्रसन्न रहना चाहिए।

इसी प्रकार लाओत्से का अपना एक अलग राजनीतिक दृष्टिकोण भी है। वे राजसत्ता के केन्द्रीकरण के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार प्रत्येक ग्राम का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अपना स्वचालित-शासन होना एक आदर्श व्यवस्था है। शासन का भार जितना ही कम हो उतना ही श्रेयस्कर है। जनता को यह भी नहीं मालूम होने देना चाहिए कि उसके ऊपर शासन कार्य कर रहा है। सबसे अच्छा शासक वही कहा जा सकता है, जिसके अस्तित्व के विषय में किसी को कोई ज्ञान न हो। लाओत्से के मत से जनता पर जितने अधिक कानून लादे जाते हैं, उसके स्वतन्त्र रूप से उद्योग-धन्धों तथा व्यापार के बढ़ाने में जितनी रोक लगाई जाती हैं, उतने ही लोग ज्यादा निर्धन होते जाते हैं और राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। कानून की पेचीदगी बढ़ने के साथ-साथ चोरी डकैती आदि भी बढ़ती है। इसलिए शासक जितना ही कम हस्तक्षेप करेगा, जितना ही अधिक शान्तिप्रिय, सच्चरित्र और सादा जीवन-यापन करने वाला होगा, उतना ही जनता, उसका अनुसरण करके, ऐश्वर्य, सुख एवं शान्ति प्राप्त कर सकेगी। सबसे अधिक आवश्यकता है युद्ध से दूर रहने की; क्योंकि युद्ध का प्रतिफल अवश्य बुरा होता है। जहां सेनाएँ रहती हैं, वहां अनेक प्रकार के उपद्रव खड़े हो जाते हैं। युद्ध के द्वारा जन-संहार करना अत्यन्त दुःख की बात है। विजेता को स्वागत के रूप में विजित के आर्त्तनाद और शोकोद्गार ही प्राप्त होते हैं। ताओ दर्शन शान्तिप्रिय है। वह युद्ध का नितान्त विरोधी है। आज तो विश्व का सम्पूर्ण जनमत इस महान सत्य का अनुभव कर रहा है, जिसका प्रतिपादन लाओत्से तथा विश्व के अन्य ऋषियों महात्माओं ने सहस्त्रों वर्ष पूर्व किया था।

लाओत्से ने मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन, उसके आचार-विचार तथा सामाजिक व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार जीवन के तीन रत्न है जिन्हें सावधानी से सुरक्षित रखना चाहिए। पहला है करूणा, दूसरा मितव्ययता तथा तीसरा सबसे आगे होने की आकांक्षा का त्याग। उनका मत है कि जिसके अन्दर करूणा है, वही वीर पुरुष कहा जा सकता है। जो मितव्ययी है वही उदार हो सकता है। जो सबसे आगे जाने की इच्छा का त्याग करता है, वह अपने को सबसे आगे पाता है। वह सहज ही नेतृत्व के पद पर आसीन हो जाता है। अपने घर से बाहर निकले बिना ही वह विश्व की सब वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। दैव के सब विधानों का उसे बोध हो जाता है। जितना ही अधिक मनुष्य इधर-उधर भटकता है, उसे उतना ही कम ज्ञान होता है। ज्ञानी पुरुष बिना चले ही गंतव्य स्थान पर पहुंच जाता है। बिना दृष्टि डाले ही लक्ष्य सिद्धि कर लेता

४

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



हैं। वह करता कुछ नहीं पर प्राप्त सभी कुछ कर लेता है। इस रहस्यात्मक तथा विरोधात्मक प्रतीत होने वाले कथन का तात्पर्य यही है कि वास्तविक ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह इन्द्रियों के परे जाकर चेतना के अन्तर्मुख होने से ही होता है। इसी प्रकार जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति मनुष्य की बाहरी चेष्टाओं से अथवा दौड़-धूप से नहीं होती। वह तो वासनाओं तथा आसक्ति और उनसे प्रेरित तथा नियन्त्रित कर्म के त्याग करने से ही होती है। लाओत्से का स्पष्ट मत है कि मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है अपना पूर्ण रूप से नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास करना। इसके होने पर सब कुछ आप से आप प्राप्त हो जाता है। इसके न होने पर वह बाहरी घटनाओं तथा आन्तरिक भावों से सीमित तथा उनके वशीभूत एक अपूर्ण व्यक्ति मात्र रहता है।

ज्ञानी पुरुष अथवा महात्मा को समाज में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, इस विषय में भी लाओत्से के विचार अत्यन्त सुन्दर हैं। उनके मत से सन्त अथवा महात्मा को जन साधारण से ऊपर होने के लिए इस प्रकार आचरण करना चाहिए जैसे वह सबके नीचे हो। उनका पथ-प्रर्शन करने के लिए अपने को उन सबके पीछे रखना चाहिए। इसी विधि से चलकर महात्मा सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर सकता है। जनता को उसे अपने बड़प्पन के भाव से अभिभूत नहीं करना चाहिए। वह लोगों का भला तभी कर सकेगा जब वह अपने को जन साधारण में पूर्णतया लीन कर लेगा; उनमें घुल मिल जाएगा और अपने को श्रेष्ठ मान कर उनसे अलग नहीं रहेगा।

इस प्रकार लाओत्से का **ताओ** धर्म अथवा मार्ग दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त गंभीर, नैतिक दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट तथा समाज कल्याण की भावना से परिपूर्ण है। जीवन और जगत् के प्रति उनका विशिष्ट तथा विशाल दृष्टिकोण है। मृत्यु को वे जीवन की अन्तिम सीमा मानने से इनकार करते हैं। संसारी जीवन की अंधकारपूर्ण तथा तंग गलियों को छोड़कर वे **ताओ** के प्रकाशमय, अनंत तथा प्रशस्त पथ पर चलने के लिए मनुष्य को प्रेरित करते हैं। यह धर्म मार्ग न केवल व्यक्ति के जीवन में ही सुख व शान्ति प्रदान कर सकता है प्रत्युत् इसका अनुसरण युद्ध और विनाश के भय से त्रस्त आधुनिक विश्व में भी शान्ति स्थापन करने में समर्थ हो सकता है।

लाओत्से के संदर्भ में उनके एक सर्वश्रेष्ठ और प्रधान शिष्य का उल्लेख करना आवश्यक है। वे हैं च्वागंत्सू। इनका काल ईसा की चौथी और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



तीसरी शताब्दी पूर्व माना गया है। ताओ धर्म के इतिहास में इनका अत्यन्त प्रमुख स्थान है। ये एक उच्च कोटि के दार्शनिक, महान तार्किक और अत्यन्त प्रतिभाशाली लेखक थे। कनफ्यूशियश ने लाओत्से के मत का खंडन किया है और च्वांगत्सू ने कनफ्यूशियश के मत का विस्तार तथा गंभीरता से खंडन किया है। इन्होंने लाओत्से के दुरूह ग्रन्थ का युक्तियुक्त प्रतिपादन भी किया है। लाओत्से के मत के प्रसार में तथा उसे दृढ दार्शनिक आधार देने में च्वांगत्सू की बड़ी देन है।

## लाओत्से की शिक्षाएँ

वासनाओं के वशीभूत होने से बढ़कर कोई पाप नहीं है। अपनी परिस्थिति से असंतुष्ट रहने से बढ़कर कोई विपत्ति नहीं है। परिग्रह के बढ़कर कोई दोष नहीं है। इसलिए संतोष की ही अन्तिम रूप से सार्थकता सिद्ध होती है।

अनिवर्चनीय ताओ की निर्विकारिता वासनाओं से मुक्ति प्रदान करती है। वासनाओं के अभाव से शान्ति प्राप्त होती है।

सज्जनों के प्रति हम अच्छा व्यवहार करेंगे। दुर्जनों के प्रति भी हम अच्छा व्यवहार करेगें जिससे वे सज्जन बन सकें।

यदि सरकार सहिष्णु होती है तो जनता बुरे मार्गों से दूर रहती है। यदि सरकार की तरफ से अनावश्यक हस्तक्षेप होता है तो लोग शासन के नियमों का उलंघन करने लगते हैं।

जो विनम्र होता है वह अपने को पूर्ण रूप से सुरक्षित रख सकता है। जो झुकना जानता है वही तनकर खड़ा हो सकता है। जो सब कुछ त्याग कर सकता है वह पूर्णकाम होता है। जो जर्जर हो जाता है वह नव जीवन प्राप्त करता है। जो थोड़े में सन्तुष्ट रहता है वह सफल हो जाता है। जो बहुत संचय करने का प्रयत्न करता है, वह पथभ्रष्ट हो जाता है।

अपने अज्ञान को जानना सर्वोत्तम है। अज्ञानी होते हुए अपने को बुद्धिमान समझना बहुत बड़ी बीमारी है। जो इस बीमारी को बीमारी के रूप में जानता है, वही इससे मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

जो दूसरे मनुष्यों को जानता है, वह विवेकी है। जो अपने को जानता है वह ज्ञानी है। जो दूसरों को वशीभूत करता है, वह बलवान है। जो अपने को वशीभूत करता है, वह अत्यन्त शक्ति-सम्पन्न है। जो अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट है, वही धनी है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



जब यश प्राप्त हो तो उसके प्रति अहंकार मत करो। यदि अहंकार से मुक्त रहोगे तो यश सदा सुरक्षित रहेगा।

सन्त अपने लिए संचय नहीं करता। जितना अधिक वह दूसरों पर खर्च करता है, उतना ही वह सम्पन्न होता है।

बुराई के प्रति भलाई का व्यवहार करो।

सन्त अपनी प्रशंसा नहीं करता, इससे सर्वत्र उसकी प्रशंसा होती है। अपने कार्य के प्रति वह अहंकार नहीं करता, इससे वह स्थायी होता है। वह किसी का विरोध नहीं करता, इसी से कोई भी व्यक्ति उसका विरोध नहीं करता।

जो पंजे के बल पर खड़ा होना चाहता है वह ठीक से खड़ा नहीं हो सकता। जो अपने दोनों पैर फैला देता है वह चल नहीं सकता। जो आत्म प्रशंसा करता है, वह यश प्राप्त नहीं कर सकता। अहंकारी मनुष्य में गुण नहीं रह सकते। जो अपने को सबसे ऊपर मानता है वह ऊपर नहीं उठ पाता।

जो बलवान होते हुए भी अपनी दुर्बलता में संतोष करता है वह मनुष्यों का प्रशंसा-पात्र और आकर्षण-केन्द्र बन जाता है।

कौन ऐसा व्यक्ति है, जो अपनी महान महिमा को विश्व को प्रदान कर सकता है? वही जो ताओ को प्राप्त कर चुका है।

ताओ निष्क्रय रहते हुए भी कार्य करता है। वह छोटे को बड़ा तथा कम को अधिक बना सकता है।

प्रकृति बदली नहीं जा सकती। भाग्य का परिवर्तन सम्भव नहीं है। काल रुक नहीं सकता। "ताओ" का प्रतिरोध नहीं हो सकता। ताओ के प्राप्त करने पर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो प्राप्त नहीं हो जाती। उसके प्राप्त न होने पर कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं कही जा सकती।

ताओ सभी का शरणालय है। अच्छे मनुष्यों का अमूल्य कोष है। जो अच्छे नहीं है, उनका भी पथ-प्रदर्शक तथा रक्षक है।

धर्म मार्ग अत्यन्त प्रशस्त तथा सरल है। फिर भी लोग अन्य मार्गों पर चलना चाहते हैं।

---

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# कनफ्यूशियस

## ( ई० पू० ५५०–४७९)

कनफ्यूशियस चीन देश के एक महान दार्शनिक तथा धर्म-संस्थापक थे। इनका स्थापित किया हुआ धर्म इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसे कनफ्यूशियस धर्म अथवा कनफ्यूशियस मत कहते हैं। इनका काल ईसा की छठी शताब्दी पूर्व का माना गया है। इनका जन्म ५५० ई० पू० के लगभग लू राज्य में हुआ। यह अब शांगतुंग प्रान्त का एक भाग है। इनका चीनी भाषा का वास्तविक नाम कुंगत्से है। कनफ्यूशियस इसका लैटिन रूप है। कुंगत्से का अर्थ है दार्शनिक अथवा गुरु।

कनफ्यूशियस एक निर्धन परिवार में उत्पन्न हुए थे। कम अवस्था में ही इन्होंने जीविका-निर्वाह के लिए कार्य करना आरम्भ किया। इनके कार्य करने की विशेषता यह थी कि जिस कार्य को भी यह अपने हाथ में ले लेते थे, उसे अत्यन्त मनोयोग, निष्ठा तथा परिश्रम से करते थे। इसके फलस्वरूप इनके कार्यों में उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती थी। इनका विवाह उन्नीस वर्ष की अवस्था में हुआ था।

कनफ्यूशियस जब पचास वर्ष के हुए, तब इनकी पदोन्नति आरंभ हुई तथा इन्हें राज्य तथा जनता की सेवा करने का अवसर मिला। इनके राजा ने इन्हें चुगंतू जिले का शाशक नियुक्त किया। इसके एक वर्ष के अन्दर ही जनता इन्हें शिष्टाचार तथा सद्व्यवहार के प्रतीक रूप में मानने लगी। इसके बाद इन्हें राज्य में मन्त्रि पद आदि उच्चपद प्राप्त हुए। इनका शासन अत्यधिक सफल रहा। जनता की नैतिकता तथा सचाई पर भी इसका वहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। इनके शासन के विषय में यह उल्लेख मिलता है कि इनके मन्त्रित्व काल के तीन महीने के अन्दर ही व्यापारियों ने वस्तुओं का दाम बढ़ाकर वताना वन्द कर दिया। सड़क पर गिरी हुई वस्तुओं को कोई उठाता न था। विदेशी लोगों को अपने घर की-सी आत्मीयता प्राप्त होती थी। इस प्रकार इनके कारण जनता में नैतिक चेतना का अत्यधिक विकास हुआ।

अपने शासन काल में कनफ्यूशियस अपने विरोधियों को अपनी सचाई तथा सद्व्यवहार द्वारा शान्त कर देते थे। संयोगवश ये अधिक समय तक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



राजकीय कार्य न कर सके। इन्होंने अपने राजा को नीति भ्रष्ट होते देखा, इस कारण ये राज्य छोड़कर चल पड़े। चौदह वर्षों तक इन्होंने चीन के अनेक राज्यों में भ्रमण किया। इस काल में इनके अनेक शिष्य हुए। आगे चलकर ये शिष्यगण चीन के अनेक राज्यों के विभिन्न शासकीय पदों पर आसीन हुए। इन अनेक वर्षों के भ्रमण के बाद ४८४ ई० पू० कनफ्यूशियस अपने राज्य लू में लौट आए। इन्हें पुनः शासन पद तो प्राप्त नहीं हुआ, पर महान् राजनीतिज्ञ के रूप में इनकी गणना हुई। शिक्षक रूप में इनकी अत्यन्त प्रसिद्धि हुई। कहा जाता है कि इनके ३००० शिष्य थे। इनकी ४७९ ई० पू० मृत्यु हुई।

## आदर्श समाज की आवश्यकता

कनफ्यूशियस चरित्र और व्यवहार की सचाई पर बहुत जोर देते हैं। मनुष्य में, उसकी समस्याओं तथा उसके विकास में उनकी अत्यधिक रूचि है। वह मनुष्य को सामाजिक प्राणी के रूप में देखते हैं। उनके विचार से मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति के लिए नैतिक मूल्यों पर आधारित एक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित समाज का होना आवश्यक है। ये नैतिक मूल्य किसी व्यक्ति विशेष के बनाए हुए नहीं हैं, किन्तु परम्परा से प्राप्त हुए हैं। अति प्राचीन काल से सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ आधार देने वाले तथा उसका मार्ग निर्देशन करने वाले ये सार्वभौम नियम हैं। इसलिए कनफ्यूशियस समाज में नियन्त्रण स्थापित करना आवश्यक समझते हैं। वे व्यक्ति का समाज से कोई पृथक् अस्तित्व नहीं मानते। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास समाज के अंग के रूप में ही होता है। अतः समाज के सुव्यवस्थित तथा सुनियंत्रित होने पर व्यक्ति का समुचित एवं सर्वांगीण विकास भी सम्भव होता है। कनफ्यूशियस समाज में किसी प्रकार के विद्रोह अथवा आमूल परिवर्तन के समर्थक नहीं हैं। वह राजनीतिक विद्रोहों के भी पक्षपाती नहीं हैं। उनका यह विश्वास है कि यदि व्यक्ति को आरम्भ से ही उचित शिक्षा दी जाए, ठीक से व्यवहार करना उसे आ जाए तो वह बड़ा होने पर भी उसी प्रकार से व्यवहार करेगा। शिक्षा का अर्थ केवल पुस्तक ज्ञान से अथवा नैतिक उपदेशों से नहीं है। इसका अर्थ है—मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार का, उसके आचरण का, अनुशासित तथा सुव्यवस्थित होना। इसके लिए उसकी भावनाओं तथा संवेगों का समुचित विकास भी आवश्यक है। दैनिक जीवन के साधारण व्यवहारों का सुनियन्त्रित होना उतना ही आवश्यक है, जितना बड़े से बड़े

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



कार्यों का। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य को उसी के अनुरूप व्यवहार करना चाहिए। कनफ्यूशियस का जीवन स्वयं ही इस बात का सुन्दर उदाहरण है। उनके विषय में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि अपने दैनिक जीवन में वे अत्यन्त नम्र थे। उन्हें देखने से ऐसा ज्ञात होता था कि वे बोलना ही नहीं जानते। किन्तु विद्वानों की सभा में तथा राज दरबार में वे महान् वक्ता के रूप में दिखाई पड़ते थे। उनके भाषण सदा नियन्त्रित होते थे। अपने से उच्च अधिकारियों से वे सदा संयत तथा सुनिश्चित भाषा में बोलते थे। अपने से नीचे अधिकारियों से वे अधिक स्वतंत्र तथा खुले रूप में व्यवहार करते थे। राजप्रसाद के अन्दर जाने पर वे सिर नीचा करके तथा द्रुत गति से चलते थे। राजा के बुलाने पर बिना सवारी की प्रतीक्षा किये वे घर से चल पड़ते थे। इस प्रकार जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप ही कनफ्यूशियस व्यवहार करते थे। अपने कार्यों तथा व्यवहार द्वारा कनफ्यूशियस ने जनता के सम्मुख शिष्टाचार का सुन्दर तथा उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया।

## परंपरावादी धर्म के अनुयायी

कनफ्यूशियस का जीवन मुख्य रूप से धार्मिक नहीं कहा जा सकता। वे नए धार्मिक मूल्य के आविष्कर्ता नहीं हैं। उनके एक शिष्य सेकुंग के अनुसार उन्होंने साहित्य तथा शास्त्रों की शिक्षा दी है, किन्तु उन्होंने ईश्वर तथा परमतत्व के विषय में कोई मौलिक विचार प्रस्तुत नहीं किया है। वे पुरातनवादी थे। धार्मिक रीतियों तथा विधिविधानों के पालन में उनकी अधिक रूचि थी। परम्परा से प्राप्त धर्म में इनकी आस्था थी।

**अनालेक्ट्स**—नामक ग्रन्थ में उन्होंने स्वीकार किया है कि वे धार्मिक महात्मा अथवा पैगंबर नहीं हैं। किसी ऐसे व्यक्ति से साक्षात्कार प्राप्त करना सम्भव भी नहीं है। अधिक से अधिक यदि किसी का साक्षात्कार करना संभव है तो वह है एक सच्चे सज्जन पुरूष का। इसी का यह फल है कि कनफ्यूशियस ईश्वर के दूत अथवा पैगंबर नही माने गये हैं। अन्य धर्म संस्थापकों अथवा धार्मिक नेताओं की तरह इनके जीवन में कोई चमत्कारों का उल्लेख नहीं है।

जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, कनफ्यूशियस परंपरा से प्राप्त धर्म के माननें वाले थे। चीन में अति प्राचीन काल में ही बहुदेववाद में विश्वास के साथ ही एकदेववाद की स्थापना हो चुकी थी। इस बात का लिखित प्रमाण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



प्राप्त है। शुकिंग एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। ईसा के कई शताब्दी पूर्व का यह माना गया है। यह अपने से चौदह-सौ वर्ष पुरानी घटनाओं का उल्लेख करता है। इसमें यह उल्लेख है कि किस प्रकार सम्राट् शन (जिनका काल परंपरा द्वारा २३५७ ई० पू० माना गया है) ने परम देवता, अथवा ईश्वर के निमित्त यज्ञ किया। इस देवता का 'शांग-ती' के नाम से उल्लेख किया गया है। ये परमेश्वर अथवा शांग-ती सब की सृष्टि करने वाले हैं। ये सब के शासक हैं। धर्म का पालन करने वालों पर उनकी कृपा होती है और बुरे कर्म करने वालों को वे दंड देते हैं। शांग-ती की तुलना अन्य एकेश्वरवादी धर्मों के ईश्वर से की जा सकती है। इसी प्रकार प्राचीन काल में ही एक सुविकसित नैतिक आचरण की स्थापना हो चुकी थी। शांग-ती के साथ ही प्राचीन ग्रन्थों में एक अन्य शब्द का भी उल्लेख मिलता है यह है 'त्सीन'। इसमें शांग-ती के सब गुणों का उल्लेख किया गया है। यह संभवतः ईश्वर का ही एक निराकार रूप है। यह जन साधारण का उपास्य है। शांग-ती के प्रति केवल सम्राट् ही यज्ञ कर सकते थे, साधारण जन नहीं। कनफ्यूशियस त्सीन शब्द का प्रायः प्रयोग करते हैं। ईश्वरीय कृपा अथवा ईश्वरीय विधान के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार कनफ्यूशियस अपने समय के प्रचलित धर्म को और धार्मिक रीति-रिवाजों को मानने वाले थे। उन्हें ईश्वर में तथा उसके विधान में विश्वास था। धर्म के आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक पक्ष में उनकी कोई विशेष रुचि नहीं थी। इनके शिष्यों ने भी परंपरा से प्राप्त धर्म का ही अनुसरण किया।

राजनीतिक दृष्टि से कनफ्यूशियस के काल में चीन में अत्यधिक अव्यवस्था थी। सामन्ती शासन समाप्त हो रहा था। आपसी कलह और युद्ध होते रहते थे। कनफ्यूशियस ने चीन के प्राचीन साहित्य का गंभीर और विस्तृत अध्ययन किया। उसका यह दृढ़ विश्वास हो गया कि सामाजिक तथा राजनीतिक सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए प्राचीन साहित्य का तथा उसके विचारों और मूल्यों का ज्ञान तथा प्रसार आवश्यक है। कनफ्यूशियस के पहले का साहित्य विशाल था, पर वह अव्यवस्थित रूप में ही था। कनफ्यूशियस ने प्राचीन साहित्य की महत्वपूर्ण बातों का संकलन आरम्भ किया तथा उसका ग्रंथों के रूप में सम्पादन किया। इस प्रकार कई महान ग्रंथों का सम्पादन हुआ। इन ग्रंथों का पाँच किंग (ग्रन्थ) के नाम से उल्लेख मिलता है। कालान्तर में ये चीनी भाषा के महान शास्त्रीय ग्रन्थ माने-जाने लगे। इन ग्रन्थों के नाम हैं :—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



दी शु–किंग
दी शी–किंग
दी लि किंग
दी चुन–च्यू
दीली की

इनमें इतिहास, कविता, धार्मिक रीतियों, विधियों आदि का प्रतिपादन हुआ है। इन पांच महान प्राचीन ग्रंथों के अतिरिक्त चार अन्य ग्रंथ भी हैं, जो कनफ्यूशियस साहित्य के आधार हैं। ये हैं **महान ज्ञान** ( दी ग्रेट लर्निंग ) **मध्यम मार्ग का सिद्धान्त** ( दी डाक्ट्रीन आफदी मीन ), **कनफ्यूशियन अना-लेक्ट्स** ( विभिन्न शिष्यों द्वारा उल्लिखित कनफ्यूशियस के उपदेश ) और मेन्शस का ग्रंथ। मेन्शस कनफ्यूशियस के अनुयायी थे। ये कनफ्यूशियस के लगभग १०० वर्ष वाद हुए थे। उपरोक्त ग्रंथों में से **महान ज्ञान** ( दी ग्रेट लर्निङ्ग ) कनफ्यूशियस द्वारा ही लिखित मानी जाती है। **मध्यम मार्ग का सिद्धान्त** (दी डाक्ट्रीन आफ दी मीन) के रचयिता कनफ्यूशियस के पौत्र माने जाते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त ग्रंथों में से कुछ ग्रंथ कनफ्यूशियस से प्राचीन हैं, किन्तु कनफ्यूशियस ने उन्हें सुव्यवस्थित रूप दिया। कुछ ग्रंथ उनके वाद के हैं। इनके अतिरिक्त कुछ भाष्य भी हैं। ये सव मिल कर कनफ्यूशियस-साहित्य का निर्माण करते हैं। कनफ्यूशियस अपने को इन ग्रंथों का रचयिता नहीं मानते। उनका कहना है कि वे प्राचीनों से प्राप्त ज्ञान का केवल संकलन तथा वितरण करने वाले हैं। वे अपने को कोई नए सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने वाला नहीं कहते।

## उनके सिद्धान्त

कनफ्यूशियस के सिद्धान्त में सबसे मुख्य वात है, व्यक्तिगत तथा सामाजिक नैतिकता तथा सदाचार एवं सद्व्यवहार की स्थापना। इनका सिद्धान्त ताओ की ही तरह है। ताओ की भांति इन्होंने भी आचरण शुद्धता पर अधिक वल दिया है। चीनी दार्शनिकों ने ताओ की उपेक्षा नहीं की है। कनफ्यूशियस के अनुसार मनुष्य ताओ का अनुसरण अपने निश्चित तथा दृढ़ कार्यों द्वारा करता है। वह परिस्थितियों के अनुरूप ही कार्य करता है। वह वलपूर्वक परिस्थितियों को भी वदल देता है। उन्हें ताओ के अनुरूप बनाता है। वह परिस्थितियों के सामने अपनी पराजय नहीं स्वीकार करता। इस विषय में कनफ्यूशियस का मत लाओत्से के मत से कुछ भिन्न है। लाओत्से परिस्थितियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



से संघर्ष करने के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार ताओ का अनुसरण अथवा उसकी प्राप्ति परिस्थितियों से संघर्ष करने से अथवा प्रतिरोध करने से सम्भव नही है। वे किसी भी प्रकार के वाह्य अथवा आन्तरिक संघर्ष तथा प्रतिरोध के विरोधी हैं। किन्तु इसके साथ ही वे परिस्थितियों के दास वननें की शिक्षा नहीं देते। उनके मत से ताओ की प्राप्ति सम्भव है चेतना की ऐसी विकसित अवस्था को प्राप्त करने से जहाँ मनुष्य सभी प्रकार के वाह्य तथा आन्तरिक विरोघों से ऊपर उठ जाता है। लाओत्से का कहना है कि मनुष्य व्यक्तित्व तथा चेतना के पूर्ण विकास द्वारा अपने को मूलतः बदल सकता है। कनफ्यूशियस व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था व संतुलन को आवश्यक मानते हैं। यदि वाह्य परिस्थितियाँ अनुकूल न हुईं तो उनके अनुसार मनुष्य का समुचित विकास सम्भव नहीं है। लाओत्से परमार्थवादी महात्मा हैं, जो संसार के हलचलों तथा द्वन्दों से दूर, चेतना के दिव्य लोक में, विहार करते हैं तथा सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हैं। कनफ्यूशियस समाज के एक अन्यतम प्रतिनिधि हैं, आदर्श महापुरुष है तथा सामाजिक नियम, राजनीतिक न्याय तथा सदाचार के निर्धारक हैं। वे व्यक्ति के कल्याण को सामाजिक कल्याण से पृथक् नहीं मानते। इस प्रकार कनफ्यूशियस का दृष्टिकोण लौकिक अधिक है। लाओत्से का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से पारमार्थिक है। किन्तु इस भेद के होते हुए भी लाओत्से और कनफ्यूशियस के जीवन-दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। कनफ्यूशियस की ख्याति उनके सामाजिक दर्शन तथा नीतिधर्म के कारण है, उनके तत्वज्ञान (मैटाफिज़िक्स) के कारण नहीं। कनफ्यूशियस का तत्वज्ञान परम्परा से प्राप्त हुआ है, उनका कोई अपना स्वतंत्र मत उसके विषय में नहीं है। चीन के परम्परागत तत्वज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति ताओ धर्म में हुई है, कनफ्यूशियस धर्म के किसी भी महान ग्रंथों में नहीं। चीन के बौद्ध भिक्षु अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए ताओ-तेकिंग की दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग करते थे।

आचरण तथा व्यवहार के विषय में भी कनफ्यूशियस तथा लाओत्से के मतों में कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है। लाओत्से के अनुसार मनुष्य को अपने शत्रुओं से भी प्रेम करना चाहिए। कनफ्यूशियस के अनुसार यह मत उचित नहीं है। उनका कहना है कि घृणा का उत्तर न्याय से तथा प्रेम का उत्तर उदारता से देना चाहिए। प्रेम और उदारता का व्यवहार शत्रु और मित्र के प्रति समान रूप से करना उचित नहीं है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



है कि लाओत्से का उपदेश मुख्य रूप से उन परमार्थवादी पुरुषों के लिए है, जो जीवन के हानि-लाभ के द्वन्द्व से मुक्त हो चुके हैं। साधारण मनुष्यों के लिए अथवा जीवन संग्राम की विभिन्न तथा विषम परिस्थितियों से जूझते हुए व्यक्तियों के लिए नहीं। कनफ्यूशियस का सिद्धान्त जन साधारण के लिए दुष्कर होते हुए भी अधिक ग्राह्य है।

कनफ्यूशियस मनुष्य की स्वाभाविक पूर्णता पर, पूर्ण और सुसंस्कृत मानव के विकास पर, व्यक्ति की महत्ता पर तथा मनुष्य के अन्दर करुणा के संचार पर विशेष रूप से जोर देते हैं। इसका सुन्दर तथा स्पष्ट प्रतिपादन **अनालेक्ट्स** में किया गया है। कनफ्यूशियस का दर्शन मनुष्य की पूर्णता को अत्यन्त आवश्यक समझता है। यह पूर्णता 'जेन' अथवा धर्म का पालन करने से ही सम्भव होती है। 'जेन' शब्द का प्रयोग कनफ्यूशियस धर्म के अर्थ में करते हैं। धर्म शब्द अधिक व्यापक है। 'जेन' का विशेष अर्थ है वह गुण जिससे सर्वांगीण नैतिक उत्कर्ष की प्राप्ति हो। धर्म शब्द भी पूर्ण नैतिक उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त होता है। कनफ्यूशियश धार्मिक जीवन को स्वयं ही साध्य समझते हैं। किसी अन्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धर्म को साधन रूप में नहीं स्वीकार करते। वह धर्म को स्वीकार करने के लिए, धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए, किसी प्रकार के पुरस्कार अथवा दण्ड का विधान भी नहीं करते। बहुधा संसार के महान् धर्मों में भी स्वर्ग और नरक की कल्पना की गई है। धार्मिक मनुष्य के सम्मुख मृत्यु के अनन्तर सब सुख साधन से सम्पन्न आनन्दमय स्वर्ग लोक की प्राप्ति की सम्भावना रक्खी गई है। उसी प्रकार अधर्म अथवा बुरे कर्म करने वालों को मृत्यु के बाद अनन्त काल तक नरक में निवास तथा सब प्रकार की दारुण यन्त्रणाओं की प्राप्ति का भय भी दिखलाया गया है। इस अवस्था में मनुष्य भय से वशीभूत होकर धर्म का पालन करता है, अपनी स्वाभाविक धर्म भावना के कारण नहीं। पर कनफ्यूशियस व्यक्तित्व के स्वाभाविक उत्कर्ष को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। इसलिए मनुष्य को वस्तुतः धार्मिक बनाने के लिए तथा उसे सन्मार्ग पर चलाने के लिए वे पुरस्कार अथवा भय के विधान का आश्रय नहीं लेते। उनके विचार से मनुष्य स्वभाव से अच्छा होता है। वह यदि अपने अग्रजों को तथा समाज और राज्य में उच्च पदों को सुशोभित करने वाले व्यक्तियों को धार्मिक अथवा नैतिक जीवन से सम्पन्न देखता है तो वह स्वयं भी उसी मार्ग पर चलने लगता ह। इसलिए उनके अनुसार यदि जनसाधारण का नैतिक विकास करना है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



तो वैभव, विद्या, तथा शक्ति से सम्पन्न व्यक्तियों को अपने विश्वास तथा आचरण द्वारा उसी प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए।

## आदर्श मानव का स्वरूप

कनफ्यूशियस एक विशेष अथवा असाधारण मानव की कल्पना करते हैं, जिसमें चरित्र और व्यवहार का लोकोत्तर विकास हुआ हो। इस प्रकार का मनुष्य कठोर तथा हिंसक वृत्तियों से मुक्त रहेगा, सत्यवादी होगा तथा उसके वाणी और व्यवहार में सामाजिक शिष्टाचार तथा व्यवहार का पूर्ण रूप से पालन होगा। वह किसी की निंदा नहीं करेगा, मिथ्या अभिमान से दूर रहेगा तथा दूसरों को गिराकर आगे वढ़ने का प्रयत्न नहीं करेगा। सफलता तथा असफलता से वह सर्वथा अप्रभावित रहेगा, अपने से समान लोगों से ही मैत्री स्थापित करेगा। वह अपने को किसी अन्य व्यक्ति का साधन नहीं होने देगा। वह स्वतन्त्र, स्वशासित तथा स्वधर्म पर आरूढ़ पूर्ण मानव होगा। इस प्रकार कनफ्यूशियस पूर्ण विकसित मानव में सभी प्रकार के नैतिक गुणों के लोकोत्तर विकास की कल्पना करते हैं। भारतीय साहित्य में भगवान् राम के चरित्र में इस प्रकार के लोकोत्तर पुरुष का दर्शन कराया गया है।

कनफ्यूशियस इस वात को स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार के लोकोत्तर गुणों का किसी व्यक्ति में विकास होना अति दुष्कर कार्य है। पर नैतिक गुणों का विकास किसी हद तक सभी व्यक्तियों में हो सकता है। ये मनुष्य के व्यक्तित्व को अत्यधिक महत्व देते हैं। उसके व्यक्तित्व की सुरक्षा, उसका अस्तित्व, उसकी चेतना के उत्कर्ष से ही संभव है। यदि यह नहीं होता तो मनुष्य आन्तरिक अथवा वाह्य परिस्थितियों का साधन मात्र रहेगा। उसका आचरण अथवा व्यवहार उसकी परिस्थितियों से प्रभावित तथा नियन्त्रित होगा। वह स्वयं परिस्थितियों का नियंत्रण नहीं कर सकेगा। इस प्रकार कनफ्यूशियस एक स्वशासित तथा उत्कृष्ट व्यक्तित्व की प्राप्ति को अत्यधिक महत्व पूर्ण समझते हैं। इसी प्रकार के मनुष्य स्वशासित, स्वतन्त्र तथा सुव्यवस्थित समाज के आधार स्तम्भ वन सकते हैं।

एक अन्य गुण जिसकी प्राप्ति कनफ्यूशियस विशेष रूप से स्वीकार करते हैं, वह है हृदय में करुणा तथा अनुकंपा का संचार होना। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य अपने प्रति जिस व्यवहार को उचित नही समझता वह दूसरों के

---

[1] यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वैशेषिक सूत्र)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



प्रति भी न करे। मनुष्य यदि अपने प्रति बुरा व्यवहार पसन्द नहीं करता तो उसे दूसरों के प्रति भी उस प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार वह किसी का साधन मात्र नहीं बनना चाहता, उसे दूसरों को भी अपने स्वार्थ पूर्ति का साधन नहीं बनाना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य के अपने व्यक्तित्व का विकास तभी संभव है, जब वह अपने सम्पर्क में आने वाले दूसरे व्यक्तियों को, जन साधारण को विकास प्राप्त करने का समान अवसर प्रदान करे।

## पांच वस्तुएँ और उनको प्राप्त करने के साधन

कनफ्यूशियस के अनुसार सुविकसित समाज के लिए पांच वस्तुओं की आवश्यकता होती है और उन्हें प्राप्त करने के तीन साधन हैं। वे पांच वस्तुएँ हैं—राजा और प्रजा का सम्बन्ध, पिता-पुत्र, स्त्री-पति, बड़े तथा छोटे भाई और मित्र का मित्र से मर्यादा पूर्ण सम्बन्ध। इन्हें प्राप्त करने के साधन हैं ज्ञान, करूणा तथा धैर्य। ये आध्यात्मिक गुण हैं तथा समाज को दृढ़ता प्रदान करते हैं। ये आध्यात्मिक गुण तथा शक्तियां तभी कार्य कर पाती हैं जब समाज में एकता तथा समरूपता स्थापित हो। इस तत्व का प्रतिपादन चुंगपुंग (मध्यम मार्ग के सिद्धान्त) में विशेष रूप से हुआ है। जिस समाज में अव्यवस्था तथा उच्छृंखलता नहीं होती, जहां मानव की प्राकृतिक भावनाएं तथा संवेगों की संयत रूप से अभिव्यक्ति होती है, जहां मानव की दूसरे मानव के प्रति आदर एवं सहानुभूति होती है उसे महान एवं सुविकसित समाज कहते हैं।

अब कनफ्यूशियस की तथा उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म की शिक्षाओं के कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं। उपर्युक्त महान ग्रन्थों से उनकी ये शिक्षाएँ ली गई हैं।

जो छोटी वस्तुओं के पीछे दौड़ता है, वह महान कार्य नहीं कर पाता।

किसी कार्य को आरम्भ करने के पहले उसके उद्देश्य का विचार कर लेना आवश्यक है। तब उद्देश्य की प्राप्ति बिना कष्ट उठाये ही हो जाती है।

जो स्वयं गिरा होता है, वह दूसरों को नहीं उठा सकता।

सज्जनता तथा करूणा-सम्पन्न होने का अर्थ है दूसरों के प्रति सहानुभूति रखना, मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम रखना, और अपने स्वार्थ का त्याग करना।

सज्जन मनुष्य अपनी क्षुद्रता से दुःखी होता है, दूसरे के कमी पर ध्यान नहीं देता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सज्जन मनुष्य स्वयं कष्ट उठाता है दूसरों को कष्ट में नहीं डालता।

यदि कोई एक वस्तु है, जिसका मनुष्य को सदा तथा प्रतिदिन पालन करना चाहिए तो वह यही है कि अपने प्रति जिस व्यवहार को अच्छा न समझे वह दूसरों के प्रति कभी न करे।

मनुष्य का सबसे बड़ा रोग है स्वधर्म का पालन न करना तथा पर धर्म को अपनाना। स्वधर्में निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः (गीता) में वही भाव है।

मनुष्य अपने से उच्च पदस्थ व्यक्तियों के व्यवहार में जिन बुराईयों को पाता है, उनका अपने से निम्नपदस्थ व्यक्तियों के प्रति आचरण न करे। अपने निम्नपदस्थ व्यक्तियों के व्यवहार में जो दुर्बलताएँ पाता है, उनका अपने से उच्च पदस्थ व्यक्तियों के प्रति आचरण न करे।

मनुष्य का दोष यह है कि वह दूसरों का शिक्षक होना चाहता है। छोटा मनुष्य अपने दोषों को कभी नहीं देखता।

छोटा मनुष्य समझता है कि भलाई के छोटे-छोटे कार्यों से कोई लाभ नहीं होता और साधारण बुराई के कार्यों से कोई हानि नहीं होती। उसका फल यह होता है कि उसकी बुराई इतनी बढ़ जाती है कि छिप नहीं सकती और उसका अपराध क्षम्य नही समझा जा सकता।

यदि तुम मनुष्यों से प्रेम करते हो और वे मैत्री का व्यवहार नहीं करते तो अपने प्रेम की समीक्षा करो। यदि तुम शाशन करते हो और लोग नियन्त्रित नहीं होते तो अपनी बुद्धि की जांच करो। यदि तुम दूसरों के प्रति शिष्टता का व्यवहार करते हो और वे तुम्हारे प्रति नहीं करते तो अपने आत्म-सम्मान की समीक्षा करो। यदि तुम्हारे कार्य निरर्थक होते हैं तो उसके कारण को अपने अन्दर ढूँढो।

जो अपने से अधिक आशा करता है और दूसरों से कम वह किसी की घृणा का शिकार नहीं होता।

किसी पद को प्राप्त करने की चिन्ता के स्थान पर अपने को उस पद के योग्य बनाने की चिन्ता करो। अपनी प्रसिद्धि न होने के विषय में चिन्ता करने के वजाय अपने को प्रसिद्धि प्राप्त करने के योग्य बनाओ।

सेवाएं अनेक हैं, किन्तु अपने माता-पिता की सेवा करना उन सब का मूल है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सचाई ईश्वरीय मार्ग है। पूर्ण सचाई से सम्पन्न ऐसा एक व्यक्ति भी नहीं हुआ जिसने दूसरों को प्रभावित न किया हो। विना सचाई के ऐसा एक व्यक्ति भी नहीं हुआ, जिसने दूसरों को प्रभावित किया हो।

अपने वल का अभिमान मत करो, क्योंकि तुमसे अधिक वलवान व्यक्ति संसार में अवश्य हैं।

विना विचार का अध्ययन निरर्थक होता है। विना अध्ययन का विचार खतरनाक होता है।

वात-चीत के योग्य पुरुष से मिलने पर यदि तुम वात नहीं करते तो तुमने अपने योग्य पुरूष को खो दिया। साथ ही बात करने के अयोग्य पुरूष से मिलने पर यदि तुम बात करते हो तो तुमने अपने शब्दों को नष्ट किया। बुद्धिमान व्यक्ति न योग्य पुरूष को खोता है न अपने शब्दों को।

सत्य कभी मनुष्य के स्वभाव से अलग नहीं होता। जो सत्य समझा जाता है वह यदि मनुष्य से अलग हो जाय तो वह सत्य नहीं है।

अपनी वाणी, व्यवहार और विचारों पर ध्यान दो और यह सदा स्मरण रक्खो कि ईश्वर सभी जगह मौजूद है।

---

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# महात्मा सुकरात

## (४६८–३९९ ई० पू०)

महात्मा सुकरात को ईसामसीह की कक्षा का व्यक्ति कहा जाता है। उनके विचार जितने ही सूक्ष्म थे, उतना ही उनका जीवन भी उदात्त था, और इन दोनों से बढ़कर थी उनकी मृत्यु। सत्य के लिए जीनेवाले और सत्य के लिए मरने वाले संसार के महापुरुषों में किसी के भी साथ उनकी तुलना की जा सकती है। यूनानी इतिहास के गगन में चमकने वाले नक्षत्रों में एक अत्यन्त प्रकाशमान नक्षत्र होने के साथ-साथ सुकरात संसार के इतिहास की भी अमर ज्योति हैं। एथेंस के इतिहास के जिस युग में सुकरात का प्रादुर्भाव हुआ, वह स्वर्णयुग कहा जाता है। उस युग में ऐथेंस ने अनेक महापुरुषों को जन्म दिया। बड़े से बड़े कवि, इतिहासकार, शिल्पी, चित्रकार, शासक, राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक इस युग की देन हैं। इन महापुरुषों के बीच महापुरुष कहलाना साधारण बात नहीं है।

सुकरात के प्रथम ४० वर्षों के जीवन के विषय में विशेष विवरण प्राप्त नहीं हैं। उनके पिता एक शिल्पी थे तथा माता धाय का काम करती थीं। उनका जन्म ईसा से लगभग ४६८ वर्ष पूर्व हुआ था। उनकी शिक्षा किस प्रकार और कहाँ तक हुई, यह कहा नहीं जा सकता, किन्तु बातचीत से वे सुशिक्षित जान पड़ते थे। उनकी वार्ताओं से मालूम पड़ता था कि उन्हें संगीतऔर व्यायाम-कला के अतिरिक्त साहित्य, गणित, विज्ञान तथा ज्योतिष से प्रेम था। होमर तथा प्राचीन काल के सुभाषितों के विशेषज्ञ सुकरात की सबसे अधिक रुचि सत्य के अनुसंधान में तथा जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में जान पड़ती है। सुकरात किसी संस्था में शिक्षित न भी हुए हों, तो भी उन्हें शिक्षित कहा जा सकता है, क्योंकि उस समय का एथेन्स नगर स्वयं एक शिक्षा-संस्था था। कारण यह है कि यद्यपि एथेन्स केवल एक नगर-राज्य था, किन्तु उस समय वह उन्नति के शिखर पर था। सुकरात उस समय के महापुरुषों के समकालीन थे, अवश्य ही वे उनके. सम्पर्क में आते रहे होंगें, क्योंकि एक तो एथेन्स छोटा नगर था, दूसरे उस समय की शासन-प्रणाली ऐसी थी कि प्रत्येक नागरिक को नगर के सभी नागरिकों के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता था। यूनानी जनता का जीवन अत्यन्त सामाजिक था। प्रत्येक नागरिक को प्रत्यक्ष रूप से शासन के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सभी प्रश्नों पर विचार कर राय देना अनिवार्य था। प्रत्येक नागरिक को नगर के आंतरिक शासन, परराष्ट्र नीति, युद्ध और संधि, आदि के उत्तरदायित्वपूर्ण प्रश्नों पर सम्मति देनी पड़ती थी। इतना ही नहीं, इन प्रश्नों पर नगर के प्रमुख विचारकों और वक्ताओं के विचारों तथा वादविवादों को सुनने का अवसर प्रत्येक नागरिक को अनिवार्य रूप से दिया जाता था। इस प्रकार सुकरात का सम्पर्क अवश्य ही तत्कालीन विचारकों के साथ रहा होगा।

सुकरात के पारिवारिक जीवन से उनके व्यक्तित्व की एक झांकी मिलती है। संयोग की वात है कि ऐसे महात्मा की स्त्री महाकर्कशा थी। अवश्य ही सुकरात का दाम्पत्य जीवन सुखी न था, फिर भी उनके तीन पुत्र थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि पारिवारिक दुःख और विषमता की झलक सुकरात की बातचीत में कहीं प्रसंगतः भी नहीं मिलती। एक बात अवश्य है, सुकरात प्रायः घर के बाहर ही रहना पसंद करते थे, चाहे यह कर्कशा स्त्री से दूर रहने के लिए हो अथवा अपनी प्रबल दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण। एक बार देर से आने पर उनकी पत्नी बिगड़ खड़ी हुई और गुस्से में आकर उसने बाल्टी का पानी उनके सिर पर उड़ेल दिया। कोई साधारण पुरुष अपनी पत्नी के ऐसे व्यवहार पर आग-बबूला हो उठता, किन्तु सुकरात ने हँस कर कहा, "मैंने तो सुना था कि गरजते हुए बादल बरसते नहीं, किन्तु आज तो गरजते हुए बादल बरस भी गये।" अंतिम समय में जब उनकी स्त्री कारागार में उनसे मिलने गई तो सुकरात ने उसे घर ले जाने की आज्ञा दी, जिससे वे अपने मित्रों से शान्तिपूर्वक बात कर सकें। अवश्य ही उनको दार्शनिक चर्चा स्त्री-पुत्रादि से अधिक प्रिय थी। कर्कशा स्त्री की अपेक्षा दार्शनिक मित्र अधिक प्रिय अवश्य थे, परन्तु सुकरात दोनों के प्रति समान रूप से अनासक्त थे और मृत्यु के समय उनके मन में मित्रों से विछोह के कारण तनिक भी विषाद न था, वल्कि एक सच्चे दार्शनिक की भांति वे यह सोचकर प्रसन्न थे कि वे भौतिक जगत् को छोड़कर आध्यात्मिक जगत की ओर प्रयाण कर रहे हैं।

प्राचीन लेखकों द्वारा सुकरात के दो प्रकार के चित्र हमें प्राप्त होते हैं— अरिस्टोफेन्स द्वारा एक निन्दात्मक चित्र और प्लेटो द्वारा एक प्रशंसात्मक चित्र। अरिस्टोफेन्स का चित्र यद्यपि निन्दात्मक है तथापि उससे अप्रत्यक्ष रूप से कुछ तथ्यों की प्राप्ति होती है। अरिस्टोफेन्स के अनुसार सुकरात भद्दी शक्ल वाला तथा गंदे वेश में रहने वाला एक व्यक्ति है। वह स्वतन्त्र विचारक तथा प्राचीन रीतिरीवाजों को न मानने वाला एक क्रांतिकारी है। युवकों को



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



बाप-दादों के मार्ग से हटाकर नये रास्ते से ले जाने वाला तथा समाज में उथल-पुथल मचाने वाला सुकरात अरिस्टोफेन्स के अनुसार अनैतिकता तथा अधर्म का प्रचारक है। इस निंदा चित्र में यह अंश सत्य है कि सुकरात विना परीक्षा या मीमांसा किये किसी विचार या विश्वास को नहीं मानते थे, तथा अपनी मीमांसा द्वारा नवयुवकों के विचारों में क्रान्ति पैदा कर देते थे। किन्तु यह कहना कि वे अधार्मिकता तथा अनैतिकता के प्रचारक थे, सर्वथा असत्य है। समाज तथा देश के नियमों तथा व्यवस्था के विरुद्ध सुकरात ने कभी आन्दोलन नहीं किया। देवी-देवताओं की परम्परागत पूजा को उन्होंने सर्वथा स्वीकार ही किया। यहाँ तक कि कारागार में मृत्यु के समय उन्होंने अपने मित्र क्रीटो को तद्देशीय एक देवता को एक मुर्गा चढ़ाने की आज्ञा दी क्योंकि यह मनौती थी। धार्मिक तो वे ऐसे थे कि कभी-कभी उनको समाधि का भी अनुभव हुआ करता था।

सुकरात विचार—जगत् के योद्धा और महारथी तो थे ही, किन्तु इसके पहले वे हमारे सामने युद्ध के महारथी के रूप में आते हैं। पोटडिया का विद्रोह दवाने के लिए जो सेना (४३२-४२ ई० पू०) एथेन्स से भेजी गई थी उसमें सुकरात ने एक सिपाही के रूप में अद्भुत कर्त्तव्यशीलता दिखाई। भूख और ठंड की सहनशक्ति उनमें बेजोड़ थी। वैसे वे शरावी नहीं थे, किन्तु यदि होड़ लग जाती तो वे किसी की चुनौती स्वीकार कर सकते थे और सबसे अधिक मात्रा में शराब पीने पर भी उनकी बुद्धि अविकृत रहती थी। ४२४ ई० पू० जब थीवियों ने एथेन्स को हरा दिया उस समय सुकरात ने जिस दृढ़ता का परिचय दिया वैसा यदि अन्य सिपाहियों ने भी किया होता तो शायद पराजय विजय के रूप में बदल जाती। तीसरी बार ४२२ ई० पू० में एम्फीपोलिस के युद्ध में भी सुकरात ने बड़ी वीरता का परिचय दिया था।

शारीरिक शूरता के साथ-साथ सुकरात में नैतिक साहस अदम्य था। इसके प्रमाण-स्वरूप दो ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन आवश्यक है। ई० पू० ४०६ में एथेन्स की नौसेना ने लेसीडीमोनियों को हरा दिया, किन्तु युद्ध के उपरान्त सेना के नायकों ने मृत तथा घायल सिपाहियों का उद्धार नहीं किया। सिनेट ने यह निश्चय किया कि आठों नायकों के मुकदमे का विचार एक साथ हो, किन्तु यह तरीका नियम के विरुद्ध था। प्रत्येक व्यक्ति की सुनवाई अलग अलग होनी चाहिए थी। सुकरात उस समय सिनेट के सदस्य थे। सदस्य लोग वारी-वारी से संसद के सभापति होते थे। संयोग से इन नायकों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



मुकदमा उस समय पेश हुआ, जब सुकरात को ही सभापतित्व करना था। जनता नायकों के प्रति इतनी क्रुद्ध थी कि उनके मुकदमें की सुनवाई एक साथ करने के प्रस्ताव का विरोध करना खतरे से खाली न था। कुछ लोगों ने विरोध किया भी, किंतु जनता ने उन्हें दबा दिया। परन्तु सुकरात दबने वाले न थे। जनता के भय से वे गैरकानूनी काम नहीं कर सकते थे। जनता उनको निष्कासित कर सकती थी, उन्हें कैद कर सकती थी, उन्हें जान से भी मार सकती थी, किन्तु सुकरात ने न्याय का ही पक्ष लिया।

कुछ दिनों बाद ई० पू० ४०४ में लेसीडीसोनियावालों ने एथेन्स को घेर लिया। एथेन्स में जनतन्त्र के स्थान पर क्रिटिया का एकतन्त्र शासन आया और वैयक्तिक वैमनस्य को रांजनीतिक रूप देकर लोगों की हत्या की जाने लगी। इस हत्या के कर्म में अधिक से अधिक लोगों को शामिल करने के उद्देश्य से क्रिटिया तथा उसके मित्रों द्वारा पांच व्यक्ति बुलाये गए जिनमें एक सुकरात भी थे। इन पांचों व्यक्तियों को सैलमिस से लिओन को हत्या करने के लिए लाने का आदेश हुआ। अन्य लोगों ने तो भयवश आज्ञा का पालन किया, किन्तु सुकरात ने निडर होकर आदेश का उल्लंघन किया, यद्यपि वे जानते थे कि इस अपराध के लिए प्राणदण्ड मिल सकता है। इस घटना के विषय में वे स्वयं कहते हैं, "मैंने केवल शब्दों द्वारा ही नहीं, किन्तु अपने कर्मों से यह प्रदर्शित कर दिया कि मैं रंचमात्र भी मृत्यु से नहीं डरता। मृत्यु से अधिक चिन्ता मुझे अन्याय के कार्य न करने की रहती है।" निश्चय ही इस प्रकार के न्यायपूर्ण तथा निर्भीक कार्यों के कारण क्रिटिया के जैसे लोग सुकरात से रुष्ट थे, और अंत में सुकरात को उनके क्रोध का शिकार होना पड़ा।

सुकरात की मृत्यु की कहानी उनके जीवन की कहानी से भी अधिक रोमांचकारी, साहस तथा त्याग से पूर्ण एवं शिक्षाप्रद है। तीन व्यक्ति मैलीटस, एनीटस तथा लिकोन ने मिलकर सुकरात पर दोषारोपण किया। तत्कालीन प्रथा के अनुसार दोषारोपण नगर की जनता के सामने किया जाता था और दोषी के लिए दण्ड का प्रस्ताव किया जाता था। इसके उपरान्त दोषी को अपने को निर्दोष साबित करने का अवसर दिया जाता था। अन्त में जनता वोट के द्वारा यह निश्चय करतो थी कि वह व्यक्ति दोषी है कि नहीं, तथा उसको क्या दण्ड मिलना चाहिए। जनता के सामने सुकरात पर यह दोषारोपण किया गया कि वे नास्तिक हैं और नगर के देवताओं के स्थान पर अपने मन के देवताओं की उपासना करते हैं। इसके अतिरिक्त वे नवयुवकों को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



भ्रष्ट करते हैं। इस अपराध के लिए सुकरात को मृत्युदण्ड का प्रस्ताव किया गया।

सुकरात ने अपनी सफाई देते हुए कहा, "लोगों का यह कहना कि मैं नास्तिक हूँ तथा देवताओं में विश्वास नहीं करता, सर्वथा असत्य और अनर्गल है। मैं अवश्य ही देवताओं में विश्वास करता हूँ, यद्यपि मेरे मन में देवताओं की जो कल्पना है, वह अन्य लोगों की कल्पना से भिन्न है। और यदि नास्तिकता ही सीखनी है तो आज के युवक मुझसे क्यों सीखेंगे? मुझसे पहले के दार्शनिकों के ग्रन्थ नास्तिकता अधिक अच्छी तरह सिखा सकते हैं।

"मेरे ऊपर दूसरा आरोप किया गया है कि मैं युवकों को भ्रष्ट करता हूँ। इस विषय में पहले तो मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या एकमात्र मैं ही इस नगर में युवकों को भ्रष्ट करने वाला हूँ और अन्य नागरिक उन्हें सुधारने वाले हैं? यदि ऐसा है तब तो आज के युवक अत्यंत भाग्यशाली हैं। दूसरे, मैं यह पूछना चाहता हूँ कि बुरे नागरिक अपने पड़ोसी को कष्ट देते हैं कि नहीं? ऐसी स्थिति में क्या मैं चाहूँगा कि मैं नागरिकों को बुरा बनाऊँ और उनसे कष्ट पाऊँ? नागरिकों को बुरा बनाने का कार्य मैं जानबूझकर करता हूँ या अनजाने? यदि मैं जानबूझकर करता हूँतब तो मैं अपने ही पांव में कुल्हाड़ी मार रहा हूँ, और यदि अनजाने में कर रहा हूँ तब मैं दण्ड का भागी नहीं हूँ।

"फिर भी प्रश्न उठता है कि लोग मुझसे क्यों अप्रसन्न हैं? इस प्रश्न के उत्तर के पीछे एक इतिहास है। कैरीफोन के विषय में आपने सुना होगा। उसने डेल्फी जाकर वहां के देवता से पूछा, "क्या सुकरात से अधिक बुद्धिमान व्यक्ति और कोई है?" देवता ने उत्तर दिया, "नहीं।" जब मैंने सुना तो विचार करने लगा कि इस उत्तर का अर्थ क्या हो सकता है। देवता झूठ तो बोल नहीं सकते, अतः इसमें कोई रहस्य अवश्य है। अतः देवता के इस कथन की परीक्षा के लिए मैं उन लोगों के पास जाने लगा जो बुद्धिमान कहे जाते हैं। पहले मैं राजनीतिज्ञों के पास गया, फिर मैंने कवियों की परीक्षा की और उसके उपरान्त कलाकारों से अपना सन्देह मिटाना चाहा। किन्तु यह करने के बाद मैंने क्या सीखा? मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सत्य क्या है, इसे न तो वे ही लोग जानते हैं और न मैं ही जानता हूँ। किन्तु वे नहीं जानते हुए भी विश्वास करते हैं कि वे लोग जानते हैं और मैं न तो सत्य जानता हूँ और न सत्य को जानने का अभिमान ही करता हूँ। जब मैं तर्कों द्वारा प्रदर्शित कर देता हूँ कि वे सत्य को नहीं जानते, तो उनके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अभिमान को ठेस लगती है और वे मेरे दुश्मन बन जाते हैं। बस यही कारण है कि मैंने अनेक लोगों को रुष्ट कर दिया है। नागरिकों! मैंने सत्य-परीक्षा का यह कार्य किसी द्वेष भावना से प्रारम्भ नहीं किया, बल्कि मैं यह वास्तव में विश्वास करता हूँ कि केवल ईश्वर ही वास्तविक ज्ञानी है। डेल्फी के देवता के कथन का अर्थ यही है कि मनुष्य के ज्ञान का महत्व कुछ नहीं है। देवता ने मानो मेरे नाम के बहाने यह शिक्षा दी, "तुम लोगों में से जो व्यक्ति सुकरात के समान यह जानता है कि मनुष्य का ज्ञानाभिमान सर्वथा मिथ्या है, वही सबसे बड़ा ज्ञानी है।" अतः मैं इसे ईश्वर का आदेश समझकर लोगों के मिथ्याभिमान को दूरकर उनमें दीनता और विनय का संचार करने में सदा व्यस्त रहता हूँ, और इतना व्यस्त रहता हूँ कि न तो मुझे अपने परिवार को देखने-भालने की फुरसत है, और न किसी अन्य सामाजिक कार्य के लिए। अस्तु मैं मैलीटस और एनीटस को अपना दुश्मन नहीं समझता। मेरा दुश्मन तो जनता का अन्ध विश्वास और सन्देह है। उसी के कारण भूतकाल में अनेक महात्माओं का अन्त हुआ, और हो सकता है उसी के कारण मेरा भी अंत हो।

"आप पूछ सकते हैं, 'क्या ऐसे कार्य के लिए जीवन को संकट में डालना बुद्धिमानी है?' मेरा उत्तर यह है: जब कोई व्यक्ति कोई कार्य करता है तो उसे मरने और जीने की बात सोचनी चाहिए, अथवा उस कार्य के औचित्य या अनौचित्य की? यदि मृत्यु का खतरा उठाना बुरा है तो जितने भी संसार के महान व्यक्तियों ने उच्च आदर्शों के लिए प्राण दिये हैं, उन्हें बुरा ही कहना पड़ेगा। अस्तु मनुष्य जीवन में जहां-कहीं भी हो चाहे स्वेच्छा से अथवा किसी भी प्रकार से उसका कर्त्तव्य है कि वह मृत्यु की परवाह न करते हुए अपने धर्म का पालन करे। फिर दूसरी बात यह है कि क्या मृत्यु वास्तव में बुरी चीज है? मृत्यु से डरना तो मानो बुद्धिमान न होते हुए भी बुद्धिमान होने की ढोंग करना है, क्योंकि जिसे हम नहीं जानते उसे यह सोचना कि हम जानते हैं, कहां की बुद्धिमानी है? क्या यह सम्भव नहीं है कि मृत्यु जीवन की सर्वोत्तम घटना है? मृत्यु से डरनेवाले व्यक्ति मानो यह जानते हैं कि मृत्यु बुरी चीज़ है। मृत्यु या तो मनुष्य का सम्पूर्ण रूप से अन्त है अथवा केवल एक जगह से दूसरी जगह जाने के समान है। यदि प्रथम विकल्प सत्य है तो भी मृत्यु एक सुखद वस्तु है, क्योंकि उससे जीवन की सारी समस्याओं का अन्त हो जाता है। यदि मृत्यु केवल स्थान-परिवर्तन है, तो कौन न चाहेगा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



कि मरकर उन महान व्यक्तियों से मिले और सत्संग करे जो भूतकाल में मर चुके हैं ? अतः तुमको विचारना चाहिए कि मरता कौन है—शरीर या आत्मा ? यदि इस प्रकार विचार करोगे तो मृत्यु का भय नहीं रह जायगा। मेरे लिए तो यह दैवी आदेश है कि मैं लोगों के विचारों और विश्वासों की समीक्षा करूँ और सत्य का पता लगाऊँ। अतः मैं ईश्वर की आज्ञा का पालन करूँगा, न कि मनुष्य की आज्ञा का। जब तक शरीर में प्राण है मैं किसी भी तरह सत्यान्वेषण से मुख न मोड़ूँगा। मेरी सेवाओं की प्राप्ति से बढ़कर एथेन्स के लिए कोई दूसरा सौभाग्य नहीं हो सकता, क्योंकि मैं अपना पूरा समय तुम लोगों को यह बताने में व्यतीत करता हूँ कि मनुष्य का एक मात्र धर्म अपनी आत्मा की रक्षा करना है। धर्म से धन आदि सब प्राप्त हो सकता है, किन्तु धन आदि से धर्म नहीं प्राप्त हो सकता। इस प्रकार के कार्य से मैं कभी विमुख नहीं हो सकता, चाहे मुझे कई बार मरना पड़े। तुमको यह भी समझ लेना चाहिए कि यदि तुम लोग मेरा अन्त करोगे तो इससे तुम्हारा ही अहित होगा, न कि मेरा। तुम्हारे लिए मेरा अहित करना असम्भव है, क्योंकि हर एक व्यक्ति स्वयं अपने-अपने हित और अहित के लिए उत्तरदायी है। ईश्वर के विधान में बुरे व्यक्ति द्वारा अच्छे व्यक्ति का अहित असम्भव है। यह सब मैं अपने बचाव के निमित्त नहीं कह रहा हूँ, बल्कि तुम्हारे मंगल के लिए कह रहा हूँ, क्योंकि मुझे अपराधी ठहराकर तुम ईश्वर-विरोधी होगे। ईश्वर ने मुझे तुम्हारी सेवा के निमित्त भेजा है और मेरे बाद फिर मेरा स्थानापन्न तुम्हें नहीं मिलेगा। यदि मुझे दैवी प्रेरणा न मिली होती तो क्या केवल मानवी प्रेरणा से मैं अपने सारे सुखों को तिलाञ्जलि देकर तुम्हारी सेवा करता रहता ? इससे मेरा क्या लाभ है ? मेरे शत्रु भी यह नहीं कहेंगे कि मैं अपने उपदेशों के लिए फीस लेता हूँ। अरे, यदि सम्भव होता तो मैं अपने उपदेश सुनने वालों को ही फीस देता। मैं बाल्यावस्था से ही आकाशवाणी के रूप में एक संकेत या दैवी आदेश पाता रहा हूँ। जब कभी कोई अनुचित कार्य करने मैं जाता हूँ तो आकाशवाणी मुझे मना कर देती है। आकाशवाणी ने ही मुझे राजनीति में भाग लेने से मना किया है, किन्तु सत्यान्वेषण के कार्य को आकाशवाणी ने कभी मना नहीं किया।

"नागरिको ! ऐसा न समझो कि मेरे आगे-पीछे कोई नहीं है। जिन युवकों को मैंने "भ्रष्ट" किया है वे तथा उनके सम्बन्धी मेरी मदद के लिए तैयार हैं। मेरे भी बालबच्चे हैं, किन्तु उन सबके कारण मैं तुमसे प्राण की भिक्षा नहीं मांगता और न तो तुम्हारे प्रति कोई अनादर ही दिखा रहा हूँ। मै तो केवल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



यही दिखाना चाहता हूँ कि जैसे मैं सम्मान और न्याय के लिए प्राण त्याग कर रहा हूँ वैसा ही तुम भी करना।"

मत लेने पर सुकरात के पक्ष में २२० और विपक्ष नें २८१ वोट पड़े। सुकरात दोषी ठहराये गये और प्रत्युत्तर में वे कहने लगे—"नागरिकों! मुझे यह आशा तो थी कि मैं दोषी घोषित किया जाऊँगा किंतु मुझे यह आशा न थी कि मेरे पक्ष में इतने अधिक वोट मिलेंगे। जो भी हो, मेरे लिए दण्ड मृत्यु है। किन्तु यदि मुझसे पूछा जाये कि जिस त्याग के साथ मैंने समाज की सेवा की है उसका पुरस्कार क्या होना चाहिये, तो मैं कहूंगा—जनता द्वारा आदर पूर्वक मेरा भरण-पोषण। किन्तु ऐसा कहना तुम्हें एक कठोर व्यंग मालूम पड़ेगा। फिर भी जैसे मैं दूसरे के प्रति अन्याय नहीं करता, वैसेही अपने प्रति भी अन्याय नहीं कर सकता। मैं कभी भी अपने आपको अपराधी नहीं मान सकता और न अपने लिए किसी प्रकार के दण्ड का प्रस्ताव कर सकता हूँ। मैं न तो कारावास का प्रस्ताव करूंगा, न जुर्माने का और न निष्कासन का। मैं अपराधी नहीं हूँ और मुझे मृत्यु का भय नहीं है। यदि आप पूछें कि क्यों नहीं मैं आज से मौन ही धारण कर लेता हूँ तो इसे समझाना कठिन है। संक्षेप में मैं यही कर सकता हूँ कि मैं मौन इसलिए धारण नहीं कर सकता कि वह ईश्वरादेश का उल्लंघन होगा। सत्यासत्य के अन्वेषण जैसा उत्तम दूसरा कार्य कुछ हो नहीं सकता, और उसके लिए मुझे समय मिले इस उद्देश्य से सम्भवतः मैं जुर्माना देने के लिए सहमत हो जाता, किन्तु मेरे पास धन नहीं है। सम्भवतः एक सिक्के से अधिक जुर्माना मैं नहीं दे सकता। किन्तु मेरे मित्र प्लेटो आदि मुझे तीस सिक्के दण्ड देने को विवश कर रहे हैं। अस्तु वही मेरा प्रस्ताव है।"

इस प्रस्ताव को ठुकराकर सभा ने सुकरात के लिए मृत्युदण्ड का निर्णय किया। सुकरात ने पुनः कहना प्रारम्भ किया—"नागरिकों, एक वृद्ध व्यक्ति को मृत्यु दण्ड देकर तुमने केवल बदनामी ही मोल ली है। यदि तुम धैर्य रखते, तो कुछ दिनों में मैं अपने आप मर जाता। स्वाभाविक मृत्यु से कुछ दिन पहले मुझे मारने से तुम लोगों के हाथ क्या लगा? मृत्यु से भागने के कई ढंग हैं, जिन्हें मैं जानता हूँ—रोना, माफी माँगना, अपमान सहना, आदि। किन्तु यदि मृत्यु से जान बचाई भी जा सकती है तो दुष्टता से जान नहीं बचाई जा सकती है, क्योंकि दुष्टता तो मृत्यु से भी तीव्रतर है। मेरे जैसे वृद्ध व्यक्ति को यदि मृत्यु ने पकड़ लिया तो क्या हुआ, तुम्हारे जैसे युवा लोगों को तो दुष्टता ने ग्रस लिया है। मृत्यु मेरे लिए निश्चय ही बुरी वस्तु नहीं है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



क्योंकि जब मैं यहाँ पर घर से आने लगा तो ईश्वरादेश रूप आकाशवाणी ने मुझे आने से मना नहीं किया। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि सदाचारी व्यक्ति का अकल्याण न तो इस जीवन में और न जीवनोपरान्त ही हो सकता है। यह दण्ड मुझे अप्रत्याशित रूप में नहीं मिला है। यही विधि का विधान है। अतः मैं आप सबसे क्रुद्ध नहीं हूँ। आप से मेरी एक प्रार्थना अवश्य है, बड़े होने पर यदि मेरे पुत्र सदाचार की अपेक्षा धनादि को अधिक महत्व दें तो आप उनको भी मेरी ही तरह दण्ड दें। अच्छा, अब आप जीने चलें, और मैं मरने। ईश्वर ही जानता है कि दोनों मे कौन श्रेष्ठ है।"

इसके बाद सुकरात को कारागार भेज दिया गया। संयोग की बात कि सुकरात को मृत्यु-दण्ड देने में एक महीने की देर हो गई, क्योंकि तत्कालीन प्रथा के अनुसार जबतक ईलोज की ओर भेजा हुआ जहाज़ वापस नहीं आ जाता था तब तक एथेन्स में किसी को प्राणदण्ड नहीं दिया जा सकता था। इस बीच सुकरात के मित्रों ने बहुत प्रयत्न किया कि सुकरात कारागार से भागकर किसी सुरक्षित स्थान पर चले जायं। क्रीटो ने कहा, "आप का पलायन न तो कठिन ही है और न धन की अपेक्षा रखने वाला है। आप के न भागने से तो आप के दुश्मनों का ही हित होगा, आप के बच्चे अनाथ हो जाएँगे और आप के मित्रों का महान अपमान होगा कि वे कुछ न कर सके।"

सुकरात का उत्तर वही था जो होना चाहिए। उन्होंने कहा, "मैं जीवन भर विवेक से काम लेता रहा हूँ। लोग क्या सोचते हैं, अथवा क्या कहते हैं, इसकी परवाह मैंने कभी नहीं की। प्रश्न यह है कि क्या भागना मेरे लिए और भागने में सहायता करना तुम्हारे लिए उचित है? यदि कोई मेरे प्रति बुराई करे तो क्या बुराई का बदला बुराई से ही देना चाहिए? जेल से भागना क्या नागरिकों के प्रति अन्याय न होगा? किसी भी राष्ट्र के नियम भले ही बुरे हों, अथवा भले ही उनके पालन में अन्याय होता हो, फिर भी प्रत्येक नागरिक का धर्म है कि वह देश के नियमों का पालन करे। यदि प्रत्येक नागरिक न्याय-अन्याय का फैसला अपने हाथ में ले-ले तो अराजकता फैल जायेगी। राष्ट्र के लिए व्यक्ति का बलिदान करना होता है। राष्ट्र ने हमें जन्म दिया, पालन-पोषण किया, शिक्षा तथा अन्य सुविधाएं प्रदान की। उसके नियमों को हमने धोखे से या विवश होकर नहीं स्वीकार किया वरन् स्वेच्छा से स्वीकार किया है। उन्हें हम भंग नहीं कर सकते। यदि उन्हें भंग कर हम भाग भी जायं तो जहां-कहीं भी जायेंगे लोग हमें अनुशासन हीन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



कहकर हंसेग। क्रीटो! दुर्बल-हृदयता छोड़ो, मृत्यु को एक महान अवसर समझो।"

क्रीटो ने पूछा, "सुकरात! आपकी अंतिम इच्छा क्या है और हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं?" सुकरात ने कहा, "मेरी सबसे बड़ी सेवा तभी होगी जब तुम मेरे उपदेशों को ध्यान में रक्खोगे और आत्मचिन्तन को सबसे अधिक महत्व दोगे।" क्रीटो ने फिर पूछा, "हम तुम्हें किस प्रकार दफन करेंगे?" सुकरात ने हँसते हुए जवाब दिया, "पहले तुम मुझे पकड़ो तो सही। क्या अब भी मैं स्पष्ट न कर सका कि मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ?"

संसार छोड़ने का समय समीप आगया। सुकरात ने स्नान किया, अपने स्त्री बच्चों से बात करके उनको विदा किया और फिर वे शान्त होकर बैठ गये। सूर्यास्त हो रहा था। आज्ञानुसार कारागार के नौकर ने विष का प्याला लाकर सामने रख दिया और बोला, "सुकरात, आशा है तुम अन्य कैदियों की भांति मुझसे नाराज़ न होगे। तुम जैसी महान् आत्मा यहाँ कभी नहीं आई। मैं तो केवल आज्ञा पालन कर रहा हूँ।" विष का प्याला रखकर नौकर रोते हुए बाहर निकल गया। क्रीटो ने कहा, "अभी सूर्यास्त नहीं हुआ है, अभी विष नहीं पीजिए।" सुकरात ने कहा, "जो जीवन समाप्त हो चुका है, उसके दो चार क्षण लोभियों की भांति बचाने से मैं अपनी ही घृणा का पात्र हो जाऊँगा। जो लोग मृत्यु को बुरा समझते हैं वे भले ही ऐसा करें, मैं ऐसा नहीं कर सकता।"

विष का प्याला लेकर सुकरात ने पूछा, "क्या इसमें से थोड़ा मैं देवता को अर्पण कर सकता हूँ?" नौकर ने कहा, "हम लोग इतना ही मात्र देते हैं जितना आवश्यक होता है।" सुकरात ने शान्त चित्त से पूरा विष पी लिया और पूछा, "मुझे क्या करना चाहिए?" नौकर ने कहा "जब तक विष पूर्णरूप से प्रभाव न कर ले तब तक आप थोड़ा घूमते रहें।" जब सुकरात ने विष का प्याला खाली कर दिया तो उसके मित्र अपने को न संभाल सके और फूट-फूट कर रोने लगे। सुकरात ने उन्हें डांटा, "मैं शान्तिपूर्वक मरना चाहता हूँ। इसीलिए मैंने स्त्री-बच्चों को पहले ही भेज दिया, अब तुम लोग औरतों के समान रो रहे हो! शान्त हो जाओ।"

इस प्रकार संसार के एक महान् पुरुष का अन्त हुआ। सुकरात का सारा जीवन ही उपदेशमय है। फिर भी उनकी दो चार शिक्षाओं को संक्षेप में दे देना आवश्यक जान पड़ता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



(१) आत्मा को पूर्णत्व तक पहुँचाना मनुष्य का परम और प्रथम धर्म है।

(२) पहले आत्मा की प्राप्ति करो, उससे सब कुछ प्राप्त हो जायेगा।

(३) धन से जीवन धार्मिक नहीं होता, वल्कि धर्म से धन प्राप्त हो जाता है।

(४) धर्म केवल वाह्याचरण नहीं है, धर्म ज्ञानमूलक होता है।

(५) ज्ञान ही धर्म है और अज्ञान अधर्म।

(६) मैं ज्ञान नहीं सिखाता, ज्ञानी तो केवल ईश्वर ही है। मैं तो लोगों के ज्ञानाभिमान को नष्ट कर उनको अपने अज्ञान का परिचय कराता हूँ। अपने अज्ञान को जानना ज्ञान का प्रथम चरण है।

(७) मनुष्य को अंधे के समान जीवन-यापन नहीं करना चाहिए, जीवन के तत्वों की मीमासा करनी चाहिए। अपरीक्षित जीवन जीने योग्य नहीं।

(८) धार्मिक मनुष्य का कभी भी अशुभ नहीं हो सकता, ईश्वर उसकी रक्षा करता है।

(९) मनुष्य को चाहिए कि वह जिस स्थिति में भी हो, मृत्यु की परवाह न करके कर्त्तव्य का पालन करे। मृत्यु की अपेक्षा अधर्म से अधिक डरना चाहिए।

(१०) किसी कार्य को करते समय मृत्यु की चिन्ता छोड़कर उसके औचित्य और अनौचित्य की चिन्ता करनी चाहिए।

(११) मनुष्य की परवाह न करके ईश्वर के आदेशों का पालन करो।

(१२) मनुष्य अपनी हानि स्वयं आप ही करता है, अपने कार्यों द्वारा। दूसरा मनुष्य मेरी कोई हानि नहीं कर सकता। ईश्वर सज्जन पुरुष को दुर्जन द्वारा पीड़ित नहीं करा सकता।

(१३) मृत्यु की अपेक्षा दुष्टता से बचना कठिन है, अतः मनुष्य को अपनी मृत्यु से अधिक दुष्टता से बचने का प्रयास करना चाहिए।

(१४) बुराई का बदला बुराई से चुकाना कभी उचित नहीं।

(१५) दर्शन का वास्तविक विषय मृत्यु है। सच्चा दार्शनिक मृत्यु के लिए इच्छुक रहता है, क्योंकि दार्शनिक ज्ञान चाहता है और इस शरीर में रहते हुए सच्चे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह नहीं कि आत्महत्या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



करने से हमें मुक्ति मिल सकती है। आत्महत्या से तो जिस ईश्वर ने हमें शरीर-रूपी कारागार में डाला है उसके नियमों का उल्लंघन होगा। ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से मृत्यु का स्वागत करो।

(१६) शारीरिक सुखों और दुःखों के प्रति अनासक्त रहना ही वास्तविक मृत्यु है। आत्मा को शरीर से पृथक् रखने का सतत प्रयत्न ही मृत्यु का अभ्यास है।

(१७) हानि की आशंका से प्रेरित होकर मृत्यु का स्वागत करना वहादुरी नहीं हैं। एक सुख की प्राप्ति के लिए दूसरे सुख का त्याग करना विराग नहीं है। धर्माचरण लोभ या भय पर अवलम्बित नहीं, वल्कि ज्ञान पर आधारित होता है।

(१८) आत्मा अमर है। आत्मा का पुनर्जन्म होता है और मनुष्य के इस जन्म के कर्त्तव्यों के अनुसार उसे दूसरे जन्म में पुरस्कार और दण्ड मिलते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

## ईसामसीह

यहूदी धर्म विश्व के अत्यन्त प्राचीन धर्मों में से एक है। इसी धर्म की कोख से ईसाई धर्म उत्पन्न हुआ। ईसाइयों के पैगम्बर हजरत ईसा यहूदियों के आदि पैगम्बर हजरत इब्राहीम के वंशज थे। इसी परिवार में हजरत ईसा से पहले यहूदियों के प्रसिद्ध पैगम्बर हजरत मूसा ( मोज़ेज़ ) हुए थे। बाइबिल ईसाइयों का धर्मग्रंथ है, जिसके दो मुख्य भाग हैं। ईसा के जन्म से पहले लिखा गया भाग "ओल्ड टैस्टामैंट" के नाम से विख्यात है। उसमें ईसा से पहलें के पैगम्बरों की वाणी एवं विधानों का उल्लेख है। दूसरा भाग "न्यू टेस्टामेंट" के नाम से प्रसिद्ध है। "न्यू टेस्टामेंट" ईसा की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने लिखा। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ८० ई० तक समस्त "न्यू टेस्टामेंट" लिखा जा चुका था।

ईसा ने स्वयं कुछ नहीं लिखा। उनके जीवन-काल में और उनकी मृत्यु के बाद भी अनेक वर्षों तक ईसाई धर्म के प्रचार का मुख्य साधन मौखिक उपदेश ही था। धीरे-धीरे ईसा के शिष्यों ने उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को तथा उनके उपदेशों को लिपिबद्ध करना आरम्भ किया। इन्हीं का संकलन "न्यू टेस्टामेंट" है। ईसा के जीवन के विषय में हमारी जानकारी का मुख्य आधार उनके प्रसिद्ध शिष्य—मैथ्यू, मार्क, ल्यूक और जान द्वारा लिखे गये संस्मरणात्मक लेख हैं जो "पवित्र संदेश" ( गॉस्पेल्स ) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पवित्र संदेशों को पढ़ने से ऐसा नहीं मालूम होता कि इनमें "ओल्ड टेस्टामेंट" के विधानों एवं उपदेशों के प्रति विद्रोह है। इनका दृष्टिकोण सुधारवादी है। फिर भी यह सत्य है कि "ओल्ड टेंस्टामेंट" के यज्ञमय और कर्मकाण्डमय प्रवृत्ति-मार्ग के स्थान पर ईसा के शिष्यों द्वारा वर्णित उनके उपदेशों में मानव प्रेम से ओत-प्रोत भक्तिमय संयास है।

प्रचलित ईसवी संवत् की दृष्टि से चार वर्ष ईसा[1] पूर्व में ईसा का जन्म फिलिस्तीन के एक छोटे से नगर बेथलेहम में हुआ था। बाइबिल के अनुसार माता मेरी की कोख में बालक ईसा ईश्वरीय विधान से आये थे, किसी पुरुष

१. हमारा वर्तमान सन् रोम के एक एवट डायोनीसस एक्सीगुअस ने ५२५ ई० स्थिर किया था। बाद के अन्वेषणों से यह पता चला कि इसमें लगभग चार वर्ष की भूल है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



के सम्पर्क से नहीं। इस प्रकार बालक ईसा का जन्म विश्व की एक विलक्षण घटना थी। परन्तु जन्म ही नहीं, ईसा का समस्त जीवन भी एक विलक्षण घटना सिद्ध हुई। एक अत्यन्त साधारण से उपेक्षित नगर में एक बढ़ई के घर जन्म लेकर और जीवन के प्रथम ३० वर्ष इसी परिवार के एक सदस्य के रूप में व्यतीत कर ईसा एक दिन पैगम्बर के रूप में प्रकट हुए, और तीन वर्ष बाद ही अपने ईश्वरीय संदेश को सुनाकर अपने धार्मिक और नैतिक आदर्शों के लिए बलिदान हो गये। मानव विकास में ईसा के इन तीन वर्षों का अवदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। सैंकड़ों वर्ष बाद, आज भी, विश्व के ईसाइयों के विश्वास उनके उपदेशों के सहारे जीवित हैं, और वे उनके जीवन से प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

स्वाभाविक ही है कि हमारे मन में यह प्रश्न उठे कि ईसा के जीवन के प्रेरक तत्व कौन-से हैं। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर हम ठीक से तब तक न पा सकेगें जब तक हम समाज की उस पृष्ठभूमि को ठीक से न समझ लें जिसमें ईसा का जन्म हुआ था।

फिलिस्तीन उस समय राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक संकटों का शिकार हो रहा था। रोमन शासकों की प्रचंडता से देश आक्रांत था। यदा-कदा उनके आक्रमण होते, लूटमार होती और युवक बन्दी बनाकर दास के रूप में बेचने के लिए ले जाये जाते। धनी और व्यापारी वर्ग इन स्थितियों से लाभ उठा रहे थे। परिणाम यह था कि शासकीय अत्याचार के साथ-साथ शोषण बढ़ रहा था और धनिकों और निर्धनों के बीच की खाई चौड़ी होती जा रही थी। जीवन के प्रति निराशा के साथ-साथ निर्धनों में धार्मिक आदर्शों के प्रति भी निराशा बढ़ती जा रही थी, और धनी उन आदर्शों को वहीं तक पकड़ते थे जहां तक वे उनकी स्वार्थ-पूर्ति के साधनों के रूप में प्रयुक्त किये जा सकते थे।

वैसे ही यहूदी जाति आरम्भ से ही स्वाभिमानी, धार्मिक तथा एकेश्वरवादी थी। मूर्तिपूजा छोड़ने का उपदेश उन्हें सबसे पहले हज़रत इब्राहीम ने दिया था। उनके अन्य पैगम्बरों की "ओल्ड टेस्टामैंट" में संगृहीत जोशीली, बुलंद और सारगर्भित वाणियां उन्हें सदियों से एक सूत्र में बाँधे थीं। आज भी वे हिब्रू भाषा के साहित्य की प्राचीनतम निधि मानी जाती हैं, और विश्व-साहित्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। हज़रत मूसा ने (जिनका समय ईसा से लग-भग एक हज़ार वर्ष पूर्व माना जाता है) यहूदियों को सामाजिक तथा धार्मिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



नियमों का वह विधान दिया था जो प्राचीनता की दृष्टि से द्वितीय स्थान रखता है। पहला विधान वेबीलोनिया के सम्राट हम्मूराबी का माना जाता है, जो २२०० ई पू० के लगभग हुए थे।

उस समय हज़रत मूसा के विधान ही यहूदियों की धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था के आधार थे। यहूदी उन विधानों का अक्षरशः पालन करने का यत्न करते। परन्तु कालक्रम में एक नया ही वर्ग पैदा हो गया, जो "ओल्ड टेस्टामैंट" के इन लिखित कानूनों अथवा विधानों की परिभाषा तथा विश्लेषणात्मक व्याख्या करता। ये फैरिसी कहलाते थे। जीवन की विविध परिस्थितियों में धर्माचरण का जो विधान पुराने पैगम्बरों ने बनाया था, उसका ये लोग अत्यन्त रूढ़िवादी अर्थ करते। और चूंकि ये अर्थ मौखिक ही किये जाते, ये श्रुति के रूप में स्थिर हो गये और इस प्रकार विधानों की एक नई परम्परा बन गई। परिणाम यह हुआ कि धर्मशास्त्र के शाब्दिक अर्थ पर अत्यधिक जोर दिया जाने लगा और धर्माचरण की गहराई की उपेक्षा हो गई। पाप का अर्थ इन विधानों का उल्लंघन करना ही था, और चूँकि विधानों का उल्लंघन हुआ या नहीं हुआ, इसका निर्णय करने वाले ये फैरिसी और पुजारी ही थे, अतः ये लोग जनता पर हावी हो गये थे। लोग सम्भवतः इनसे वचना चाहते थे, पर कोई मार्ग नहीं था। फलस्वरूप इनको सन्तुष्ट करना ही लक्ष्य रह गया और कर्मकाण्ड तथा वाह्याडम्बर ही धर्म-कार्य समझे जाने लगे। आडम्बर इतना बढ़ गया कि लोग घंटों सड़कों पर खड़े होकर प्रार्थना का ढोंग रचते और धर्म-ग्रन्थों को बड़े बड़े तावीज़ों में में रखकर गले में लटकाते। एक और वर्ग भी इनका समर्थन कर रहा था, जो "स्क्राइब्ज" कहलाता था और जो बाइबिल की प्रतिलिपियाँ तैयार करता था। इस प्रकार, एक ईसाई लेखक के अनुसार, जूड़िया का समाज एकदम दम्भियों का समाज बन गया था।

जब समाज के धार्मिक संस्कारों में कुरूपता बढ़ती है तो बाहरी कर्मकाण्ड का प्रचार भी बढ़ जाता है। आत्मा और अन्तःकरण के परिष्कार का प्रश्न पिछड़ जाता है। धार्मिक पद क्रमशः आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थ बन जाते हैं, और ऐसी स्थिति में यदि राज्य-शक्ति का सहयोग मिल जाय तो धर्माचरण तो एक तरफ हो ही जाता है, अंध विश्वासों के अंधेरे में भटकता हुआ सामान्य मनुष्य शास्त्राचार्यों और पुजारियों की दासता में ही जीवन व्यतीत करता है। इतना ही नहीं, धार्मिक अनास्था का मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि ईसा का कार्य केवल लोगों को उपदेश देना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



ही नहीं था। वे अपने व्यक्तित्व के आध्यात्मिक प्रभाव से भूत, प्रेत आदि से पीड़ित विभिन्न प्रकार के रोगियों को भी स्वस्थ कर देते थे।

परन्तु ऐसी विकृत सामाजिक स्थिति में भी आशावादी यहूदी जनता धर्म-ग्रन्थों की उन सूक्तियों पर अपनी आस्था जमाये रही, जिसमें एक नये पैगम्बर के उदय होने की घोषणा की जा रही थी। यही विश्वास व्यवहार में एक सम्राट् के उदय की कल्पना में परिणत हो गया था। उन्हें विश्वास था कि एक शक्तिशाली यहूदी सम्राट् का उदय होने वाला है, जो जेरूसलेम को अपनी राजधानी बनाकर एक महान् राज्य स्थापित करेगा, और रोमनों को खदेड़ कर समाज की व्यवस्था ठीक करेगा। परन्तु यह कौन जानता था कि वह उदय होने वाला सम्राट् "ईश्वर का पुत्र" होगा और लोगों के मन पर शासन करके "ईश्वर का राज्य" स्थापित करने के लिए आयेगा।

ईसा की माता मेरी का विवाह-सम्बन्ध जोसेफ नामक के एक साधारण बढ़ई से हुआ था। मेरी और जोसेफ दोनों ही नजारेथ के निवासी थे। नजारेथ फिलिस्तीन के गेलिली प्रान्त का एक अत्यन्त छोटा सा नगर है, जो उस समय बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। यह नगर सम्राट् हीरोद के राज्य में था। हीरोद रोमन शासक आगस्टस सीज़र के अधीन था। सीजर के आज्ञानुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना नाम आबादी की गणना के सिलसिले में लिखाना पड़ता था। मेरी और जोसेफ भी इसी के लिए निकटवर्ती नगर वेथलहम गये। वहीं रात के समय, एक घुड़साल में ईसा का जन्म हुआ। जन्म के आठ दिन बाद यहूदी परम्परा के अनुसार बालक का नाम जीसस[1] रखा गया।

हीरोद बड़ा अत्याचारी शासक था। बाइबिल में भी इसका वर्णन आत्याचारी शासक के रूप में ही हुआ है। बाइबिल की कथा के अनुसार जीसस के जन्म के बाद हीरोद को एक भविष्यवाणी के द्वारा यह ज्ञात होने पर कि वेथलहम में एक बालक का जन्म हुआ है, जो सम्राट् बनेगा, उसने नगर के समस्त दो वर्ष के छोटे बालकों को मरवा डाला। परन्तु जोसेफ को पहले ही

[1] जीसस लेटिन में ग्रीक यीशु का पर्याय है। यीशु अथवा ईसु हेब्रू भाषा के जेहोशुक्त का पर्याय है, जिसका अर्थ है "जेहोवाह ही मुक्ति है।" क्राइस्ट जीसस की उपाधि है। यह हिब्रू भाषा के शब्द मसीह (मैंसाया) का अनुवाद है। इन्हीं ग्रीक और हिब्रू शब्दों के आधार पर जीसस क्राइस्ट को हिन्दी में ईसामसीह कहने लगे हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



इसका अनुमान हो गया था, अतः जोसेफ और मेरी जीसस को लेकर पहले ही मिस्र चले गये थे। विष्णु पुराण में वर्णित भगवान् कृष्ण के जन्म और कंस के अत्याचार की कथा से वाइविल की इस कथा में अद्भुत साम्य है।

हीरोद की मृत्यु होने के बाद जोसेफ फिलिस्तीन लौट आये और अपने पुराने नगर नजारेथ में रहने लगे।

ऐसा लगता है कि बालक जीसस को गरीबी के कारण स्कूली शिक्षा नहीं मिल सकी और यदि मिली थी तो वह अत्यन्त साधारण थी। फिर भी नज़ारेथ की पहाड़ियों और वनों से तथा अपने आस-पास के सरल जीवन में से उन्होंने उन सव तत्वों को ग्रहण किया जो भविष्य में उनके काम में आनेवाला था। प्रकृति के सौन्दर्य से उन्हें अगाध प्रेम था, और उसके गूढ़ रहस्यों को समझने की उनमें विलक्षण प्रतिभा थी। सामान्य जीवन के अत्यधिक निकट सम्पर्क में रहने के कारण उन्हें सामान्य मनुष्य के विभिन्न प्रकार के दुःखों, चिन्ताओं और अनुभूतियों का परिचय था। और इन सवसे ऊपर मानव स्वभाव को परखने की अद्भुत क्षमता उन्हें प्राप्त हुई थी।

उस समय की सामान्य बोलचाल भाषाएं ग्रीक तथा आरामेक उन्हें खूव आती थीं, साथ ही हेब्रू तथा लेटिन का भी उन्हें साधारण ज्ञान था। घर में अन्य यहूदी बालकों की भांति उन्होंने धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया था और उनके वाक्यों के अर्थ पर धीरे-धीरे अधिकार प्राप्त कर लिया था। परन्तु धर्मग्रन्थों के वाक्यों को तथा उन अर्थों को उन्होंने याद ही भर नहीं किया था, जीसस का सारा जीवन ही इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उन्होंने उन वाक्यों पर भलीभांति मनन भी किया और उनके गहन अर्थ को अपने अन्तस्तल में उतारा। परन्तु जहाँ वे वाक्य उन्हें खटके वहां नम्रता-पूर्वक उन्होंने उनका विरोध किया।

वारह वर्ष की अवस्था में बालक जीसस ने अपने पैतृक पेशे वढ़ईगीरी को सीखना तथा सिनेगाग ( यहूदी गिरजाघर ) में जाना आरम्भ किया। परन्तु इसी समय एक ऐसी घटना घटी, जिससे जीसस की रुचि और संस्कारों का ज्ञान हमें मिलता है। प्रत्येक वर्ष जोसेफ और मेरी यहूदियों के वार्षिक उत्सव में सम्मिलित होने जेरूसेलम जाते थे। इस वर्ष भी गये। जीसस जाते समय उनके साथ थे, पर लौटते समय मेरी ने देखा कि जीसस उनके साथ नहीं हैं। वड़ी खोज के वाद, तीसरे दिन, जीसस एक मन्दिर में शास्त्राचार्यों के साथ तर्क-वितर्क करते हुए मिले। और जव तीन दिनों से परेशान माता मेरी ने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



जीसस के इस प्रकार चुपचाप मंदिर में जाने का कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया, "आपने मेरी खोज ही क्यों की ? क्या आपको यह नहीं मालूम था कि मैं अपने पिता ( परमेश्वर ) के कार्य में व्यस्त मिलूंगा ?" निश्चय ही जीसस उस छोटी-सी अवस्था में ही समाज की विकृत अवस्था पर चिन्तन कर, अपने कार्य को समझ, अपना ध्येय निश्चय कर चुके थे।

इस घटना के वाद जीसस के जीवन के १८ वर्षों का कोई क्रमानुसार वर्णन नहीं मिलता। ऐसा अवश्य समझ में आता है कि उन्होंने इस लम्वे समय को नजारेथ में ही व्यतीत किया। जोसेफ की सम्भवत: मृत्यु हो गई थी, क्योंकि वाद के वर्णन में उनका कहीं नाम नहीं आता, अत: जीसस अपने पिता के पेशे के द्वारा ही "हल और जुआ" वना कर जीविकोपार्जन कर अपना, अपनी माता और भाइयों का भरण-पोषण करते रहे।

परन्तु इस बीच में रोमन साम्राज्य में द्रुतगति से परिवर्तन हो रहे थे। सारे साम्राज्य में विद्रोह फैल रहे थे। शाही परिवार के व्यक्तियों की हत्या तो साधारण-सी वात थी। लालच, क्रूरता, व्यभिचार, अविश्वास और अनाचार का राज्य था। इस अराजकता के साथ अकाल और भूकम्प ने मिलकर साम्राज्य को विपत्ति के गर्त में ढकेल दिया था।

तीस वर्ष की अवस्था में जीसस बप्तिस्मा लेने के लिए जॉन के पास गये। जान जीसस के एक रिश्ते के भाई थे और वप्तिस्मा देने वाले के रूप में प्रसिद्ध थे। जीसस के पैगम्वर के रूप में आने की घोषणा जॉन ने ही की। जॉन आरम्भ से ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे। उन्होंने शराव आदि मादक द्रव्यों को कभी छुआ भी न था। वे एक महान् वक्ता थे। लोग टिड्डी दल की तरह उनका उपदेश सुनने के लिए एकत्र होते थे। वे जार्डन प्रदेश में गये और उन्होंने लोगों को बताया है कि ईश्वर का राज्य निकट है। वे लोगों से अपने पापों का प्रायश्चित करके नया पवित्र जीवन शुरू करने के लिए कहते। इस अन्त:करण की नवीन पवित्रता के वाह्य प्रतीक के रूप में वे लोगों को जार्डन नदी में स्नान करने के लिए आदेश देते ( इसी को बप्तिस्मा देना कहा जाता था ), साथ ही वे बरावर यह आश्वासन देते थे कि निकट भविष्य में पैगम्बर का उदय होनेवाला है जो पानी के स्थान पर लोगों को 'पवित्र आत्मा' से बप्तिस्मा देगा।

जब जीसस जॉन से बप्तिस्मा लेने आये तो जॉन ने उनकी अद्‌भुत प्रतिभा तथा पवित्र और छल रहित आत्मा को पहिचान लिया और चूंकि बप्तिस्मा

६

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



केवल पापी ही लेते हैं, जान जीसस को वप्तिस्मा देने में सकुचाये। फिर भी जीसस ने वप्तिस्मा लिया। जीसस जब पानी से निकले तो उनके मुख-मण्डल पर एक आध्यात्मिक तेज था। बाइविल के अनुसार इसी समय जीसस में 'पवित्र आत्मा' ने प्रवेश किया।

वप्तिस्मा के तुरन्त वाद जीसस वन में चले गये जहाँ चालीस दिन और चालीस रात निराहार रहकर उन्होने विकारों के साथ संघर्ष किया और सांसारिक प्रलोभनों पर विजय प्राप्त की। भगवान वुद्ध को भी वुद्धत्व प्राप्ति के पहले "मार" की चढ़ाइयों का सामना करना पड़ा था, और वे भी निरंजना नदी के तट पर सुजाता के हाथों से खीर खाने के दिन से वुद्धत्व प्राप्ति तक अर्थात् लगभग ४९ दिन तक निराहार रहे थे। इसके अतिरिक्त भी जीसस और वुद्ध के जीवन तथा उपदेशों में कुछ ऐसी समता मिलती है कि कुछ लोग यह अनुमान लगा वैठे हैं कि जीसस, अपने उस १८ वर्ष के अज्ञात काल में, भारत आये थे और यहाँ उन्होंने वौद्ध धर्म का अध्ययन किया था। जो हो, इसे अभी ऐतिहासिक तथ्य नहीं माना जाता।

जीसस का वन में जाना और इतने दिनों तक एकान्त में निराहार रहना इसका द्योतक है कि विकारों के साथ तो वे संघर्ष कर ही रहे थे, साथ ही सम्भवतः वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने कार्य की रूपरेखा भी बना रहे थे। क्योंकि वन से लौटने पर उन्होंने शिष्यों को स्वीकार किया और लगभग जॉन के शब्दों में ही उपदेश देना आरम्भ कर दिया।

शुरू के कुछ मास जीसस ने अधिकतर जूडिया के प्रदेश में ही विताये जहां जॉन लोगों को वप्तिस्मा दे रहे थे। धीरे-धीरे जीसस के उपदेश और चमत्कारों के कारण उनका यश फैलने लगा। जॉन की अपेक्षा उनके पास अधिक संख्या में लोग वप्तिस्मा लेने आते, हालांकि यह कार्य उन्होंने अपने शिष्यों को सुपुर्द कर रखा था। इस बीच में अधिक महत्व की घटनाएँ मंदिरों की सफाई तथा निकोदीमस को शिष्य वनाना हैं। जीसस वार्षिक उत्सव में भाग लेने जेरूसलेम गये थे। हम देख चुके हैं कि धर्म के प्रति आस्था घट चुकी थी, फलस्वरूप जेरूसेलम के मंदिर व्यापार और गंदगी के केन्द्र वन गये थे। जीसस ने इस प्रकार ईश्वर के पवित्र स्थान को अपवित्र करने के लिए लोगों की वड़ी भर्त्सना की और मंदिर को स्वच्छ किया। यह पहला अवसर था जब लोगों ने चली आ रही परम्पराओं के विरोध में और धनी व्यक्तियों के विरोध में अधिकारपूर्ण व्याख्यान सुना। पर बात विल्कुल ठीक थी, केवल साहस न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



होने के कारण धार्मिक प्रवृत्ति के लोग अपने उद्वेगों को दबाये रहते थे। जीसस के साहस पूर्ण उपदेशों का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि फैरिसी लोगों का एक नेता निकोदीमस उनका शिष्य हो गया। अपने साथियों के भय से निकोदीमस रात्रि में जीसस के पास आता, परन्तु धीरे-धीरे उसका विश्वास जमता गया और अन्त में उसने खुलेआम अपने को जीसस का शिष्य घोषित कर दिया।

परन्तु जूडिया में जीसस अधिक दिन न रह सके। जान को हीरोद एन्टीपस ने कैद कर जेल में डाल दिया था। जब जीसस ने सुना तो ये जूडिया छोड़कर गेलिली चले गये। जीसस सम्भवत: व्यर्थ में राज्य से वैर मोल लेना नहीं चाहते थे, उनका मुख्य कार्य तो अभी शेष ही था।

जीसस की कीर्त्ति उनके पहले ही गेलिली पहुंच चुकी थी। जहां-जहां वे जाते लोग उनको घेर लेते और उनके प्रभाव से अपनी व्याधियाँ दूर करते। एक बार जब विभिन्न स्थानों से आई एक भीड़ ने उन्हें घेर लिया तो वे एक पहाड़ी पर चढ़ गये और वहाँ बैठकर उन्होंने वह उपदेश दिया जो "पहाड़ी के उपदेश" के नाम से प्रसिद्ध है। "पहाड़ी का उपदेश" (सर्मन आन द माउण्ट) अत्यन्त सरल परन्तु अर्थगम्भीर वाक्यों में कहा गया वह संदेश है जो तब से आज तक ईसाइयों के नैतिक और धार्मिक मूल्यों की आधार-शिला बना हुआ है। लेकिन वह सिर्फ ईसाइयों के लिए नहीं, अपितु मानवमात्र के लिए है। "पहाड़ी उपदेश" में एक नयी मानव-सभ्यता की कल्पना है, जो प्रेम, त्याग और सत्य पर ही निर्मित हो सकती है। उस समय की मठशाही, अहंकार, असहिष्णुता और ढोंग की उसमें निर्भीक भर्त्सना है। महात्मा गांधी अपनी आत्म-कथा में कहते हैं कि पहली बार के अध्ययन में ही यह उपदेश उनके अन्त:करण में बैठ गया।

इस उपदेश में जीसस ने मन के दीन और दु:खी, दयालु और नम्र, धर्म के भूखे और प्यासे, मेल कराने वाले और सताये जाने वाले लोगों को धन्य कहा है, क्योंकि ईश्वर का राज्य उन्हीं का है। उनका कथन है कि धर्माचरण अन्त:करण की वस्तु है, वाह्याडम्बर से ईश्वर के राज्य में कोई प्रवेश नहीं पा सकता। नैतिक नियमों का पालन इसलिए करना चाहिये कि वे सत्य हैं। दण्ड के भय से नैतिक नियमों के पालन करने से कोई लाभ नहीं। स्त्रियों के प्रति कुदृष्टि की उन्होने भर्त्सना की, और प्रत्येक प्रकार की शपथ को अनुचित बताया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



जीसस ने लोगों को अहिंसा और प्रेम का उपदेश दिया। उन्होंने कहा, "तुम सुन चुके हो कि कहा गया था, कि आंख के बदले आंख और दांत के बदले दांत। परन्तु मैं तुमसे कहता हूँ कि बुरे का सामना न करो, वरन् जो कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे उसकी ओर अपना बायाँ गाल भी फेर दो।"

"तुम सुन चुके हो कि कहा गया था कि अपने पड़ोसियों से प्रेम रखना और अपने वैरियों से वैर। किन्तु मैं तुमसे यह कहता हूँ कि अपने वैरियों से प्रेम करो और अपने सतानेवालों के लिए प्रार्थना करो।" परमेश्वर भले और बुरे, धार्मिक और अधार्मिक दोनों पर समान रूप से सूर्य का प्रकाश डालता है और समान रूप से जलकी वर्षा करता है। जीसस ने कहा "तुम ऐसे पूर्ण बनो, जैसा तुम्हारा स्वर्गीय पिता पूर्ण हैं।"

जो लोग अपने दान की घोषणा करते फिरते हैं और लोगों को दिखाने के लिए प्रार्थना व उपवास करते हैं वे कपटी हैं। जीसस ने कहा, "जब तुम दान करो, तुम्हारा बायाँ हाथ यह न जाने कि दाहिना हाथ क्या करता है।" उन्होंने लोगों को यह आदेश दिया कि वे चुपचाप, हृदय से परमेश्वर से प्रार्थना करें तथा अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगे जिससे परमेश्वर का राज्य पृथ्वी पर आये।

उन्होंने लोगों को अपरिग्रह का उपदेश दिया। "अपने लिये स्वर्ग में धन इकट्ठा करो, जहाँ उसे न तो कोई कीड़े खाते हैं, न अन्य कोई। जहां चोर न तों सेंध लगाते हैं न चुराते हैं।" जहाँ धन है वहीं मन भी लगा रहता है। अतः पृथ्वी पर धन एकत्रित करने से स्वर्ग में मन नहीं लग सकता। जीसस के विधान के अनुसार मनुष्य परमेश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं कर सकता। परमेश्वर पर विश्वास रखना चाहिए क्योंकि वह सबका पिता है। वह हमारी चिन्ता स्वयं करता है। इसलिये जीसस ने कहा "कल की चिन्ता न करो।"

जीसस ने पर-निन्दा को बुरा बताया। दूसरों के दोषों को देखने के पहले अपने को दोषों से मुक्त करना चाहिये। उन्होंने नैतिक मान दण्ड का दिव्य नियम बताया, "जो कुछ तुम चाहते हो कि मनुष्य तुम्हारे साथ करें, तुम भी उनके साथ वैसा ही करो।"

जीसस ने लोगों को मन, वचन और कर्म से सत्य-पालन की शिक्षा दी। उन्होंने बताया कि केवल वही स्वर्ग में प्रवेश कर सकता है, जो केवल वाणी से ही नहीं, कर्म से भी परमेश्वर की इच्छा पर चलता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



यहूदी जनता जिस प्रकार के धार्मिक आदेशों को सुनने की आदी थी, यह उपदेश उनसे भिन्न था। इसमें विद्वत्ता और पांडित्य नहीं था, पर अधिकार था। इसमें वाग्जाल और शब्दाडम्बर नहीं था, पर भावों की गहनता थी। यह लोगों से परमेश्वर की शक्तियों में भरोसा रखने को अपील थी। शास्त्राचार्यों के व्याख्यानों से इसकी तुलना नहीं की जा सकती थी।

अपने शिष्यों के साथ जीसस नगर-नगर, ग्राम-ग्राम और घर-घर पैदल घूमते और लोगों को शांति और शक्ति का, प्रेम और भक्ति का उपदेश देते। गिरजाघरों में, मकानों में, वनों में, झील के किनारे, सड़कों पर सभी जगह भीड़ एकत्र हो जाती और अपनी-अपनी श्रद्धा और विश्वास के अनुसार लोग उनके उपदेशों को ग्रहण करते तथा अपने क्लेशों को दूर करते।

जैसा कि कहा जा चुका है उस समय भूत-प्रेतों पर लोगों का गहरा विश्वास था। लगभग सभी प्रकार की बीमारियों का कारण उन्हीं को माना जाता था। निःसंदेह भूत-प्रेत आदि दुष्टात्माओं में इस विश्वास का कारण आत्मविश्वास तथा सर्वशक्तिमान परमात्मा में विश्वास का न होना ही था। जीसस के सम्पर्क से लोगों में यह विश्वास जगता था। वे लोगों को विश्वास दिलाते कि परमेश्वर सबकी रक्षा करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वह पशु-पक्षियों के लिए भोजन की व्यवस्था करता है।

पैगम्बरों के जीवन और उनकी शक्तियों के विषय में प्रायः कुछ ऐसी बातें कही जाती हैं, जिनपर सहज विश्वास नहीं होता। जीसस के द्वारा किये गये ऐसे अनेक चमत्कारों का उल्लेख बाइबिल में मिलता है। ऐसी कथाओं से कम से कम एक तथ्य अवश्य प्रकाश में आता है, वह यह कि जीवन की पवित्रता और व्यक्तित्व की आध्यात्मिक उच्चता केवल अपने में ही सीमित नहीं रहती। उसका प्रभाव व्यक्ति के बाहर फैलकर वातावरण में भर जाता है, और अपनी अद्‌भुत दैवी क्षमता से परिस्थितियों में अनुकूल परिवर्तन उत्पन्न करता है। जीसस के सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति उनकी इस क्षमता का अनुभव करता था और उनसे शीघ्र प्रभावित हो जाता था। वे लोगों पर केवल आध्यात्मिक तथा मानसिक प्रभाव ही नहीं डालते, बाइबिल की कथाओं के अनुसार वे भौतिक तथा शारीरिक व्यापारों में भी परिवर्तन कर देते थे।

परन्तु ऐसा सोचना गलत है कि जीसस अपने चमत्कारों के द्वारा अपने को मसीहा सिद्ध करना चाहते थे। फरीसियों की लगातार यह माँग थी कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



वे उन्हें कोई चमत्कार दिखायें ,पर वे बराबर इन्कार करते रहे। फिर भी यह सत्य है कि उनके चमत्कारों का यश बड़ी दूर-दूर तक फैला था।

इतना होते हुए भी जीसस को नजारेथ के लोगों ने स्वीकार नहीं किया। नजारेथ में अभी उनकी माता मेरी निवास कर रही थी। गेलिली प्रदेश में घूमते हुए जब जीसस नजारेथ पहुँचे तो वहां के निवासियों ने उनको पहचान लिया। जीसस के उपदेशों को उन लोगों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। विपरीत इसके कि वे जीसस का स्वागत करते, उन्होंने उनका अपमान किया। उनको यह विश्वास ही नहीं होता था कि जोसेफ का लड़का, एक बढ़ई, भी मसीहा हो सकता है। जीसस नजारेथ छोड़कर केपरनाम चले आये और फिर कभी नजारेथ नहीं गये।

जीसस जानते थे कि उनके व्याख्यानों का प्रभाव सभी पर समान रूप से नहीं पड़ रहा है, और अधिकतर लोग उनकी बातों के महत्व को भली भांति नहीं समझ पा रहे हैं। दृष्टान्तों द्वारा अपनी बात समझाने में वे दक्ष थे। उन्होंने उदाहरण दिया कि एक किसान बीज बोने निकला। बोते समय कुछ बीज मार्ग के किनारे गिरे और पक्षियों नें उन्हें चुग लिया। कुछ पथरीली भूमि पर गिरे जहाँ गहरी मिट्टी न मिलने के कारण वे जल्दी उग तो आये, परंतु धूप से जल गये, या जड़ न् पकड़ने से सूख गये। कुछ झाड़ियों में गिरे, और झाड़ियो ने बढ़कर उन्हें दबा डाला। पर कुछ अच्छी भूमि पर गिरे और उनमें फल लग गये—कोई सौ गुना, कौई साठ गुना, कोई तीस गुना।

फिर भी यह आवश्यक हो गया था कि जीसस की शिक्षाएँ लोगों तक पहुँचे और सही रूप में पहुँचे, इसलिए उन्होंने अपने संदेश को अपने शिष्यों द्वारा प्रसारित करना उचित समझा। शिष्यों को चुनना और उन्हें धर्म-प्रचार के लिए भेजना एक बड़ा कार्य था, क्योंकि इससे भविष्य के एक व्यापक धर्म की नींव पड़ रही थी। अतः जीसस एक पर्वत पर चले गये और वहाँ चिन्तन, मनन और प्रार्थना में सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत की। प्रातः काल उन्होंने बारह शिष्यों को अपने संदेश-वाहक के रूप में चुना। जो शिष्य चुने गये वे सभी साधारण परिवारों के थे तथा साधारण व्यवसायों के थे। उनमें से चार तो मछुए ही थे। उनके जाने के पहले जीसस ने उन्हें आदेश दिया कि वे मार्ग के लिए किसी प्रकार का प्रबंध न करें। पिता परमेश्वर सभी स्थानों पर उनकी मदद करेगा। मार्ग में सज्जन व्यक्तियों के यहाँ ठहरें। जीसस ने बताया कि परमेश्वर अंतरात्मा के माध्यम से बोलता है (मेथ्यू, १०:२०) अतः विपत्तियाँ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आने पर वे परमेश्वर के आदेश को अन्तरात्मा से पूछें। उन्होंने शिष्यों को व्यर्थ के वैर-भाव से बचने के लिए कहा। धर्म-प्रचार में हिंसा और दवाव का उन्होंने निषेध किया। जो सत्य पर टिकता है, उसकी विजय समय से पहले ही हो जाती है। उन्होंने शिष्यों को स्पष्टवक्ता, साहसी और ईमानदार बननें का उपदेश दिया।

यह नहीं समझना चाहिए कि जीसस दूसरों का धर्म-परिवर्तन करना या करवाना चाहते थे। उनका लक्ष्य कोई दूसरा नवीन धर्म चलाना भी नहीं था। धर्म-परिवर्तन के लिए तो उन्होंने फरीसियों और शास्त्रियों की अत्यधिक निन्दा की थी, जो दूसरों को अपने धर्म में लाने के लिए जमीन-आसमान एक किए रहते थे (मेथ्यू २३:१५)। केवल इतना ही नहीं, उन्होंने अपने शिष्यों को यह स्पष्ट आज्ञा दी कि वे अन्य धर्मावलम्बियों की ओर न जायें, न उनके नगरों में प्रवेश करें (मेथ्यू १०:५)। उनका लक्ष्य केवल उन इसराइलियों को ही धर्म के मार्ग पर लाना था, जो बाह्याडम्वर में भटक गये थे (मेथ्यू १०:६)। वास्तव में वे कर्मकाण्ड और ढोंग के स्थान पर ईश्वर और मानव के प्रति प्रेम की स्थापना करना चाहते थे। वे धार्मिक प्रलाप से धार्मिक आचरण को अधिक महत्व देते थे। वे जानते थे कि आचरण में सत्य, त्याग और प्रेम को उतारना अत्यधिक कठिन कार्य है और शिष्यों की अधिक संख्या इस संकीर्ण मार्ग पर उनके साथ न चल सकेगी, इसीलिए उन्होंने अपने निकट के शिष्यों की संख्या को हमेशा परिमित रखा।

परन्तु एक ओर जहाँ उनका प्रभाव साधारण जनसमुदाय में तेज़ी से बढ़ रहा था, वहीं धार्मिक अधिकारियों, शास्त्रियों और फरीसियों में उनका विरोध भी बढ़ता जा रहा था। वे सावधान होकर समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। यह स्पष्ट था कि जीसस की शिक्षाएँ इन्ही पर सीधा आघात कर रही थीं। परम्परा की दासता को तोड़कर सहज रूप से अपने को धर्म का अधिकारी कहने वाले जीसस से उनका क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था।

जीसस अपने विरोधियों की शक्ति को भली भांति जानते थे। दण्डशक्ति और अर्थशक्ति दोनों ही विरोधियों का साथ दे रही थीं और वे जानते थे कि जनसाधारण इतनी जल्दी परम्पराओं को छोड़ नया जीवन नही स्वीकार कर सकेगा। लोगों को वरगलाने में तथा उन्हें उत्तेजित करने में उनका विश्वास नहीं था, क्योंकि सदाचार और प्रेम तो उनके मत का आधार ही था। अतः एक ही परिणाम उन्हें दिखाई दे रहा था—उनका अपना बलिदान।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



यह सब होते भी उनकी सक्रियता मन्द नहीं हुई, न उनकी स्पष्टवादिता में कोई कभी आई। उन्हें प्रतीत हो रहा था कि लक्ष्यपूर्ति के साधन रूप में अपना बलिदान करना पड़ेगा।

सदैव की भांति इस वर्ष भी जीसस यहूदियों के वार्षिक उत्सव में योग देने के लिए जेरूसलेम गये। जेरूसलेम में विभिन्न प्रदेशों के लोग एकत्र थे। जब लोगों ने सुना कि जीसस, जिन्हें वे "नजारेथ के मसीहा" कहते थे, भी आ रहे हैं तो उन्होंने जीसस के स्वागत की जोरदार तैयारियां की। जेरूसलेम में प्रवेश करते समय जीसस के दर्शनार्थ आई अपार भीड़ ने एक जुलूस का रूप धारण कर लिया। लोगों के द्वारा किये गये इस तरह के स्वागत को देखकर जीसस के विरोधी ईर्ष्या से जल गये और उनकी हत्या का षड्यन्त्र करने लगे। फिर भी उनके लिए इस समय अपने विरोध को प्रकट करना और खुलेआम जीसस को पकड़वाना संभव न था, क्योंकि नगर में गेलिली प्रांत के आये हुए तीर्थयात्रियों की संख्या अधिक थी और बलवा होने का खतरा था। अतः उन्होंने जीसस को चुपचाप निर्जन स्थान में पकड़ना ठीक समझा। नगर के मुख्य पुरोहित ने तीस चांदी के सिक्कों का लालच देकर जीसस के एक शिष्य को इस शर्त पर मिला लिया कि वह जीसस को रात्रि में पकड़वा देगा।

उत्सव के दिन संध्या के भोजन के उपरान्त जीसस जेरूसलेम के निकट एक वन में अपने कुछ शिष्यों के साथ गये। वे अत्यन्त दुःखी थे और उनका हृदय भरा हुआ था, संभवतः अपने शिष्यों से वे जो कुछ आशा करते थे, उसका उल्टा ही उन्हें दिखलाई दे रहा था। उसी वन में रात्रि के समय प्रमुख पुरोहित के व्यक्तियों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया।

परन्तु जीसस ने कोई अपराध तो किया नहीं था, अतः पुरोहित उन्हें रोमन कानून के शिकंजे में लाना चाहता था। यह तभीं संभव हो सकता था जब जीसस सभी के सामने अपने को मसीहा घोषित करते। यहूदियों के मसीहा का स्थान सम्राट से कम नहीं होता था, और जीसस के अपने को मसीहा घोषित करने का तात्पर्य सम्राट को चुनौती माना जाता।

पुरोहित और शास्त्रियों की सभा में जीसस को पेश किया गया। उन्होंने अपने को मसीहा स्वीकार किया। बस विरोधियों का काम बन गया। उन्होंने जीसस को जी भर अपमानित किया और वहां के रोमन गवर्नर पाइलेट के पास ले गये। पाइलेट जानता था कि जीसस लोगों की ईर्ष्या के शिकार हो रहे हैं, अतः वह जीसस को सजा नहीं देना चाहता था, परंतु उन परिस्थितियों में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



उन्हें मुक्त करना भी उसके लिए सम्भव न था। अन्त में इसकी जिम्मेदारी उसने लोगों पर छोड़ना ठीक समझा। उसने उपस्थित भीड़ से पूछा कि वे जीसस को क्या करना चाहते हैं। भीड़ ने चिल्ला कर कहा, "सूली पर चढ़ाओ"।

जीसस को जिस प्रकार का मृत्यु दण्ड दिया गया उसे क्रूसीफिक्शन कहते हैं। ऐसे अपराधी को एक वड़े क्रास को स्वयं लाद कर ले जाना पड़ता था। दण्डस्थल पर उसी क्रास पर, हाथों तथा पैरों में कील गाड़ कर, अपराधी को टांग दिया जाता था और क्रास को एक ओर से जमीन में गाड़ कर सीधा खड़ा कर दिया जाता था। अपराधी की मृत्यु हो जाने पर क्रास उतार कर अपराधी को दफना दिया जाता था।

जीसस को बुरी तरह अपमानित तो किया ही गया, उनके सिर पर उनका मज़ाक उड़ाने के लिए कांटों का ताज पहनाया गया। अपने क्रास को जीसस अधिक दूर तक न लेजा सके और बेहोश हो गए। सिपाहियों ने एक अन्य व्यक्ति साइमन से क्रास को निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचवाया। जीसस के हाथों और पैरों में कील गाड़कर उन्हें क्रास पर लटका दिया गया। उसी पर लटके-लटके उनकी मृत्यु हो गई। मरने से पहले उनके शब्द थे "हे पिता, मैं अपनी आत्मा तेरे हाथों में अर्पित करता हूँ।"

आक्रांत और भयभीत जीसस के शिष्य इधर-उधर भाग गये। जो साहसी थे वे उनकी मृत्यु के समय उपस्थित थे, पर उन्होंने विरोध नहीं किया। संभवतः इस प्रकार विरोध न करने का जीसस का आदेश रहा होगा। जूडास, जिसने जीसस को धोखा देकर पकड़वाया था, अपने कृत्य से बाद में बड़ा दुःखी हुआ और फांसी लगाकर उसने अपने जीवन का अंत कर दिया। पर जीसस ने जो ज्योति अपने शिष्यों को दी थी वह बुझी नहीं। उनकी मृत्यु के कुछ ही सप्ताह बाद उनके कुछ शिष्य जेरूसलेम में एकत्र हुए। जीसस के प्रति प्रेम, भक्ति, श्रद्धा और अगाध विश्वास उन्हें एक सूत्र में बाँधे था। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि जीसस की मृत्यु नहीं हुई है, वे जीवित हैं। उन्हें यह भी पूरा विश्वास था कि जीसस पुनः मसीहा के रूप में उनके बीच में लौटेंगें। उनके इस विश्वास की दृढ़ता ने ही उस समय ईसाई धर्म की नीव डाली और इसी विश्वास के आधार पर ईसाई धर्म पल्लवित और विकसित हुआ।

जीसस यदि चाहते हो तो अपने को इस क्रूर और कष्टदायक मृत्यु से बचा सकते थे। उस समय उनकी अवस्था केवल तेंतीस वर्ष की थी। परन्तु अपने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आदर्श उन्हें अपने जीवन से अधिक प्रिय थे। वे समाज और व्यक्ति के जीवन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन चाहते थे, परन्तु अराजकता या हिंसात्मक विद्रोह के वे घोर विरोधी थे, क्योंकि ऐसी स्थिति में धार्मिक और नैतिक जीवन टिक नहीं सकता। जिस क्रांति की वे कल्पना कर रहे थे वह स्वयं कष्ट सहन कर दूसरों में हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा ही लाई जा सकती थी। उस क्रांति का आधार जीवन-शुद्धि और प्रेम का अधिकतम विस्तार था। उन्होंने देखा कि उनकी वाणी लोगों को उस अनैतिक और अस्वाभाविक जीवन से ऊपर उठाने के लिए पर्याप्त नहीं है। उन्हें विश्वास था कि जो कार्य उनके उपदेश नहीं कर सके, वह उनके बलिदान से पूरा होगा। "क्रूसीफिक्शन" का वह दृश्य आज भी जब हमारे मानस-पटल पर आता है तो जीसस का सारा उपदेश मानो एक साकार प्रतिमा के रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। संभवतः कभी भी समय का प्रभाव उस चित्र की रेखाओं को धुँधला न कर सकेगा। सत्य, शांति और प्रेम के दूत ने असत्य, हिंसा और घृणा की शक्तियों के समक्ष अपने जीवन की बलि दी थी, अपने आदर्शों की नहीं।

जीसस की वाणी में ओज और अधिकार था, परन्तु उनका स्वभाव अत्यंत मृदु एवं सरल था। वे बालकों के समान निश्छल थे, और बनावटीपन से कोसों दूर भागते थे। जनमानस पर उनके प्रभाव की व्यापकता का मुख्य कारण उनका व्यक्तित्व और उनके उपदेश थे। वे लोक-भाषा में धर्माचरण का आख्यान करते और क्लिष्ट विषयों को समझाने के लिए सामान्य जीवन की सरल कहानियाँ चुनते; साथ ही उन्हें सरल दृष्टान्तों से हृदयंगम करा देते इस प्रकार उनके उपदेश दृष्टान्तों के सागर बन गये। उनके कहे हुए वाक्य इतने छोटे और निश्चित अर्थ वाले होते कि उनमें अस्पष्टता का प्रश्न ही नही उठता।

उन्होंने राज्य के कानून और हजरत मूसा के विधानों के विरुद्ध लोगों को कभी नहीं उभाड़ा, फिर भी वे स्वतंत्र चिन्तन और मनन को पसन्द करते थे, और इनके लिए दूसरों को प्रोत्साहित करते थे। संध्या के भोजन के उपरान्त कभी समय मिलता तो वे लोगों के बीच बैठकर धार्मिक चर्चा करते, और लोगों के दृष्टिकोणों भी सुनते। वे मानव-समाज को अपना कुटुम्ब मानते थे, और छोटे से छोटे की भी सेवा में सदा तत्पर रहते थे।

उनमें अहमन्यता का भाव छू भी नहीं गया था। वे दूसरों में भी कभी छोटे-बड़े का भेद नही करते थे। एक बार जब उनके शिष्यों में आपस में इस बात पर झगड़ा होने लगा कि उनमें से कौन बड़ा है तो जीसस ने स्वयं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



पानी से प्रत्येक के पैर धोकर तौलिये से साफ किये और बोले कि जब मैं तुम्हारे पैर धो सकता हूं तो तुम में से भी प्रत्येक को एक-दूसरे के पैर को धोना चाहिए। समानता और प्रेम का यह पाठ क्या वे शिष्य कभी भूल सके होंगे ?

जीसस अत्यन्त भावुक और दूसरों के दुःखसे दुःखी हो जानेवाले थे। जीवन तो उनका दूसरों की सेवा में बीता ही, परन्तु अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे समाज की दशा के कारण अत्यन्त दुःखी थे। जेरूसलेम में प्रवेश करते समय जेरूसलेम को देखकर वे रोने लगे। लोगों का नैतिक पतन ही इसका कारण था। उसके बाद अन्त समय तक अनेक बार उन्होंने कातर स्वर में ईश्वर से लोगों के पापों को क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना की।

यों वे अत्यन्त धैर्यवान, साहसी और स्पष्टवक्ता थे। वे देश की परिस्थितियों पर एकान्त में मनन करते रहे और तभी कुछ कहा जब उन्होंने देखा कि कहने का उपयुक्त समय आ गया है। उनका लक्ष्य धर्म के बाह्याडम्बर को दूर करना तथा लोगो के अन्तःकरण में धर्म के स्वरूप को बैठाना था। वे लोगों को ऐसे जीवन की प्रेरणा देना चाहते थे जो स्वार्थ पर नहीं वरन् प्रेम और सहज स्वाभाविकता पर पलता है। नैतिक आचरण, आपस में प्रेम और ईश्वर में दृढ़ भक्ति के राज्य को वे ईश्वर का राज्य कहते थे। उस समय ऐसा करना शास्त्रियों और फरीसियों से टक्कर लेना था, पर उन्होंने स्पष्ट कहा, "हे कपटी शास्त्रियों और फेरीसियो, तुम चूनाफिरी कब्रों के समान हो जो ऊपर से तो सुन्दर दिखाई देती हैं, पर भीतर मुर्दों की हड्डियों और सब प्रकार की मलिनता से भरी हैं (मैथ्यू २६:२७)" "हे अन्धे फैरिसी ! पहले कटोरे और थाली को भीतर से मांज ताकि वे सिर्फ बाहर से ही स्वच्छ न हों' (मैथ्यू २६:२६)।

जीसस चाहते थे कि मनुष्य स्वयं सत्यासत्य का निरूपण करे और उसके अन्दर यह साहस उत्पन्न हो कि वह अपने देखे सत्य पर टिक सके। वह चोरी से केवल इसलिए न बचे कि पुलिस उसे पकड़ेगी वरन् इसलिये कि वास्तव में वह उसे नैतिक पतन समझे। वे लोगों से अपने अन्तः करण की आवाज़ सुनने के लिये कहते, परन्तु ऐसे अन्तः करण की आवाज़ जो ईश्वर-भक्ति, मानव-प्रेम और नैतिकता के द्वारा भ्रम-रहित और स्वच्छ हो चुका है।

जीसस ने जिस ईश्वर का स्वरूप लोगों को समझाया वह उस क्षमाशील तथा उदार-हृदय पिता के समान है, जो अपनी संतान के पापों को पश्चाताप करने पर शीघ्र क्षमा कर देता है। जीसस की दृष्टि में कर्मकाण्ड का अभाव ही पाप नहीं है, पाप वह भी है जो मनुष्य को ईश्वर से दूर ले जाता है और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



उसे स्वर्ग के राज्य में प्रवेश के अयोग्य बना देता है। इसमें जीसस ईर्ष्या, द्वेष, असंतोष, घृणा, दम्भ, नैतिकता के प्रति उदासीनता आदि को गिनाते हैं। दुःख का कारण जीसस पाप को ही मानते हैं।

अच्छे कर्मों का परिणाम अवश्य ही अच्छा होगा और अंत में, जीसस के अनुसार, प्रलय के समय "निर्णय का दिन" होगा, जब सभी पवित्र आत्माओं को अपवित्र आत्माओं से अलग किया जायेगा और उन्हें स्वर्ग के सुख प्राप्त होगें। इसके विपरीत अपवित्र आत्माओं को प्राप्त होंगे कष्ट और यातनायें।

धर्माचरण और नैतिक जीवन का मार्ग अत्यन्त संकीर्ण है। उसमें पथभ्रष्ट होने की सम्भावना अधिक होती है, इसलिये जीसस ने उसके लिए एक निश्चित मापदण्ड दिया है। उनसे जब पूछा गया, "आप के विधान में सबसे बड़ी आज्ञा कौन-सी है?" तो उन्होंने उत्तर दिया, "तू तन और मन से, प्राण और बुद्धि से प्रभु परमेश्वर से प्रेम कर। बड़ी और मुख्य आज्ञा तो यही है और उसी के समान दूसरी आज्ञा यह भी है कि तू अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम कर।" (मैथ्यू २३ : ३७, ४०)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# मुहम्मद साहब (५७०-६३२ ई०)

दुनिया के जिन धर्मों ने मानव जाति के बड़े समुहों को प्रभावित किया है, उनमें इसलाम का अन्यतम स्थान है। इसलाम का जन्म अरब देश में हुआ, किन्तु धीरे-धीरे यह मिस्र, फारस, अफगानिस्तान, तुर्की, मध्य एशिया, चीन, हिन्दुस्तान आदि में फैल गया। आज मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या इसलाम धर्म को मानती है। मुहम्मद साहब इस प्रसिद्ध धर्म के प्रवर्तक थे।

मुहम्मद साहब के महत्व को ठीक से समझने के लिये यह जानना जरूरी है कि उनके आगमन से पूर्व अरब देश की क्या स्थिति थी। वस्तुतः उस समय अरब का प्रायद्वीप हर तरह से पिछड़ा हुआ था। मुहम्मद साहब का जन्म सन् ५७० में मक्का में हुआ। उन दिनों वहां तरह-तरह की मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। पत्थर पेड़, बालू के टीले सबकी पूजा की जाती थी। हर घर में तरह-तरह की मूर्तियां अलग पूजी जाती थी। इसके अलावा अरब निवासी बाहरी सम्पत्ति तथा शारीरिक सुखों में बड़े आसक्त थे। पुनर्जन्म अथवा मृत्यु के बाद के जीवन में उनका विश्वास नहीं था। लोग अपने को भले-बुरे कामों के लिए जिम्मेदार नहीं समझते थे। वे भूत-प्रेत में विश्वास करते थे, और प्राय: बीमारियों का कारण वैसी सत्ताओं को बताते थे। स्त्री-पुरूषों के सम्बन्ध अनियन्त्रित थे। स्त्रियों की दशा बड़ी खराब थी, स्त्री के कोई अधिकार नहीं थे और वह पुरुष की दासी मात्र समझी जाती थी। सम्पत्ति में उसका कोई भाग नहीं था। इसके अतिरिक्त उस समय की राजनैतिक व्यवस्था भी ठीक नहीं थी; कानूनी शासन का अभाव था, और समाज में जिसकी लाठी तिसकी भैंस का नियम था। अरब लोग एक ही भाषा बोलते थे, फिर भी उनके बीच बड़ी फूट थी। एक कबीला दूसरे कबीले से, एक कुटुम्ब दूसरे कुटम्ब से छोटी-छोटी बातों पर लड़ता-झगड़ता रहता था। ऐसी स्थिति में दुर्बल की कोई पूंछ नही थी। विधवा स्त्रियों तथा अनाथ बालकों की हालत तो बहुत ही खराब थी।

ऐसे लोगों के बीच मुहम्मद साहब का जन्म हुआ। जन्म से ही वे पिता के सुख से वंचित, अनाथ बालक थे। छै वर्ष के होते-होते उन्होंने माता को भी खो दिया। वे कुरैश नाम के ऊंचे कुल में पैदा हुए थे, फिर भी उन्हें बचपन में पढ़ना-लिखना नहीं सिखाया गया। कुछ दिनों तक बालक मुहम्मद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



ने भेड़ें चराईं उस समय अरब में अच्छे-अच्छे लोग यह काम करते थे। बाद में वे व्यापार करने लगे। मुहम्मद की सबसे बड़ी विशेषता उनकी ऊंचीं नैतिकता तथा चरित्र था। प्रायः वे सब से अलग रहते, उनकी जिन से मित्रता हुई वे सभी ऊंचे चरित्र वाले थे। वे सत्य के बड़े प्रेमी थे। शुरू के चालीस वर्षों तक सामान्य जीवन व्यतीत किया। इस समय तक उन्हें कोई ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त नहीं हुई। इस अवधि में उनका आचार निष्कलंक तथा निष्कलुष था। अपनी सचाई, ईमानदारी, न्यायप्रियता आदि गुणों के कारण उन्हें यौवन काल में अल-अमीन की उपाधि मिली, जिसका अर्थ होता है श्रद्धाशील।

बचपन से मुहम्मद को मूर्तिपूजा से घृणा थी। शुरू से ही वे एकान्त-सेवी तथा विचारशील थे। उनके समाज में शराबखोरी खूब प्रचलित थी, किन्तु मुहम्मद ने कभी शराब नहीं पी। उनके घनिष्ठ मित्र अबूबक्र ने भी कभी सुरापान नहीं किया। मुहम्मद ने कभी जुआ भी नहीं खेला, जिसका मक्का में उस समय आम रिवाज था। उनके आस-पास के लोग झगड़ा-फसाद तथा युद्ध पसन्द करते थे। मुहम्मद को इस प्रकार के कामों में कोई रुचि नहीं थी। बीस वर्ष की अवस्था होने तक उन्होंने हथियार चलाने में बिल्कुल रुचि नहीं दिखाई। उनमें धन-सम्पत्ति का लोभ भी नहीं था।

बालकपन से मुहम्मद की सबसे बड़ी विशेषता थी, गरीबों तथा दुखियों से प्रेम। अनाथ बच्चे, विधवायें, गुलाम (दास) तथा दूसरे दुर्बल व असहाय लोग उनके प्रेम तथा चिन्ता के सहज भाजन थे। पच्चीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने एक अमीर विधवा स्त्री से विवाह किय। उसके बाद वे और भी मुक्तहस्त होकर गरीबों की मदद करने लगे। उनकी पत्नी का नाम खदीजा था, और वे उम्र में मुहम्मद से बड़ी थीं। जब शुरू में उन्हें भगवान का आदेश मिला, तो उन्हें अपने प्रति बड़ा सन्देह था। "मैं ऐसे ऊंचे आदेश का पालन कर सकूंगा या नहीं"? किन्तु उनकी पत्नी ने उन्हें आश्वासन दिया और उनका हौसला बढाया।

मुहम्मद में पतित मानवता के लिये बड़ी चिन्ता थी। अरबों की दशा देखकर वे बड़े दुखी होते, और अक्सर पहाड़ों पर एकान्त में जाकर चिन्तन करते। एक पहाड़ी गुफा में बैठे हुए उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा का प्रकाश मिला। प्रारम्भ में उन्हें अपनी योग्यता में अविश्वास था, किन्तु धीरे-धीरे यह अविश्वास इस पक्की आस्था में बदल गया कि अन्त में ईश्वरीय शक्ति की विजय होगी। इसके बाद के वे उत्साह, संकल्प एवं दृढ़ता के साथ अपने लक्ष्य-साधन में जुट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



गये। उन्हें इसकी परवाह नहीं थी कि अरब लोग उनका विरोध करेंगें। उनका संदेश सिर्फ अरबों के लिए नहीं, अपितु सारी मानव जाति के लिए था। उन दिनों मक्का एक ऐसा केन्द्र था जहां समूचे अरब के लोग, हजारों की संख्या में, आया करते थे। इस प्रकार यहां से पैगम्बर मुहम्मद का संदेश सम्पूर्ण अरब मे फैल सकता था।

मुहम्मद की पत्नी प्रथम व्यक्ति थीं जिन्होंने उनके मत को स्वीकार किया। इसके बाद मुहम्मद के बहुत से मित्र उनके अनुयायी बन गये। यह इस बात का प्रमाण है कि मुहम्मद का चरित्र शुद्ध व पवित्र था, क्योंकि मित्रों से चरित्र को छिपाना संभव नहीं होता।

मुहम्मद को शुरू में सामन्य सत्यों का इलहाम हुआ—ईश्वर एक है, और उसकी शक्ति तथा प्रताप अनन्त है; यह निश्चित है कि ईश्वर एक दिन हमारे अच्छे-बुरे कर्मों का निर्णय करेगा।

शुरू में कुरेश लोगों ने मुहम्मद की शिक्षाओं का उपहास किया। उन्होंने मुहम्मद के प्रति अवज्ञा दिखाई और उन्हें पागल समझा। किन्तु उसके बावजूद दो-दो, तीन-तीन करके मुहम्मद के अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई; धीरे-धीरे यह संख्या चालीस हो गई। उनके अनुयायियों को कष्ट दिया जाने लगा। सबसे पहले दास अनुयायियों की बारी आई। बिलाल नाम के एक नीग्रो दास को जबरदस्ती मध्य दोपहरी में जलती हुई रेत पर लेटने को विवश किया गया। फिर भी वह इस बात पर अड़ा रहा कि ईश्वर एक है। विरोधियों के अत्याचारों से परेशान होकर ग्यारह स्त्री-पुरुष एबीसीनिया चले गये। वहां मुहम्मद के विरोधियों ने कोशिश की कि उन अनुयायियों को वहां से शासक द्वारा निकलवा दिया जाय, किन्तु इसमें वे सफल नहीं हुए। अगले वर्ष और अधिक मुसलमान एबीसीनिया में गये।

अब कुरेश लोगों ने कोशिश की कि वे मुहम्मद को उनके खान्दान द्वारा परित्यक्त घोषित करा के मार डालें, किन्तु वे इसमें सफल न हो सके। उन्होंने सम्पत्ति, हुकूमत आदि का प्रलोभन देकर मुहम्मद को वश में करना चाहा, किन्तु इस रूप में भी उन्हें सफलता न मिली।

मक्का-निवासियों के विरोध से दुखी होकर मुहम्मद साहब अरब के एक दूसरे नगर ताइफ में गये। वहां उनसे और भी बुरा व्यवहार किया गया। जब वे लौट रहे थे तो उन पर पत्थर फेंके गये। वे पुनः मक्का लौट आये। उन्होंने चुपचाप, उलाहने के साथ, भगवान से प्रार्थना की। लोग मुहम्मद की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



बात नहीं मान रहे थे, फिर भी उन्हें अपने संदेश की सत्यता में, और उसकी चरम विजय में, पक्का विश्वास था। भगवान सबसे बड़ी शक्ति हैं, समूचे संसार का विरोध नगण्य तथा व्यर्थ है।

मुहम्मद साहब ने, ऐसी ही विषम परिस्थितियों में, तीन वर्ष मक्का में बिता दिये। इसी बीच उनका धर्म मदीना शहर में तेजी से फैल रहा था। संदेश-प्राप्ति के तेरहवें वर्ष में ७५ आदमी मदीना से मक्का आये। उन्होंने मुहम्मद साहब को मदीना आने के लिए आमन्त्रित किया। अब मुहम्मद के अनुयायी मदीना प्रस्थान करने लगे। इस बीच में फिर मुहम्मद के प्राण लेने की असफल कोशिश की गई। सन् ६२२ ई० में मुहम्मद साहब मदीना पहुंच गये। वहाँ उन्होने एक मस्ज़िद का निर्माण किया, जहां सब लोग मिलकर नमाज़ पढ़ते थे। उन्होंने मदीना में रहने वाले विभिन्न कबीलों में मित्रता स्थापित करने की सलाह दी, और इस प्रकार समस्त मुसलमानों को भाईचारे के सूत्र में आबद्ध किया।

मदीना में मुहम्मद ने यहूदी लोगों के साथ सन्धि की। इस सन्धि में यह तय किया गया कि (१) मुसलमान और यहूदी एक जाति के रूप में मिलकर रहेगें; (२) वे लोग अपने-अपने मतों को मानते रहेगें; (६) किसी तीसरी पार्टी से युद्ध होने पर वे एक दूसरे की मदद करेगें; (४) मदीना पर आक्रमण होने पर दोनों मिलकर रक्षा करेगें; (५) दोनों एक दूसरे से राय करके दुश्मन से सन्धि करेगें; (६) मदीना दोनों के लिए पवित्र नगर होगा, जहां आपस में झगड़ा नहीं किया जायगा; और (७) किसी बात पर मतभेद होने पर पैगम्बर मुहम्मद का निर्णय अन्तिम माना जायगा।

आखिरी शर्त इस बात का प्रमाण है कि अपने-पराये सभी लोगों को मुहम्मद साहब की न्यायप्रियता में पूरी आस्था थी।

मुहम्मद साहब को ईश्वर से यह सूचना मिली थी कि उन्हें इसलाम की रक्षा के लिये लड़ाइयां लडनी पड़ेंगी। वे स्वभावतः युद्धप्रेमी नहीं थे। पचपन वर्ष की अवस्था तक उन्होंने कभी तलवार का उपयोग नहीं किया था। वस्तुतः जिस इसलाम की उन्होंने कल्पना की थी वह शान्ति का धर्म था : इसलाम शब्द का अर्थ है शान्ति अथवा विनम्रता। इसलाम में भगवान की प्रार्थना और मानवता की सेवा इन दो चीजों पर गौरव था। कुरान में कहा गया है :—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



यह सत्य प्रभु से प्राप्त हुआ है, जो चाहे उसमें विश्वास करें, जो न चाहे उसमें विश्वास न करें (१८, २९)

हमने मनुष्य को रास्ता दिखाया है, उसके लिए वह कृतज्ञ हो अथवा न हो (७६, ३)

धर्म में बरजोरी (विवश) करना नहीं है (२, २५६)

किन्तु मुहम्मद को लाचार होकर युद्ध करना पड़ा, क्योंकि उनके अनुयायियों पर अत्याचार करने के प्रयत्न हो रहे थे। उनका दोष यही था कि वे सिर्फ अल्लाह या ईश्वर को मानते थे और उसी के आगे सिर झुकाते थे। कुरान में लिखा है :—

अल्लाह की राह में उनसे लड़ो जो तुमसे लड़ते हैं, किन्तु सीमा का उल्लघंन मत करो। जो सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं, वे अल्लाह को प्रिय नहीं होते। (२, १९०)

कुरान में यह भी सिखाया है कि उस शत्रु के साथ जो शान्ति चाहता है, शान्ति स्थापित कर लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि यथाशक्ति शान्ति को ही अपनाना चाहिए। कुरान के शब्द है :

और यदि वे शान्ति की ओर झुकें तो तुम भी उसकी ओर झुको और खुदा में विश्वास करो। यदि वे तुम्हें धोखा देना चाहें, तो समझो कि तुम्हारे लिए अल्लाह का भरोसा पर्याप्त है। (८, ६१-६२)

कुरेश लोग अक्सर छोटी-छोटी टुकड़ियां मार-पीट के लिये भेजते रहते थे। उन्होंने मदीना पर कई हमले किये। पहले हमले में जो कि मुहम्मद साहब के चले जाने के दूसरे वर्ष में हुआ, एक हज़ार कुरेशों ने भाग लिया। मुहम्मद साहब मुश्किल से ३१३ सिपाही इक्कठे कर सके। किन्तु जीत मुहम्मद की हुई। दूसरे हमले में कुरेश लोग तीन हज़ार सेना लेकर आये। मुहम्मद के पास सात-सौ से अधिक सिपाही जमा न हो सके, फिर भी आक्रमणकारी असफल रहे। तीसरी लड़ाई मक्का से पलायन के पांचवे वर्ष में हुई। इसमें कुरेश सेना दस हज़ार थी। मुसलमानों ने मदीना के अरक्षित भाग में खाई खोदकर अपना बचाव किया। एक महीने तक दुश्मन घेरा डाले रहे। बाद में भोजन की कमी तथा खराब मौसम से परेशान होकर वे लोग चले गये। अन्त में दुश्मनों तथा कुरेशों के बीच सन्धि हो गई। बाद में मक्का के काफी लोगों ने भी इसलाम स्वीकार कर लिया।



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अब दूर-दूर इसलाम धर्म का प्रचार हो रहा था। मुहम्मद की शक्ति बढ़ रही थी। उन्होने निकट के राजाओं को पत्र लिखे कि वे इसलाम कबूल कर लें। कुछ राजाओं ने इसलाम को स्वीकार किया। कुछ लोगों ने मुहम्मद साहब के पास कीमती उपहार भेजे।

कुरेशों के मित्र बानू बक्र ने एक मुस्लिम शासक खुजा पर हमला किया। कुरेशों ने उसकी मदद की। इस पर मुहम्मद साहब ने उनके साथ की हुई सन्धि को तोड़ दिया और दस हज़ार सैनिकों के साथ मक्का पर धावा बोल दिया। उन्होंने मक्का को बड़ी आसानी से जीत लिया। यह पलायन का आठवां वर्ष था।

मक्का की विजय के बाद मुहम्मद साहब ने पहला काम यह किया कि कावा नामक उपासना-स्थल से समस्त मूर्तियों को हटवा दिया, किन्तु मुहम्मद ने अपने पुराने शत्रुओं यानी कुरेशों के साथ बुरा व्यवहार नहीं किया। इसका वहां की जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। उनमें से अधिकांश ने स्वेच्छा से इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे अरब के दूसरे क्षेत्रों में भी इसलाम का आधिपत्य हो गया।

पलायन (हिज्र) के दसवें वर्ष में मुहम्मद साहब ने मक्का की यात्रा की। वहां देश के विभिन्न भागों से आये हुए यात्रियों की संख्या एक-सौ चौबीस हज़ार थी, उनमें से एक भी मूर्ति-पूजक न था, वे सब मुहम्मद के भक्त व प्रशंसक थे। वहाँ ठहरने के नवें दिन मुहम्मद ने प्रभु से प्रेरणा पाकर अपना संदेश दिया। इस संदेश का इसलाम धर्म में वही महत्व है जो ईसाई धर्म में "पर्वत पर का उपदेश" का। संदेश इस प्रकार है :—

"हे मनुष्यो! मेरे शब्दों को ध्यान से सुनों, क्योकि मैं नहीं जानता कि इसके बाद फिर कभी तुमसे मेरी यहाँ भेंट होगी कि नहीं। ...मैं बतलाता हूं कि तुम्हारे बीच एक-दूसरे का जीवन, सम्पत्ति व आबरू वैसी ही पवित्र होनी चाहिए जैसे कि इस पवित्र नगर में, इस पवित्र महीने में आज का दिन पवित्र है। जो जहां उपस्थित हैं, वे यह संदेश उन तक ले जायं, जो उपस्थित नहीं हैं। शीघ्र ही तुम्हें उस प्रभु से भेंट करना है, जो तुमसे तुम्हारे कामों की कैफियत मांगेगा···

"सज्जनो! आज के दिन शैतान को सदा के लिए इस बात से निराशा हो गई कि वह तुम्हारी इस भूमि में अपनी शक्ति की स्थापना कर सकेगा। फिर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



भी यदि तुम छोटी-छोटी बातों में प्रभु की आज्ञा का पालन करोगे, तो इससे उसे प्रसन्नता होगी।

"मेरे अपने लोगो ! अपनी पत्नियों पर तुम्हारा कुछ अधिकार है, पत्नियों का भी तुम पर कुछ अधिकार हैं। ये तुम्हारे हाथों में प्रभु की धरोहर हैं, इसलिए उनके साथ मेहरबानी का बर्ताव करो।··जहां तक तुम्हारे दासों का प्रश्न है, इसका ध्यान रखो कि उन्हें वही भोजन दो जो तुम खाते हो और वैसे ही कपड़े पहनाओ जैसे तुम पहनते हो।

प्रिय जनो ! मैं कहता हूं उसे सुनो और हृदय में धारण करो। तुम्हें जानना चाहिए कि प्रत्येक मुसलमान प्रत्येक दूसरे मुसलमान का भाई है। तुम सब बराबर हो, और एक ही बन्धुवर्ग के सदस्य हो। अपने किसी भाई से कुछ भी लेना निषिद्ध है, सिवाय उसके जो वह स्वेच्छा से दे। अपने लोगों के साथ अन्याय मत करो।"

यह संदेश सुना चुकने के बाद पैगम्बर मुहम्मद ने ऊंचे स्वर में कहा, "भगवान् ! मैंने तेरा संदेश सुना दिया।"

मुहम्मद साहब के इस संदेश से जहां एक ओर उनके विचारों की उदारता प्रकट होती है, वहां यह आभास भी मिलता है कि उस समय के मक्का के लोगों में क्या बुराइयां अथवा कमज़ोरियां थी और उन्हें किस तरह की शिक्षा की ज़रूरत थी। बीस-पच्चीस वर्षों के भीतर ही उन्होंनें अरब देश में क्रान्ति उपस्थित कर दी। एक सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन को इतने व्यापक रूप में प्रभावित करने का जो कार्य पैगम्बर मुहम्मद ने किया वह अपूर्व था। उनकी शिक्षा के फलस्वरूप देश के जीवन में कायापलट हो गया। मार-पीट, जुआ, शराबखोरी आदि व्यसन समाप्तप्राय हो गये। स्त्रियों तथा दासों की दशा में काफी सुधार हुआ। अब अरब लोगों में ज्ञान की प्यास बढ़ने लगी। अब वे एक सुसंगठित एवं शक्तिशाली राष्ट्र बन गये, और उनमें नई स्फूर्ति एवं उत्साह फैल गया। इसी सब से सिद्ध है कि मुहम्मद साहब का जीवन पवित्र एवं आदर्श रूप था, जिसका आस-पास के लोगों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, इसलाम के प्रचार के पूर्व अरब में स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध विचारणीय थे। इसलाम ने इस क्षेत्र में दृढ़ नियमों की प्रतिष्ठा की। इसलाम के अनुसार एक व्यक्ति चार स्त्रियों तक से विवाह कर सकता है। मुहम्मद साहब ने भी कई विवाह किये। पच्चीस वर्ष की अवस्था तक उनकी एक ही पत्नी थी। प्रथम पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने, सम्भवतः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



राजनैतिक तथा वैसे ही दूसरे कारणों से, कई विवाह किये। यह देखने की बात हैं कि आएशा को छोड़कर उनकी सभी पत्नियाँ विधवायें थी। सम्भवतः युद्धों में काम आये सैनिकों की पत्नियों को कुमार्ग में जाने से बचाने के लिए मुहम्मद साहब ने विधवाओं के साथ विवाह करने की प्रथा को प्रोत्साहन दिया, और स्वयं भी दो-एक विधवाओं से शादी कर ली। इसलाम धर्म, पुराने वैदिक धर्म की भाँति, गृहस्थ आश्रम को विशेष महत्व देता है।

अपने जीवन में मुहम्मद साहब सादगी से रहना पसंद करते थे। उनके घर में ज्यादा सरोसामान नहीं रहता था। उनकी पत्नियां भी सादा जीवन व्यतीत करने को बाध्य थीं। एक बार उनकी पत्नियों ने उनसे ज्यादा आराम व ऐश्वर्यों की चीजों की मांग की। इसपर पैगम्बर मुहम्मद को निम्नलिखित ईश्वरीय आदेश मिला :

"अय पैगम्बर ! अपनी पत्नियों से कह दो कि यदि तुम इस दुनिया की जिन्दगी और उसकी साज-सज्जा चाहती हो, तो जाओ, मुझसे वे चीज़े ले लो और यहां से प्रस्थान करो। किन्तु यदि तुम ईश्वर और उसके पैगम्बर से प्रेम रखती हो, और आध्यात्मिक घर को पसन्द करती हो, तो समझ लो प्रभु ने उनके लिए जो अच्छे कर्म करते हैं बड़ा पारितोषिक प्रस्तुत कर रक्खा है।"

(कुरान ३३, २८-२९)

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मुहम्मद साहब के जीवन में दुनियावी साज-सज्जा एवं सम्भोग की भावना के लिए विशेष स्थान न था।

मुहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों को भी सादे जीवन की शिक्षा दी। वे स्वयं अपने हाथों से घर का काम करते थे। अपनी बकरियां स्वयं दुह लेते थे, और अपने कपड़े तथा जूते खुद ठीक कर लेते थे। वे अपने ऊंट की देख-भाल स्वयं करते थे।

अपने जीवन और वाणी दोनों से मुहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों को सर्वबन्धुता की शिक्षा दी। वे सब लोगों के साथ भोजन करते थे, दासों के साथ भी। वे दास के घर का निमन्त्रण स्वीकार करने में भी हिचक नहीं मानते थे। वस्तुतः जनतांत्रिक बन्धुत्व की भावना इसलाम धर्म के अनुयायियों की अपनी स्पृहणीय विशेषता है।

मुहम्मद साहब स्वभाव के बड़े उदार थे। वे बुराई के बदले बुराई करने के हामी न थे। अक्सर वे अपने शत्रुओं को क्षमा कर देते। वे अपने पास

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



विशेष धन नहीं रखते थे। धन को गरीबों में बांट देना उन्हें विशेष प्रिय था। वे कभी किसी भिखारी को नाहीं नहीं करते थे।

दूसरों के बीच वे कभी अपने को विशिष्ट नहीं समझते थे, उनकी मनोवृत्ति पूर्णतया जनतांत्रिक थी। एक बार जंगल में भोजन तैयार करने की समस्या उठी। मुहम्मद साहब ने थोड़ा-थोड़ा काम सबमें बाँट दिया। स्वयं उन्होंने ईंधन जुटाने का काम स्वीकार किया। अपने नौकरों तथा आश्रितों के प्रति उनका व्यवहार निरन्तर कृपापूर्ण रहता था। एक बार एक व्यक्ति ने एक कुत्ते की प्यास बुझाने के लिये कुएँ से पानी निकाला, मुहम्मद साहब ने कहा— इसने अपने कर्म से स्वर्ग अर्जित कर लिया।

मुहम्मद साहब को बच्चों से प्रेम था। घूमते-फिरते वे बच्चों को थपथपा कर प्यार करने लगते। वे अनिवार्य रूप से बीमारों के पास जाकर उनका हाल पूछते। मृतकों की शव-यात्रा में वे ज़रूर सम्मिलित होते। साथ ही मुहम्मद साहब बड़े निर्भीक पुरूष थे। वे अपने शत्रुओं से कभी नहीं डरते थे। मक्का में जिन दिनों उनकी जिन्दगी के विरुद्ध षडयन्त्र हो रहे थे, वे निर्भय होकर घूमा करते। उन्होंने अपने साथियों को मक्का से भगाने की कोशिश की, ताकि वे सुरक्षित हो जायें, किन्तु स्वयं वे वहीं डटे रहे। मक्कावालों के साथ उन्होंने जो युद्ध किये उनमें उनकी सेना सदैव कम रही। फिर भी उन्होंने कभी हिम्मत नहीं हारी। संकट के समय वे कहते—भगवान हमारे साथ हैं। एक बार लड़ाई में उनकी सेना तितर-बितर हो गई थी। अपने लिए खतरे की तनिक भी परवाह न करते हुए उन्होंने उच्च स्वर में कहा : 'मैं, पैगम्बर, यहां हूं, सब मेरे साथ चले आओ।' यह घटना उहद के युद्ध की है। हुनैन के युद्ध में जब उनके साथी भागने लगे थे, उन्होंने अकेले दुश्मनों को बढ़कर कहा—पैगम्बर मैं हूं। पैगम्बर मुहम्मद की सच्चाई और ईमानदारी सारे अरब में विख्यात थी; वे एक बार जो वचन दे देते उनका सदैव पालन करते। उनके बड़े से बड़े दुश्मनों ने इस बात की साक्षी दी है कि वे कभी झूठ नहीं बोलते थे।

मुहम्मद साहब को इलहाम (दैवी प्रेरणा) द्वारा कुरान प्राप्त हुआ था। इस पवित्र ग्रन्थ की अनेक शिक्षाओं में एक प्रमुख शिक्षा यह है कि मनुष्य-मनुष्य सब एक हैं। कुरान शरीफ यह भी सिखलाता है कि ईश्वर ने हर जाति और हर देश में अपने पैगम्बर या धर्म दूत भेजे हैं। निम्न वाक्य इस विचार को प्रकट करते हैं :—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



कोई ऐसी जाति या जन-समूह नहीं है जहां कोई चेतावनी देने वाला नहीं भेजा गया। (३५,२४)

हर जाति या राष्ट्र में एक संदेश-वाहक या पैगम्बर भेजा गया है। (१०,४७) हर जनसमूह का एक मार्ग दर्शक रहा है। (१३,७)

निश्चय ही हमने हर जाति में एक संदेश-वाहक भेजा है, सिखानें के लिए कि अल्लाह की सेवा करो और बुराई से बचो।

हर एक के लिए हमने नियम (कानून) और रास्ते का निर्देश किया है। (५,४८)

कुरान की शिक्षा है कि सब मनुष्यों के लिए एक ही कानून है, एक ही नियम। वह नियम यह है कि मनुष्य अपने भले-बुरे कामों के अनुसार फल-भोग करता है। "जो अणुमात्र भी भलाई करता है वह उसका फल पाता है, और जो अणु के बराबर भी बुराई करता है, वह उसका फल पाता है।" (९९,७-८)

कुरान मनुष्य की महत्ता का कायल है। सृष्टि में मनुष्य से ऊंचा कुछ नहीं है। भगवान ने तुम्हें सब चीज़ों से श्रेष्ठ बनाया है, तुम्हारा उपास्य सिर्फ एक ही है, यानी भगवान। (७,१४०)

भगवान ने आदम को सब चीज़ों का ज्ञान दिया। (२,३१)

भगवान ने मनुष्य को पृथ्वी का शासक बनाया है। (२,३०) हर बालक जो पैंदा होता है, वह एक सच्चे धर्म के अनुरूप होता है--उसकी प्रकृति धर्मानुगामिनी होती है। बाद में उसके मात-पिता उसे यहूदी, ईसाई आदि बना देते हैं। (बुखारी ३२,७९)

इन उद्धरणों से इसलाम धर्म की उदारता सिद्ध होती है। कुरान में मानवता की सेवा, परोपकार तथा चरित्र-निर्माण पर विशेष बल दिया गया है। एक जगह हम पढ़ते हैं—

लेकिन तुम अनाथ बालकों का आदर नहीं करते, न तुम एक-दूसरे को इस बात की प्रेरणा देते कि ज़रूरतमन्दों की मदद करे। तुम विरासत में मिले हुए धन का बिना विवेक के उपयोग करते हो, तुम्हारी धन में बहुत ज़्यादा आसक्ति है (८९, १७-२०)

अमीरों की सम्पत्ति में उनका भी हिस्सा है, जो भीख मांगते हैं, और उनका जो भाग्यशाली नहीं हैं। (५१,१९)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



इस प्रकर की नैतिक शिक्षायें कुरान में जगह-जगह पाई जाती हैं। दूसरे धर्म-शिक्षकों ने व्यक्गितत मोक्ष की चर्चा अधिक की है, किन्तु कुरान में मनुष्य के सामाजिक सम्वन्धों तथा समवेत जीवन को धार्मिक एवं सुखद बनाने के मार्ग पर विशेष रोशनी डाली गई है। वहां गरीबों के उपकार एवं सहायता पर विशेष जोर दिया गया है। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि कुरान-शरीफ में भगवान की स्तुति-उपासना को महत्वपूर्ण नहीं वतलाया गया है। वस्तुतः कुरान में इस बात पर बार-बार जोर दिया है कि हमारी स्तुति और उपासना का विषय सिर्फ एक भगवान हैं। भगवान दयालु और क्षमाशील हैं, वे ही हमें पापों से बचा सकते हैं।

———

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# रामानुजाचार्य

(१०१७–११३७ ई०)

भारतवर्ष धर्मों और दर्शनों का देश रहा है। यहाँ पर वैदिक तथा अवैदिक दो विचारधाराएँ चलती रही हैं। वैदिक विचार-प्रणाली में वेदान्त का प्रमुख स्थान है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य—पूर्णत्व या मोक्ष—प्राप्त करने में ईश्वर-भक्ति भी सहायक है—ऐसा मोटे तौर पर वेदान्त का मत है। इन वेदान्तियों में श्री रामानुजाचार्य सबसे पहले आचार्य थे जिन्होंने ईश्वरभक्ति की विद्वत्ता-पूर्ण ढंग से विस्तृत और विवेकपूर्ण विवेचना की। वे ऐसे विचारकों में से थे जिनके ग्रंथों का गहन अध्ययन होना चाहिए. जिनके विचारों का पूर्ण परिज्ञान होना चाहिए, और जिनके मत का सम्यक् प्रचार होना चाहिए।

दक्षिण भारत में मद्रास शहर से दक्षिण-पश्चिम में ३० मील दूर श्री पेरुम्बुदुर नामक एक गाँव है। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व इसी गाँव में असुरि केशवाचार्य नामक एक सनाढ्य ब्राह्मण रहते थे। उनका गोत्र था हरीत और वेद था यजुर्वेद। इन्हीं के समकालीन श्री यामुनाचार्य (आलवन्दार) श्री रंगम् में वैष्णव गद्दी के सुयोग्य महन्त थे। यामुनाचार्य के परमप्रिय शिष्य श्री शैल-पूर्ण (अथवा पेरिय तिरुमलई नम्बी) की दो बहनें थीं। बड़ी बहन का नाम कान्तिमती तथा छोटी का महादेवी या द्युतिमती था। कान्तिमती का विवाह केशवाचार्य से हुआ और द्युतिमती का कमलनयन भट्ट से।

केशवाचार्य यज्ञ-यागादि कर्मों में बड़ी रुचि रखते थे। इसी कारण उनका नाम 'सर्वक्रतु' भी था। अपनी प्रिय पत्नी के साथ आनन्द पूर्वक काफी दिन बीत जाने पर भी केशवाचार्य को जब कोई सन्तान न हुई तो वे चिन्तित होने लगे। याज्ञिक होने के कारण उनको एक युक्ति सूझी। उन्होंने पुत्रोत्पत्ति के लिए यज्ञ करने की सोची। यज्ञ से सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं ऐसा उनका विश्वास था। कावेरी नदी जहाँ पर समुद्र में मिलती है वहीं तिरुअल्लि-केनि नामक स्थान के निकट श्री पार्थसारथि भगवान का मन्दिर था। वहीं पर अपनी पत्नी के साथ जाकर केशवाचार्य ने एक यज्ञ किया। यज्ञ के उपरान्त भगवान ने प्रसन्न होकर रात्रि में स्वप्न में केशवाचार्य से कहा कि वे स्वयं उनके पुत्र रूप में जन्म लेगें और समाज में व्याप्त ढकोसले को दूर करेंगे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा हैः—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ४।७

लगभग दस महीने बाद सौभाग्यवती कान्तिमती को अनेक शुभ लक्षणों से युक्त एक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह शुभ दिन था गुरुवार चैत्र शुक्ल पंचमी, संवत् १०७४ (शक सं० ९३९ तथा ईसवी सन् १०१७) । ज्योतिषियों ने इस बालक के महान् होने की भविष्यवाणी की । उसी समय बालक के मामा शैलपूर्ण भी पधारे और उन्होंने इस बालक का नाम रामानुज रखा । श्री रामानुज दशरथपुत्र सौमित्र के अवतार माने जाते हैं । लक्ष्मण और रामानुज दोनो की जन्म-तिथि भी एक ही पड़ती है ।

आठ वर्ष की अवस्था में श्री रामानुज का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ । इसी अवस्था में इनकी भेंट एक शूद्र किन्तु परम भक्त श्री कांचीपूर्ण से हुई और रामानुज के कोमल हृदय में उनके प्रति अपार श्रद्धा हो गई । रामानुज उसी समय से वर्ण-व्यवस्था को तुच्छ समझने लगे । उनका कहना था कि केवल यज्ञोपवीत धारण करने से ही कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता । सच्चा ब्राह्मण तो वह है जो रात-दिन भगवान की उपासना करता हो ।

धीरे-धीरे श्री रामानुज किशोरावस्था को प्राप्त हुए । सोलह वर्ष की अवस्था में उनके पिता ने एक परम रूपवती कन्या से, जिसका नाम रक्षाकम्बल था, रामानुज का विवाह कर दिया । परन्तु पिता के भाग्य में पुत्र और पुत्रवधू का सुख देखना बदा न था । कुछ ही दिनों में उनका निधन हो गया । रामानुज और उनकी माँ शोकाकुल हो उठीं । रामानुज ने अपना गांव छोड़कर कांचीपुर में बसने का निश्चय कर लिया । वे माँ तथा पत्नी के साथ कांची चले आये । उस समय कांची में प्रसिद्ध अद्वैतवादी आचार्य श्री यादवप्रकाश वर्त्तमान थे । रामानुज यादवप्रकाश से विद्या प्राप्त करने लगे । परन्तु भक्त-हृदय और तीक्ष्णबुद्धि होने के कारण रामानुज यादवप्रकाश की अनेक अद्वैतपरक व्याख्याओं का खंडन किया करते थे । इस कारण यादवप्रकाश धीरे-धीरे रामानुज से ईर्ष्या करने लगे । यादवप्रकाश तांत्रिक भी थे, परन्तु रामानुज ने एक बार कांचीनरेश के यहां इस विद्या में भी यादवप्रकाश को विनयपूर्वक नीचा दिखाया । रामानुज यादवप्रकाश का बड़ा सम्मान करते थे, परन्तु विद्वत्ता के क्षेत्र में अपमान यादवप्रकाश के लिये असह्य हो गया । अतः उन्होंने रामानुज की हत्या करने का निश्चय किया । इस निश्चय को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सफल वनाने के लिये यादवप्रकाश ने तीर्थयात्रा के बहाने रामानुज से विन्ध्याचल के घोर जंगलों की ओर चलने का आग्रह किया। रामानुज तैयार हो गये। परन्तु रास्ते में उनके मौसेरे भाई गोविन्द ने इस षड्यंत्र का उद्घाटन कर दिया। रामानुज वच निकले और घूमते-घामते घर लौट आये। जव माँ ने यह वृत्तांत सुना तो उन्हें वड़ा दुःख हुआ। रामानुज ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त ही पुनः यादवप्रकाश के पास गये। यादवप्रकाश अपने कृत्य से मन ही मन लज्जित हो रहे थे। उन्होंने रामानुज को पढ़ाना स्वीकार कर लिया, परन्तु पुनः सैद्धान्तिक मतभेद हो जाने के कारण रामानुज को वहां से हटना पड़ा।

रामानुज घर लौट आये। दैवयोग से इसी समय श्री कांचीपूर्ण, जिनके बारे में पहले कहा जा चुका है, रामानुज के यहां पधारे। रामानुज उनके पैरों पर गिर पड़े और उन्होंने उन्हें बाध्य किया कि वे उन्हें (रामानुज को) शिक्षा दें। श्री कांचीपूर्ण ने रामानुज से कहा कि प्रतिदिन कुएं से एक कलश जल निकाल कर वरदराज को स्नान कराया करो जिससे सारी अभिलाषाएँ पूरी होंगी। रामानुज ऐसा ही करने। यहां यह उल्लेखनीय है कि स्वयं कांचीपूर्ण वरदराज के बड़े भारी उपासक थे।

प्रसिद्ध वैष्णव संत श्री यामुनाचार्य (आलवंदार) रामानुज की प्रतिभा एवं हृदय को पहचानते थे। उन्होंने जब यह सुना कि रामानुज ने यादवप्रकाश के यहां पढ़ना बंद कर दिया है तो बड़े प्रसन्न हुए। तत्काल अपने शिष्य को उन्होंने रामानुज को बुलाने के लिये भेजा। जब रामानुज श्रीरंगम् पहुंचे, तब यामुनाचार्य दिवंगत हो चुके थे। केवल मृत शरीर पड़ा हुआ था। रामानुज को इस घटना से महान् क्लेश हुआ। उन्होंने मृत्पिण्ड के समक्ष तीन कार्य करने की प्रतिज्ञाएं की—(१) ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य लिखना, (२) किसी योग्य व्यक्ति का पराशर नामकरण, तथा (३) वैष्णव मत का लोगों में प्रचार। कालान्तर में रामानुज ने इन तीनों बातों की पूर्ति की।

श्री रामानुज ने श्री महापूर्ण से वैष्णव धर्म की दीक्षा ली और कुछ दिन घर पर रहने के उपरान्त, अपनी पत्नी के साधु-जन-विपरीत व्यवहार से रुष्ट होकर, उसे मायके भेजकर, संन्यास ग्रहण कर लिया। रामानुज संन्यास लेने के बाद 'यतिराज' नाम से प्रसिद्ध हुए। संन्यास के उपरान्त रामानुज के जीवन का एक नया अध्याय प्रारंभ हुआ और यही काल उनके जीवन का स्वर्ण-काल कहा जा सकता है। इस काल में रामानुज ने वैष्णव मत का व्यापक प्रचार किया—विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त की स्थापना तथा परिपुष्टि की, एवं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अनेक समकालीन लोगों को अपना शिष्य बनाया। इनका प्रभाव इतना अधिक फैला कि स्वयं यादवप्रकाश ने भी, जो घोर अद्वैतवादी एवं रामानुज के परम विरोधी तथा कुछ समय तक शिक्षक भी रहे, इनकी शिष्यता स्वीकार कर ली तथा 'यतिधर्म समुच्चय' नामक वैष्णव ग्रन्थ की रचना की।

अपने शिष्य-मंडल (जिनमें दाशरथि और कुरेश का नाम उल्लेखनीय है) के साथ रामानुज श्रीरंगम् में भगवान श्री रंगनाथ का दर्शन करने के लिए एक वार चले। रास्ते में उन्होंने असंख्य लोगों को 'ॐ नमो नारायण' का उपदेश देकर वैष्णव बनाया। श्रीरंगम् पहुंचने पर रामानुज का स्वागत हुआ। वहां के सभी लोगों ने यह विचार किया कि रामानुज को श्रीरंगम् का वड़ा प्रधान अधिकारी बना दिया जाय। यह बात जानकर उस समय के वर्तमान पुजारी ने रामानुज को विष देने का निश्चय किया, परन्तु उसकी पत्नी विष देने के पूर्व ही रामानुज का तेज देखकर मूर्छित होकर गिर पड़ी और उनकी हत्या का भेद खुल गया। रामानुज ने उसके यहां की भिक्षा ग्रहण न की। वे इतने सरल व स्वच्छ हृदय के थे कि स्वयं भगवान उनकी रक्षा किया करते थे। जो लोग वड़े हो जाते हैं उनके शत्रु भी अधिक हो जाया करते हैं। परन्तु जिसकी रक्षा भगवान करे उसे कौन मार सकता है–'जाको राखै साइंयां मारि न सकिहैं कोय, वाल न बांका करि सकै जो जग बैरी होय।"

अंततोगत्वा श्री पूर्णाचार्य ने रामानुज को रंगनाथ मंदिर एवं मठ का प्रधान अधिष्ठाता या महंत बनाया। यद्यपि दक्षिण भारत में अनेक बड़े व अच्छे मंदिर हैं, परन्तु श्रीरंगम् के इस मंदिर की अपनी विशेषता है। यह बहुत विशाल है; इसकी विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अंग्रेज-फ्रांसीसी युद्ध में पूरी फ्रांसीसी सेना इस मंदिर के एक कोने में ठहरी हुई थी।

एक बार की बात है कि प्रसिद्ध मायावादी श्री यज्ञमूर्त्ति उत्तर भारत के सभी विद्वानों को पराजित कर रामानुज का नाम सुनकर श्रीरंगम् आये। उनके साथ कई गाड़ियों में भरकर शास्त्रार्थ के ग्रन्थ आये। यज्ञमूर्त्ति ने रामानुज को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। रामानुज भी तैयार हो गये। दोनों में जमकर सत्रह दिनों तक शात्रार्थ होता रहा। यज्ञमूर्त्ति कुछ वीस पड़ते थे। इस पर रामानुज चिंतित हो उठे। परन्तु भगवान रंगनाथ ने उन्हें धीरज बँधाया। और वे प्रातः काल प्रसन्न वदन यज्ञमूर्त्ति के पास गये। यज्ञमूर्त्ति रामानुज को देखते ही उनके पैरों पर गिर पड़े और स्वयं हार मान कर रामानुज के शिष्य बन गये। इससे रामानुज की धाक जम गई और वे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



श्रीरंगम् के मंदिर में आनंदपूर्वक अपने शिष्यों को शिक्षा देने लगे। ग्रन्थों को पढ़ाते समय रामानुज अनेक गूढ़ व मार्मिक स्थलों का मौलिक व्याख्यान करते थे, इसलिये उनके शिष्य भी उनका वहुत सम्मान करते थे। इस प्रकार रामानुज की ख्याति दिन दूनी रात चौगुनी वढ़ने लगी।

पीछे वताया जा चुका है कि रामानुज ने श्रीभाष्य लिखने का संकल्प किया था। अव उन्होंने इस संकल्प को पूरा करने का निश्चय किया। समय भी उपयुक्त ही था। निरंतर अध्ययनशील रहने के कारण उनके विचार वहुत परिष्कृत हो चुके थे। उन्होंने श्रीभाष्य की रचना 'वोधायन वृत्ति' के अनुसार करने की सोची। परन्तु यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में उस समय उपलब्ध न था। इसकी केवल एंक प्रति काश्मीर के शारदापीठ स्थित पुस्तकालय में थी। रामानुज अपने अद्भुत स्मरण शक्ति वाले मेधावी शिष्य कुरेश को लेकर कश्मीर चल पड़े। श्रीरंगम् से कश्मीर का मार्ग गुरु-शिष्य ने लगभग तीन मास में तय किया, परन्तु वहाँ पहुँचने पर कश्मीर के अद्वैतवादी पण्डितों ने रामानुज को वह ग्रन्थ देने से इनकार कर दिया। वे स्वयं अपनी पराजय अपने हाथों क्यों कराते? कहा जाता है कि वाग्देवी सरस्वती ने उक्त ग्रन्थ को पुस्तकालय से लाकर रामानुज को दे दिया और उनके प्रतिभाशाली शिष्य कुरेश ने उसे कुछ ही समय में कंठस्थ कर लिया। प्राचीन काल में ऐसे अनेक शिष्य हुआ करते थे, तभी तो वेद और उपनिषदादि विना किसी प्रेस या पुस्तक व्यवस्था के आज तक सुरक्षित रह पाये। रामानुज और कुरेश दोनों वोधायन-वृत्ति को वहीं छोड़कर दक्षिण लौट आये। वहां पर कुरेश ने वोधायन-वृत्ति को पुनः पुस्तकवद्ध कर दिया। अव रामानुज ने श्रीभ.ष्य लिखना प्रारंभ कर दिया। जिस प्रकार महाभारत की रचना करते समय व्यास मुनि वोलते थे और गणेश जी लिखते थे, उसी प्रकार यहां भी रामानुज वोलते और कुरेश लिखते थे। श्रीभाष्य की रचना के अनन्तर रामानुज ने आठ अन्य पुस्तकों की रचना की जिनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) वेदार्थ संग्रह (२) वेदान्त दीप (३) वेदान्त-सार (४) गीता-भाष्य (५) शरणागति गद्य (६) श्रीरंग गद्य (७) श्री वैकुण्ठ-गद्य तथा (८) नित्य-ग्रन्थ। इन सभी पुस्तकों में वैष्णव मत का प्रतिपादन हुआ है।

उपरोक्त रचनाओं के वाद श्री रामानुजाचार्य अपने ७४ शिष्यों और असंख्य अनुयायियों के साथ शंकराचार्य की भांति दिग्विजय को निकले। सवसे पहले उन्होंने दक्षिण भारत के ही मुख्य विद्वानों को पराजित किया। केरल की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA).



मुख्य नगरी त्रिवेन्द्रम्, चोल तथा पाण्ड्य राज्य, कुरंग आदि स्थानों पर वहां के विद्वानों से इनका शास्त्रार्थ उल्लेखनीय है; इन सभी स्थानों पर रामानुज विजयी हुए। इसके वाद वे उत्तर की ओर मुड़े। द्वारका, मथुरा, वृन्दावन शालग्राम, साकेत, बद्रीनारायण, नैमिषारण्य, पुष्कर आदि तीर्थों से होते हुए रामानुज पुनः कश्मीर के शारदापीठ में पहुँचे। इस बार कश्मीर के पण्डित रामानुज का लोहा मान गये। उन सवों ने रामानुज की श्रीभाष्य टीका भी देखी और उससे प्रभावित होकर रामानुज को 'भाष्यकार' की उपाधि से विभूषित किया। कश्मीर से रामानुजाचार्य काशी भी आये और यहाँ पर विद्वानों और दार्शनिकों से सत्संग करने के लिए कुछ समय तक निवास करने के वाद पुरी की ओर चले। जगन्नाथ पुरी में एम्वार मठ की स्थापना की। पुरी में रामानुज ने वैष्णव रीति से पूजा करने के लिये जोर दिया, परंतु उनका यह प्रयास सफल न रहा। सफलता उन्हे पुरी में न मिलकर अगले पड़ाव तिरुपति या वेंकटाचल में मिली। तिरुपति में शैव व वैष्णवों का झगड़ा चल रहा था। रामानुज ने जाकर उसे शांत किया और तिरुपति मंदिर में विष्णुमूर्त्ति स्थापित की। वहाँ से वे कांचीपुर होते हुए श्रीरंगम् पहुँचे। इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्य ने लगभग पूरे भारतवर्ष का भ्रमण कर अपने विशिष्ट मत—विशिष्टाद्वैत—की स्थापना की।

इस वार जव रामानुज श्रीरंगम आये तो हमेशा के लिए रह गये। लगभग ६० वर्षों तक अध्ययन-अध्यापन में तथा ईश्वर-चिंतन में विताकर १२० वर्ष की दीर्घ आयु भोग कर वे विष्णु-पद को प्राप्त हुए। शरीर-त्याग करने के पूर्व रामानुज ने अपने शिष्यों को बुलाकर स्वयं इस लोक से विदा लेने की वात कही। शिष्य-मण्डली में कोलाहल होने लगा। रामानुज ने उन सवको मर्त्यलोक की अनित्यता समझायी। अन्तिम समय में रामानुज ने ७४ उपदेश दिये जो वड़े मार्मिक व महत्वपूर्ण हैं। उनमें रामानुज ने वैष्णव मत के मूल तत्वों का उल्लेख करने के साथ ही विश्वधर्म के नैतिक और आचार-संवंधी नियमों का उल्लेख भी किया, जो मानवमात्र के लिये अनुकरणीय हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने शिष्यों को संतोष दिया। जब शिष्यगण इस पर भी तुष्ट न हुए तो रामानुज ने पत्थर की अपनी एक मूर्ति बनवाई और शिष्यों से कहा कि मैं इसी में प्रवेश कर रहा हूं। अवसे इसी की सेवा किया करो। इतना कहने के वाद श्रीरामानुजाचार्य ने आंखें मूंद लीं।[१] उस समय मध्याह्न हो रहा था। तिथि

---

[१] विशेष विवरण के लिये जिज्ञासु पाठक श्री रामकृष्णानन्द द्वारा लिखित 'द लाइफ ऑव् रामानुज' नामक पुस्तक (श्री रामकृष्ण मठ, मद्रास से प्रकाशित) का पृष्ठ २५५-५६ देखें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



थी माघ शुक्ला दशमी, शनिवार एवं संवत् था शक १०५९ (ई० सन् ११३७)।

श्री रामानुजाचार्य महान् पुरुषों में से थे। उन्होंने भी एक आदर्श जीवन-यापन कर युग-युगान्तर के लिये मानवता का पथ प्रशस्त किया। उनका मार्ग सत्य पर आधारित था। ज्ञानमार्ग बड़ा दुरुह व दुःसाध्य है, परन्तु भक्ति मार्ग सबके लिये सुबोध व सुगम है। ज्ञानमार्ग का अवलम्बन केवल शिक्षित लोग ही कर सकते हैं परन्तु भक्तिमार्ग का अनुसरण अशिक्षित भी कर सकते हैं। इस मार्ग में साधक को श्रम भी कम ही करना होता है। अतः इसे धनी-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, उच्च-नीच, सशक्त-अशक्त सभी अपना सकते हैं।

रामानुज के पहले शंकराचार्य द्वारा प्रचलित अद्वैत और निर्गुण सिद्धान्त साधारण लोगों की बुद्धि के बाहर था। वह सबके गले से नहीं उतर सकता था। लोगों की समझ में यह नहीं आ रहा था कि कैसे यह दृश्य जगत् भ्रम मात्र है, और केवल ब्रह्म ही सत्य है। शंकराचार्य का मत युक्तिपूर्ण होने पर भी साधारण लोगों के मनमें बैठता न था। रामानुज इसी समय हृदय और बुद्धि का, भक्ति और ज्ञान का समन्वयात्मक संदेश लेकर समाज के सामने आये। भक्ति में कर्म व ज्ञान दोनों का समावेश होता है। बिना कर्म के किये मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। ज्ञान भी मुक्ति प्राप्त करने के लिये एक आवश्यक तत्व है, परन्तु कर्म या ज्ञान किसी से ऐकान्तिक मुक्ति संभव नहीं। मोक्ष तो केवल भक्ति-मार्ग से ही संभव है। भगवद्भक्ति ही मोक्ष-दायिनी है।

भक्तिमार्ग को श्रेष्ठ बनाने का यह तात्पर्य नहीं कि अन्य मार्ग हेय हैं। रामानुज गीता के कर्मयोग के भी उपासक थे। निष्काम कर्मयोग भारतवर्ष की एक ऐसी खोज है जो सर्वत्र लागू होती है। भक्तिमार्ग में भी निष्काम होने का महत्त्व है। यहाँ निष्काम का अर्थ है जो कुछ करे वह सब भगवान के लिए करे। भक्त अपने सारे कार्यों को निष्कामभाव से भगवान में अर्पित कर दे तो उसे कर्म-बन्धन नहीं होता और भगवान उसे मोक्ष दे देते हैं। भगवान में अपने को पूर्णतया समर्पित कर देना ही भक्ति का चरमोत्कर्ष है। इसी को प्रपत्ति भी कहते है। जब जीव स्वयं भगवान में समर्पित हो जाता है तब भगवान द्रवीभूत होकर उसे अपनी शरण में ले लेते हैं। इस प्रकार जीव ईश्वर के निकट पहुँच जाता है। दूसरे शब्दों में वह मुक्त हो जाता है। रामानुज के अनुसार ईश्वर ही पुरुषोत्तम हैं, और प्रत्येक शरीर में साक्षी-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



रूप में विद्यमान हैं। भगवान् जगत् के नियंता और स्वामी हैं, तथा जीव उनका सेवक है। भगवान सत् हैं, लक्ष्मी चित् हैं और जगत् उनके आनन्द का विलास है। लक्ष्मी जीवों की सहायता दो प्रकार से करती हैं—एक तो वे जीवों को ईश्वरोन्मुख करती हैं, दूसरे वे ईश्वर के हृदय में जीवों के प्रति श्रद्धा व करुणा उत्पन्न करती हैं। रामानुज के वैष्णव संप्रदाय में लक्ष्मी का विशिष्ट स्थान है।

श्री रामानुज के मत को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। इस मत में ईश्वर की सत्ता को प्रधानता दी गई है इसलिये यह अद्वैत है, परन्तु ईश्वर के साथ-साथ जीव और जगत् को भी असत् न मानकर उचित स्थान दिया गया है, इसलिए विशिष्टाद्वैत है। जगत् और जीव मायाजन्य नहीं हैं, वे सत् हैं। अविद्या या माया को स्वयं अद्वैतवादियों ने अनिर्वचनीय कहा है, परंतु ऐसी माया की कोई सत्ता नहीं। और जब सत्ता ही नहीं तो उससे कोई परिणाम कैसे निकल सकता है? रामानुज ने श्रीभाष्य के प्रारंभ में ही अविद्या का सात युक्तियों से खंडन किया है। उनके अनुसार जो कुछ है सब भावात्मक है। इस प्रकार रामानुज के मत से ईश्वर, चित् (जीव), तथा अचित् (जगत्) ये तीन पदार्थ हैं। जीव तथा जगत् ईश्वर का क्रीड़ाक्षेत्र हैं, जहां वे नित्य नई लीलाएँ किया करते हैं। जिस प्रकार एक वृक्ष में अनेक डालें और पत्तियां होती हैं, परन्तु समग्र रूप से सत्ता वृक्ष की ही होती है, उसी प्रकार से कहने के लिए तो ईश्वर, जीव और जगत् भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु महत्ता ईश्वर की ही है। यदि विचार किया जाय तो विशिष्टाद्वैत मत का सारा तात्पर्य केवल ईश्वर, जीव और जगत् के आपेक्षिक महत्व को समझने में है।

विशिष्टाद्वैत को अपना कर श्री रामानुजाचार्य ने उपनिषदों और अद्वैतियों के परब्रह्म और धार्मिक ग्रन्थों के सगुण ब्रह्म में एकता स्थापित कर दी। यद्यपि वैष्णव मत रामानुज के पहले से ही चला आ रहा था, परन्तु रामानुज ने आलवार संतों और यामुनाचार्य आदि द्वारा पोषित सिद्धान्त को एक दार्शनिक तथा चिरस्थायी रूप दिया। ब्रह्म सभी उत्तम गुणों से युक्त है। निर्गुण वस्तु की तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते। श्रुतियों में ब्रह्म को निर्गुण कहने का तात्पर्य है कि ब्रह्म सभी हेय गुणों से रहित है। यही संक्षेप में रामानुज की दार्शनिक शिक्षा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# महात्मा बसवेश्वर

## ( ११३२-११६८ ई० )

दक्षिण देश के धार्मिक महापुरुषों में महात्मा वसवेश्वर का महत्वपूर्ण स्थान है। वे केवल एक क्रांतिकारी धार्मिक पुरुष ही नहीं, अपितु एक कुशल राजनीतिज्ञ भी थे। जगद्गुरु रेणुक, दारुक आदि पांच[1] आचार्यों द्वारा स्थापित वीरशैव (लिंगायत) धर्म बारहवी शताब्दी में बहुत ही क्षीण अवस्था में था। इस धर्म के पुनरुत्थान का श्रेय श्री बसवेश्वर को ही है। इसीलिये इतिहास में वे 'वीरशैव मतोद्धारक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। बीसवीं शताब्दी में महात्मा गांधी जी अपने क्रांतिकारी आन्दोलन द्वारा जिस तरह के समाज को देखना चाहते थे, वसवेश्वर ने वैसे ही समाज का निर्माण १२ वीं शताब्दी में किया था। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म को ठुकराया और शूद्रों को भी धार्मिक स्वतन्त्रता दिलाने का अथक प्रयत्न किया। उन्होंने पुरुषों के समान स्त्रियों को भी सभी धार्मिक अधिकारों को प्रदान करने का समर्थन किया। आज भी लिंगायत धर्म के स्त्री-पुरुष समानतया अपने गले में शिवलिंग धारण करते हैं और पूजा-पाठ करते हैं। वसवेश्वर ने वेद के कर्मकाण्ड के हिंसात्मक कर्मों की निन्दा की और जातिप्रथा को दूर करने पर जोर दिया। उन्होंने इन नये विचारों से लिंगायत धर्म को एक विश्वधर्म का स्वरूप देने की चेष्टा की। रूढ़िवाद का विरोध करके जनता को सच्चे धर्म का मार्ग दिखानेवाले शैव और वैष्णव सन्तों की परंपरा में बसवेश्वर महापुरुष हैं।

### उनका जन्म और बाल्यकाल

वसवपुराण में बसवेश्वर को नन्दीश्वर का अवतार-पुरुष कहा गया है। कहा जाता है कि स्वयं ईश्वर ने लिंगायत धर्म के प्रचार के लिए इन को भेजा था। मैसूर प्रान्त के विजापूर जिले के बागेवाडी ग्राम में वसवेश्वर का जन्म शैव ब्राह्मण कुल में हुआ। उनकी जन्म तिथि के विषय में कुछ मतभेद है, किन्तु अनेक इतिहासकारों ने उनका जन्म ११३२ ई० और तिरोभाव ११६८ ई० माना है। उनकी माता का नाम मादलांबिका तथा पिता का नाम मादरस

[1] केदार, काशी, श्री शैल, रंभापुरी और उज्जैन में इन आचार्यो के पाँच धर्मपीठ या सिंहासन आज भी विद्यमान हैं। काशी में जंगमवाडीमठ प्रसिद्ध है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



था। कहा जाता है कि वे पैदा होने के बाद केवल निश्चेष्ट रूप में थे। इसलिए माता-पिता बहुत दुःखी हो गये। सौभाग्य से कृष्णा और मलापहारिणी नदियों के पवित्र संगम पर स्थित कूडलसंगम क्षेत्र में तपस्या करने वाले श्री संगमेश्वर स्वामी (जातवेद मुनि) वहां आये। उन्होंने शिशु बसवेश्वर को पूर्णरूप से स्वस्थ कर दिया और बालक के माता-पिता को उसका भविष्य भी बतलाया। जाते समय उन्होंने शिशु को भस्म-लेपन किया और गले में शिवलिंग पहनाकर शिवमंत्र का उपदेश दिया। माता-पिता के घर में ही ८ वर्ष तक उनका पालन-पोषण हुआ। बसवेश्वर के पिता ने अपनी परम्परा के अनुसार पुत्र के उपनयन का आयोजन किया। परन्तु बसवेश्वर ने उपनयन कराना स्वीकार नहीं किया। पिताजी ने कुपित होकर उनको घर छोड़ने की आज्ञा दी। बालक बसवेश्वर संतोष के साथ घर से निकल कर अपने गुरु संगमेश्वर के आश्रम में चले गये। यहाँ आने पर गुरु ने उन्हें वीरशैव धर्म की दीक्षा दी। अपनी सूक्ष्म दृष्टि द्वारा गुरु ने बसवेश्वर के भविष्य को जान लिया था। अतएव उन्होंने उनको विभिन्न शास्त्रों को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। बसवेश्वर ने १८ वर्ष विद्यार्जन किया। कहा जाता है कि बसवेश्वर उस गुरुकुल के विद्यार्थियों में सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी थे। गुरु ने अपने त्याग, वैराग्य आदि सभी गुणों को अपने शिष्य में भर दिया।

**कल्याण नगर के लिए प्रस्थान**

बसवेश्वर के मामा बलदेव कल्याण (बीदर जिला, मैसूर प्रान्त) के जैन राजा बिज्जल के प्रधान मंत्री थे। बसवेश्वर की विद्वत्ता की ख्याति उनके कानों तक पहुँची। एक दिन वे बसवेश्वर को देखने गुरुकुल में आये। उनके साथ उनकी पुत्री गंगांबिका भी आई थी। बसवेश्वर के गुरु संगमेश्वर ने उस लड़की का विवाह बसवेश्वर के साथ करने का निश्चय किया। उन्होंने अपने शिष्य को बुलाकर उससे पाणि-ग्रहण करने की आज्ञा दी। बसवेश्वर भीतर दुःखी थे, परन्तु गुरु की आज्ञा का उलंघन नहीं कर सकते थे। इस लिये उन्हें स्वीकार करना पड़ा। गुरु की आज्ञा लेकर वे अपने मामा के साथ कल्याण नगर चले गये। वहाँ जाने पर गंगांबिका को लिंगायत धर्म की दीक्षा दी गई और बसवेश्वर के साथ विधिवत् उसका पाणिग्रहण संस्कार हुआ। बसवेश्वर को मामा के घर में रहना पसंद नहीं आया। इसलिये वे राजा बिज्जल के यहाँ एक नौकरी प्राप्तकर अपनी पत्नी के साथ अलग रहने लगे। कुछ ही दिनों में उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा के कारण वहाँ की जनता

८

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। एक दिन राज दरबार में एक पत्र पाया गया। दरबार के सभी पंडित उसका अर्थ बतलाने में असमर्थ हो गये। बसवेश्वर ने उस पत्र को पढ़कर राजा को समझाया कि एक स्थान पर अपार संपत्ति गाड़कर रखी गई है। उसे वे खुदवा कर निकाल लें। उनके कथनानुसार राजा को एक अतुल धनराशि प्राप्त हुई। बसवेश्वर की विद्वत्ता और उनकी त्यागमय भावना से चकित होकर राजा ने उनकी पदोन्नति करके एक ऊँचा स्थान दिया।

**प्रधान मन्त्री**

धीरे-धीरे बसवेश्वर और राजा बिज्जल में बहुत स्नेह बढ़ने लगा। राजा ने अपने संबंधी सिद्धरस की पुत्री नीललोचना का विवाह बसवेश्वर के साथ करने का निश्चय किया। राजा के इच्छानुसार बसवेश्वर ने नीललोचना को लिंगायत दीक्षा देकर उससे विवाह किया। इसी बीच में बसवेश्वर के मामा बलदेव की मृत्यु हो गई। राजा ने बसवेश्वर को अपना प्रधान मन्त्री बनाया। प्रधान मन्त्री बनते ही बसवेश्वर ने राज्य को सुदृढ़ बनाना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने राज्यकोष को अतुल धनराशि से भर दिया। ऐसा मालूम पड़ता है कि वे एक साम्यवादी राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने धनिकों के द्वारा संग्रह किये गये धन को राज्य-कोष में जमा कर देने के लिए कानून बनाया। गरीबों के लिए उचित भोजन आदि की व्यवस्था की। शिक्षा के विकास और प्रसार के लिए अनेक विद्यालयों की स्थापना की।

**धर्म-संगठन और धर्म-क्रांति**

बसवेश्वर राज्य के प्रधानमन्त्री होते हुए भी अपने मुख्य उद्देश्य को नहीं भूले। वे जानते थे कि उन्हें एक आदर्श धर्म को सुसंगठित करने के लिए भेजा गया था। वे सदैव धर्मसंघटन के बारे में सोचते थे। उन्हें अपनी क्रान्ति को प्रारम्भ करना था। वे उस समय की धार्मिक और सामाजिक अवस्था से संतुष्ट नहीं थे। इसलिए उन्होंने अपनी क्रांति द्वारा उसमें आमूल परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। वे धर्म में समानता के पक्षपाती थे। वे जन्म से किसी को ब्राह्मण या शूद्र मानने को तैयार नहीं थे। किसी के उद्योग या कार्यों के कारण उसको नीच या ऊँच मानना पसंद नहीं करते थे। उन्हें इस तरह के समाज में क्रांति करनी थी। ऐसा कार्य एक सुनियोजित संगठन के अभाव में असंभव था।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



### अनुभव मण्डप की स्थापना

अपनी क्रांति को पूर्ण करने के लिए वसवेश्वर ने कल्याण नगर में एक अनुभव मंडप (आध्यात्मिक चर्चाकूट) की स्थापना की। उस समय कल्याण एक धार्मिक केन्द्र वन गया। उन्होंने वड़े-वड़े महात्माओं को उस अनुभव-मण्डप में निमन्त्रित किया। अनेक स्त्री-पुरुष महात्माओं ने उस सभा में योग दिया। इसमें सभी वर्गों के प्रसिद्ध लोग थे। उनमें अल्लम प्रभु, सिद्धराम, चन्नवसव, अक्कमहादेवी आदि प्रसिद्ध हैं: इनमें ६३ व्यक्ति उच्च कोटि के विद्वान् और तपस्वी थे। आज भी ये लोग कर्नाटक में त्रिषष्टि-पुरातन उपाधि से पुकारे जाते हैं। वसवेश्वर ने अल्लमप्रभु को इस मण्डप का अध्यक्ष वनाया। इस मंडप में आध्यात्मिक चर्चा होती थी। समय-समय पर धर्म-प्रचार के लिए सदस्यों को भेजा जाता था। वास्तव में इसी अनुभव-मण्डप के द्वारा इस धर्म का प्रचार किया गया। अनुभवमंडप के सदस्य सभी स्त्री-पुरुष महात्माओं ने देशभ्रमण करते हुए अपनी वाणी (वचन) से लिंगायत धर्म का प्रचार किया। कन्नड भाषा में इस वाणी-साहित्य का एक विशिष्ट स्थान है। यह वाणी साहित्य वचनशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। वसवेश्वर के भी अनेक वाणी-उपदेश हैं जो 'वसवेश्वर वचन' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन वचनों में उनके दार्शनिक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विचारों का कथन है। वसवेश्वर का पूर्ण जीवन अनेक चामत्कारिक घटनाओं से युक्त है।

### उनका लिंगैक्य

वसवेश्वर जी का सवसे महान् सुधार-कार्य अस्पृश्यता-निवारण था। उन्होंने छुआछूत को समाज का सवसे वड़ा कलंक माना, और उसे जड़से निकालने के लिए अपने प्राण तक की वाजी लगाई।

वे एक जाति-विहीन समाज की रचना करना चाहते थे। उनका विचार था कि शिवभक्त होने पर वर्ण और जाति का भेदभाव छोड़ देना चाहिए। उन्होंने इस तरह के समाज का निर्माण करने में अपना अधिक समय लगाया; भिन्न-भिन्न जाति के लोगों में वैवाहिक सम्वन्ध वढ़ाने का प्रोत्साहन दिया। एक बार उन्होंने अपने एक मन्त्री लिंगायत मधुवरस की पुत्री का विवाह शूद्र हरलया के पुत्र के साथ करवाया। कुछ लोग इस घटना से वहुत क्षुब्ध हुए। उन्होंने राजा के पास जाकर वसवेश्वर के विरूद्ध अनेक तरह की शिकायतें कीं। उन्होंने राजा को यह भी सूचित किया कि वसवेश्वर स्वयं राजा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



बनने को सोच रहा है। राजा ने बिना सोचे-समझे मधुवरस और हरलय्या को बुलाकर उनकी आँखें निकलवा दीं। बसवेश्वर राजा के इस कार्य से बहुत ही दुःखी हुए और उन्होंने इसका जिम्मेदार अपने को समझा। उन्होंने तुरन्त त्यागपत्र दे दिया और अपने सभी सहयोगियों को समझा-बुझा कर कूडलसंगम क्षेत्र की ओर प्रस्थान किया। बसवेश्वर के जाते ही अन्य महात्मा भी कल्याण नगर छोड़कर अन्य स्थानों में चले गये। उधर कल्याण नगर में राजा बिज्जल का वध कर दिया गया। बसवेश्वर को राजा के वध का समाचार सुनकर बहुत दुःख हुआ। कुछ दिनों के उपरांत ही बसवेश्वर ने ईश्वर का ध्यान करते हुए उसी क्षेत्र में अपने भौतिक शरीर को त्याग (लिंगैक्य) दिया। आज भी वीरशैव धर्मावलम्बी वैशाख शुद्ध तृतीया को बसवेश्वर जयंती मनाते हैं। ऐसा माना जाता है कि शा० श० १०४५ के वैशाख सुदी अक्षय तृतीया को ही उनका जन्म हुआ था।

इस तरह ३६ वर्ष की अल्प आयु में उन्होंने अपनी महान् क्रान्ति द्वारा लिंगायत धर्म का पुनरुद्धार किया और अन्य लोगों को इस धर्म में लेकर इस धर्म की संख्या बढ़ायी। उनके उपरान्त अन्य लोगों को इस धर्म में लेना फिर बन्द हो गया। धीरे-धीरे इस धर्म के पुराने विचार वाले वैदिक क्रियाओं को भी करने लगे। आज भी लिंगायत लोग पूजा के समय श्रीरुद्र और पुरुष-सूक्त का पाठ करते हैं। लिंगायत धर्मावलम्बियों के ऊपर बसवेश्वर का प्रभाव आज भी विद्यमान है। वे लोग इनको एक महान् धर्मप्रचारक मानते हैं। बसवेश्वर की महत्ता का परिचय इसी से होता है कि उनके जीवन काल में तथा मृत्यु के उपरांत भी अनेक संत, महात्मा, साहित्यकारों ने संस्कृत, कन्नड, तेलगु, तमिल, मराठी तथा इंग्लिश आदि भाषाओं में उनके चरित्र तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। वीरशैव संप्रदाय में इन ग्रन्थों को धार्मिक ग्रन्थों के रूप में माना जाता है। इस धर्म के दार्शनिक तत्वों का विवेचन 'श्रीकरभाष्य,' 'सिद्धान्त शिखामणि' आदि संस्कृत ग्रंथों में भी किया गया है।

**उनके सिद्धान्त और उपदेश**

इतर मताचार्यों की भांति बसवेश्वर ने बड़े-बड़े आध्यात्मिक ग्रंथों की रचना नहीं की। हो सकता है उन्हें लिखने के लिए पर्याप्त समय न मिला हो। महात्मा गौतम बुद्ध के समान जन-सामान्य को अपना उपदेश देने के लिए उन्होंने वहाँ की जन सामान्य भाषा कन्नड को ही अपने उपदेश का माध्यम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



बनाया था। इस भाषा में वाणियों के रूप में उन्होंने जो कुछ उपदेश दिया वह वचन-शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। उनकी वाणियों की संख्या एक हजार से अधिक है। इन वचनों के आधार पर ही उनके विचारों का पता चलता है।

कर्नाटक के प्राचीनतम धर्मों में वीरशैव धर्म भी एक है। वह कालामुख, पाशुपत आदि शैव संप्रदायों का परिष्कृत रूप माना जा सकता है। लेकिन तत्त्वदर्शन और आचार की दृष्टि से यह मत अन्य शैव पंथों से बिलकुल निराला मालूम होता है। वीरशैव का अपना स्वतन्त्र दर्शन है। वे भी अद्वैतवादी हैं, लेकिन माया के स्थान पर शक्ति या चिच्छक्ति मानते हैं। वह शिव की विमर्श-रूपिणी आदि शक्ति है। उसीसे इस सारे संसार का विकास या सृजन होता है। इसीलिए यह वीरशैव सिद्धांत शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धांत या शिवाद्वैत सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध है। वीरशैव दर्शन में सांख्य के २५ तत्वों के साथ शिव-शक्ति, ईश्वर आदि ११ तत्व मिलाकर ३६ तत्व माने गये हैं। शिव और जीव का ऐक्य इस दर्शन का परम लक्ष्य है। इसका प्रतिपादन शैवागमों के आधार पर हुआ है। इसे षट्स्थल सिद्धांत भी कहते हैं। भक्त स्थल, महेश्वर स्थल, प्रसादिस्थल, प्राणालिंगि स्थल, शरणस्थल, ऐक्य स्थल के नाम से छः स्थल हैं। मोक्ष-प्राप्ति के लिए इन स्थलों के आधारपर अनुष्ठान करना पड़ता है। षट्स्थल मार्ग भक्ति और सदाचार की सुदृढ़ नींव पर प्रस्थापित है। इसमें भक्ति-ज्ञान-क्रिया तीनों का सुन्दर समन्वय है। शिवयोग में भक्ति का आधिक्य होने पर भी ज्ञान और कर्म भक्ति के आवश्यक सहकारी तथा पूरक अंग है। इस धर्म में अष्टावरण का भी एक विशिष्ट स्थान है। अष्टावरण में गुरु, लिंग, जंगम, भस्म, रुद्राक्षी, मन्त्र, पादोदक और प्रसाद माने जाते हैं। गुरुदेव तीन दीक्षाओं द्वारा साधक के तीन अंगों के साथ तीन लिंगों का संवन्ध स्थापित करता है। क्रिया-दीक्षा से शिष्य के स्थूल अंग (शरीर या काय) के साथ इष्टलिंग का, मन्त्र-दीक्षा से सूक्ष्म अंग के साथ प्राण लिंग का तथा ज्ञान-दीक्षा से कारण शरीर के साथ भावलिंग का संबंध गुरु करता है। गुरु की कृपा से भक्त का मांस-पिंड परिष्कृत होकर मन्त्र-पिंड वन जाता है। तव उसका शरीर ही शिव का पवित्र आयतन या आवास बन जाता है। इसलिए वीर शैव का पर्यायवाची लिंगायत मत प्रचलित है। इस पंथ में दीक्षा की वड़ी महत्ता है। इस सिद्धांत का विस्तृत वर्णन वचनशास्त्र में तथा श्रीकर-भाष्य[1] में है।

---

[1] ब्रह्मसूत्रों पर श्री पति पण्डिताराध्यने 'श्रीकर भाष्य' नाम से एक भाष्य लिखा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अब बसवेश्वर के द्वारा प्रतिपादित शिक्षाओं के कुछ मूल कन्नड-उद्धरणों का हिन्दी अनुवाद दिया जाता है :—

१—चोरी मत करो, किसी को मारो मत, झूठ नहीं बोलना चाहिए, क्रोधी मत बनो, दूसरों के साथ असहिष्णुता मत करो, अपनी बड़ाई नहीं करनी चाहिए, किसी को प्रत्युत्तर मत दो, यही अंतरंग शुद्धि है, यही बहिरंग शुद्धि है। यही हमारे कूडल संगमको साक्षात्कार करने का मार्ग है।

२—दयारहित धर्म कौन है ? सभी प्राणियों पर दया रहनी चाहिए। दया ही धर्म का मूल है।

३—देखो ! देवलोक मर्त्यलोक अलग नहीं है। सत्य बोलना ही देवलोक है, और झूठ बोलना ही मृत्युलोक है। आचार ही स्वर्ग है, अनाचार ही नरक है।

४—संसार एक हवा के झोके के समान है। संपत्ति हाट के लोगों के समान है। इन दोनों से मोहित होकर अपने को मत बिगाड़ो।

५—मुझसे कोई छोटा नहीं है। शिवभक्त से कोई बड़ा नहीं है। आपके पाद साक्षि, मेरा मन साक्षि है। कूडल संगम देव मुझे यही दिव्य है।

६—मारने वाला ही चमार है। गंदी चीज़ खाने वाला ही शूद्र है। कोई कुल नहीं है। सभी जीवात्माओं का सुख चाहने वाले कूडल संगम के शरण लोग ही कुलज हैं।

७—हमारा कूडल संगम देव (ईश्वर) न नादप्रिय है न वेदप्रिय है, किन्तु भक्तिप्रिय है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# आचार्य शंकर

## ( ७८८—८२० ई० )

पूर्व ही नहीं अपितु पश्चिम के भी विद्वानों ने भी स्वीकार किया है कि शंकराचार्य विश्व के एक महान दार्शनिक महापुरुष थे। केवल बत्तीस वर्ष के अल्प काल में सम्पूर्ण शास्त्रों का मन्थन करना, ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषदों पर प्रकाण्ड भाष्य लिखना, सारे भारतवर्ष का भ्रमण करना तथा हिन्दू समाज में क्रान्ति पैदा कर एक ऐसे दर्शन का प्रचार करना जो अब तक भारत में मान्य ही नहीं, अपितु संसार के उच्चतम दर्शनों में महत्वपूर्ण है—यह साधारण बात नहीं है। शंकराचार्य का वैराग्य, उनके जीवन की पवित्रता, उनकी मेधा, उनकी कार्यशीलता, उनकी दार्शनिक सूझ, आदि सभी गुण अलौकिक तथा असाधारण थे। यदि श्रद्धालु उन्हें साक्षात् शिव का अवतार कहते हैं तो इसमें क्या अतिशयोक्ति है ?

जिस युग में शंकराचार्य का अविर्भाव हुआ उसमें बौद्ध धर्म का प्रबल प्रचार था। ऐसा जान पड़ता था कि ब्राह्मण संस्कृति के स्थान पर बौद्ध संस्कृति स्थापित हो जायगी। कहा जाता है कि इस भीषण परिस्थिति में शंकराचार्य का अवतार वैदिक संस्कृति का उद्धार कर उसे सुदृढ करने के हेतु हुआ। आचार्य के जीवन-क्रम से ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने किसी विशेष उद्देश्य से जन्म लिया था। उस उद्देश्य को वे भली भांति जानते थे। बौद्ध दर्शन का खण्डन उन्होंने किया अवश्य है, किन्तु उनको प्रच्छन्न बौद्ध भी कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि शंकराचार्य की तीव्र आलोचना-दृष्टि केवल पर-धर्मावलम्बियों पर ही नहीं थी, बल्कि, स्वधर्मावलम्बियों पर भी, जिन्होंने सत्य का मार्ग छोड़कर आडम्बर को अपना लिया था। सत्यानुरागी के लिए अपने-पराये का भेद नहीं होता। शंकराचार्य ने वैदिक संस्कृति को स्वीकार करनेवाले मीमांसकों की भी पर्याप्त आलोचना की और बौद्ध धर्म में जो सत्यांश था, उसे खुले दिल से स्वीकार किया।

शंकराचार्य क्रान्तिकारी विचारक अवश्य थे, किन्तु उनकी क्रान्ति उथल-पुथल मचानेवाली नहीं, अपितु व्यवस्था स्थापित करनेवाली थी। उनकी श्रुतियों की मीमांसा क्रान्तिकारी होते हुए भी मर्यादाविहीन नहीं है। हिन्दू

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



धर्म मर्यादावलम्वी है। वर्णाश्रिम धर्म का जो समन्वयात्मक रूप शंकराचार्य ने सबके सामने रखा वह स्थल-स्थल पर नवीन होते हुए भी मर्यादाविरोधी नहीं था। शंकराचार्य ने श्रुतियों की जो व्यवस्था की है, उसकी विशेषता यह है कि वह व्यापक, शास्त्रसंवलित, तर्कसम्मत तथा अनुभूत सत्यों पर अवलम्बित है। बारह-सौ वर्ष वाद भी उस कोटि की व्यवस्था अव तक किसी ने प्रस्तुत नहीं की।

केरल देश के कलादिग्राम में शंकराचार्य का जन्म नम्बूदरी ब्राह्मण-वंश में हुआ था। उनकी जन्मतिथि के विषय में पर्याप्त विवाद है, फिर भी साधारणतया उनका जन्म सात ७८८ ईसवी तथा तिरोभाव ८२० ई० माना जाता है। उनकी माता का नाम अर्यम्बा तथा पिता का नाम शिवगुरु था। कहा जाता है कि माता-पिता की भक्ति से प्रसन्न होकर तिरूचूर मन्दिर के भगवान शिव ने स्वयं उनका पुत्र होना स्वीकार किया तथा वैशाख शुक्ल पञ्चमी को अवतार लिया। यह भी लोकश्रुति है कि जब आर्यम्वा से प्रश्न हुआ कि उसे कैसा पुत्र चाहिए—दीर्घायु अथवा गुणवान (क्योंकि गुणवान पुत्र दीर्घायु नहीं हो सकता)—तो आर्यम्वा ने गुणवान पुत्र ही प्राप्त करना चाहा। प्रारब्धानुसार शंकर को केवल आठ वर्ष की आयु मिली थी। गाँव के समीप वहने वाली नदी में नहाते समय जिस समय ग्राह ने शंकराचार्य को पकड़ा था उस समय वे आठ वर्ष के हो चले थे। अतः माता को सन्देह हो गया कि सम्भवतः अव बालक का अन्तिम समय आ गया है। इसलिए जब शंकराचार्य ने मृत्यु के पहले माता से संन्यास की अनुमति माँगी तो माता ने तुरन्त आज्ञा दे दी। शंकर ने स्वयं संन्यास के मन्त्रों का उच्चारण करके संन्यास ले लिया। संन्यास सांसारिक जीवन का अन्त है, अतः उस सांकेतिक मृत्यु के उपरान्त उनको पुनः कुछ वर्ष की आयु प्राप्त हुई।

जव शंकराचार्य ५ वर्ष के थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। अतः वालक के पालन-पोषण तथा शिक्षा का भार विधवा माता पर ही था। शंकराचार्य आठ वर्ष की अवस्था तक पूर्ण पंडित हो गये और उन्होंने, अनौपचारिक विधि से, संन्यास भी ले लिया। विधवा माता का एक मात्र पुत्र जव विधिवत् संन्यास की दीक्षा के लिए गृहत्याग करने लगा तो माता ने स्नेहार्द्र होकर पूछा—"वेटा, तुझे भोजन कौन देगा ?" पुत्र ने कहा, "संसार की सारी स्त्रियाँ मेरी माताएँ होंगी, शिष्य मेरे पुत्र होंगे और भगवत्भक्ति मेरी चिरसंगिनी होगी।" अन्त में प्रतिज्ञानुसार इस वात का आश्वासन पाकर कि संन्यासी होने पर भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अंत समय में उनको देखने आ जायेंगे, माता ने संन्यास के लिए शंकर को जाने दिया।

शंकर गुरू की खोज में निकले। गुरुदेव नर्मदा के किनारे शिष्य की प्रतीक्षा कर रहे थे। कहते हैं कि जब शंकर गोविन्दाचार्य के पास पहुँचे तो नर्मदा में ऐसी बाढ़ आई कि जान पड़ा कि पानी गुरु की गुफा में प्रवेश कर जायगा। शंकराचार्य ने मन्त्र-शक्ति से सारा जल एक घड़े में भर लिया। इस तरह गुफा में जल न जा सका। गुरु ने शिष्य को पहिचान लिया और तीन वर्ष तक वेदान्त की शिक्षा देने के बाद शंकर को आज्ञा दी कि वे काशी जाकर विश्वनाथ के दर्शन कर ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखें।

काशी आकर शंकराचार्य मणिकर्णिका घाट पर रहने लगे और नित्य विश्वनाथ-अन्नपूर्णा का दर्शन करने लगे। एक दिन गंगा-स्नान के बाद आचार्य लौट रहे थे। रास्ते में उन्हें एक चाण्डाल मिला। शंकर ने उसे रास्ता छोड़ने को कहा परन्तु चाण्डाल ने उत्तर में कहा कि क्या ब्रह्म-विद् संन्यासी के लिए भी भेद-दृष्टि उचित है ? शंकराचार्य समझ गये कि साक्षात् विश्वनाथ ही परीक्षा ले रहे हैं। विश्वनाथ ने प्रकट होकर दर्शन दिया और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने की अनुमति भी दी। थोड़े ही दिनों में युवा संन्यासी की ख्याति फैल गई और शिष्य मंडली ब्रह्म सूत्र का अध्ययन करने आने लगी। यहीं पर शंकराचार्य को सनन्दन नामक शिष्य की प्राप्ति हुई जो आगे चलकर पद्मपाद के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके साथ शंकर बदरिकाश्रम की ओर चल पड़े क्योंकि इनके मनमें व्यासगुहा में जाकर भाष्य लिखने की इच्छा हुई। ब्रह्मसूत्र की रचना भी तो व्यासगुहा में ही हुई थी। कुछ लोग कहते हैं कि भाष्य-रचना आचार्य ने काशी में ही की। जो भी हो शंकराचार्य ने चार वर्ष तक बदरिकाश्रम में निवास किया और बदरीनाथ की मूर्ति का उद्धार किया। अब शंकराचार्य १६ वर्ष के हो चले और उनको ऐसा लगा कि उनका अन्तिम समय आ गया है। इसी समय एक ब्राह्मण ने आकर उनको चुनौती दी कि यदि तुम ब्रह्मसूत्रों का अर्थ जानते हो अमुक सूत्र का अर्थ बताओ। शंकर ने अपने उत्तर से ब्राह्मण-वेशधारी व्यास को सन्तुष्ट कर दिया और व्यास ने प्रसन्न होकर उन्हें १६ वर्ष की आयु और प्रदान की और अद्वैतवेदान्त का प्रचार करने की आज्ञा दी।

किंवदन्ती है कि व्यास ने ही शंकर से कुमारिल को वेदान्त की ओर मोड़ने को कहा, अतः शंकर कुमारिल से मिलने प्रयाग की ओर चल पड़े। वहाँ पर कुमारिल मिले तो अवश्य, किन्तु वे शरीर छोड़ने का संकल्प कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



चुके थे। अतः वे शंकराचार्य की मनोकामना पूरी न कर सके। शंकराचार्य चाहते थे कि वे भाष्य पर वृत्ति लिखें। कारण यह था कि कुमारिल के समान उद्भट विद्वान उस समय शायद ही कोई था। इसके अतिरिक्त कुमारिल को बौद्ध धर्म का आधिकारिक ज्ञान था, और वे बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन सफलता-पूर्वक कर चुके थे। वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार में शंकराचार्य कुमारिल का योग चाहते थै। कुमारिल शरीर-त्याग के संकल्प को छोड़ना न चाहते थे। अतः उन्होने शंकर को अपने शिष्य तथा सम्वन्धी मण्डन मिश्र के पास भेजा।

मण्डन से मिलने पर उनके साथ शंकर का जो विवाद हुआ वह एक रोमांचकारी घटना है। माहिष्मती पहुंचने पर शंकराचार्य ने किसी स्त्री से मंडन का घर पूंछा। स्त्री ने कहा, "जिसके द्वार पर तोते स्वतः-प्रमाण, परतः प्रमाण आदि पर विवाद कर रहे हों, वह मण्डन मिश्र का घर समझो"। यह मण्डन मिश्र की विद्धत्ता का प्रमाण है। दोनों विद्वान शास्त्रार्थ करने को तैयार हुए, किन्तु निर्णायक कौन हो? अन्त में दोनों की सम्मति से उभयभारती जो मण्डन मिश्र की पत्नी थी, निर्णायक पद पर आसीन हुईं। पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं कि उभयभारती कैसी विदुषी और न्यायप्रिय स्त्री रही होंगी। यह केवल शंकर और मण्डन की ही नहीं, वरन् उभयभारती की भी परीक्षा थी, क्योंकि निश्चय यह हुआ था कि जो पराजित होगा वह दूसरे का आश्रम स्वीकार करेगा—मण्डन के लिए संन्यासी होने और शंकर के लिये गहस्थ होने की शर्त थी। पाठक कल्पना कर सकते हैं कि उभयभारती का कार्य कितना कठोर था। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ, और एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, एक हफ्ते नहीं, दो हफ्ते नहीं, पूरे चालीस दिन तक शास्त्रार्थ चलता रहा। नित्य शास्त्रार्थ सुनने के उपरान्त उभय-भारती संन्यासी शंकर को भिक्षा देती और पति को भोजन। एकतालीसवें दिन हृदय को कठोर करके उभय-भारती ने पति को भी भिक्षा लेने के लिए आमन्त्रित किया। तात्पर्य स्पष्ट था। मंडन पराजित थे। उन्हें संन्यास लेना था। किन्तु पति के पराजित होने मात्र से पत्नी ने अपने को पराजित न समझा। उभयभारती ने शंकराचार्य से शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया। विषय था कामशास्त्र। किन्तु ऐसे विषय पर जिसका कोई ज्ञान युवा संन्यासी शंकर को था ही नहीं, वे कैसे शास्त्रार्थ कर सकते थे? उन्होंने एक महीने की अवधि चाही। एक महीने में योगविद्या द्वारा मृत राजा अमरुक के शरीर में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



प्रवेश कर शंकर ने कामशास्त्र के रहस्यों को समझा और फिर लौटकर उभय भारती को पराजित किया। कहते हैं मंडन मिश्र का नाम संन्यास लेने पर सुरेश्वराचार्य हुआ, किन्तु इस विषय में पर्याप्त विवाद है। यद्यपि शंकराचार्य ने उभयभारती को पराजित कर दिया फिर भी वे उनको बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और उन्हे साक्षात् सरस्वती का स्वरूप ही समझते थे। कहा जाता है कि शृंगेरी में आचार्य ने उभयभारती के नाम पर सरस्वती मन्दिर की स्थापना की।

माहिष्मती से विजय की पताका दक्षिण की ओर चल पड़ी। रास्ते में पर्वत पर रहनेवाले कापालिकों से शंकर की मुठभेड़ हुई। कापालिक भैरव के उग्र उपासक थे। कापालिकों ने देखा कि शंकराचार्य का प्रभाव बढ़ रहा है और उनके सम्प्रदाय का ह्रास हो रहा है। शंकराचार्य को मारने के उद्देश्य से कापालिकों का नेता आचार्य का शिष्य वन गया और एक दिन उसने शंकर के सिर की भिक्षा बलि देने के निमित्त मांगी। उदार शंकर सहमत हो गये। एकान्त में ज्यों ही कापालिक शंकर का शिरश्छेदन करने जा रहा था त्योंही पद्मपाद ने आकर शंकर की रक्षा की और कापालिक का काम तमाम कर दिया।

इसी यात्रा में शंकर को हस्तामलक नामक शिष्य की प्राप्ति एक विचित्र ढंग से हुई। प्रभाकर नामक एक ब्राह्मण का पुत्र बाल्यावस्था से ही अपने विचारों में मग्न रहता था। वह न कुछ सुनता था और न कुछ वोलता था। ब्राह्मण देवता ने शंकराचार्य से वालक पर कृपा करने की प्रार्थना की—"भगवन्, बालक की जड़ता दूर करें।" शंकराचार्य ने वालक से पूछा "तुम कौन हो?" वालक कहने लगा "भगवन्, मैं जड़ नही हूँ, मैं जड़ों का प्रवर्तक हूँ। मैं देह इन्द्रिय आदि से भिन्न आनन्द स्वरूप हूँ। मेरा स्वरूप चैतन्य है।" शंकराचार्य ने प्रभाकर से पूछा, "यह वालक परम ज्ञानी है। यह तुम्हारे यहाँ नहीं रह सकता। इसे मेरे साथ जाने दो।" बालक शंकराचार्य के साथ हो लिया और उसका नाम हस्तामलक हुआ।

परम पवित्र शृंग गिरि पर आचार्य ने एक मठ स्थापित किया। यह मठ आज भी अपनी पवित्रता और शान्ति के लिए प्रसिद्ध है। इसी स्थान पर शंकराचार्य को तोटकाचार्य नामक शिष्य की प्राप्ति हुई। इनका नाम पहले गिरि था और इनकी बुद्धि जड़ थी। किन्तु ये शंकराचार्य के बड़े भक्त थे। एक बार किसी कारणवश गिरि को नदी से लौटने में देर होने लगी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



और आचार्य उनकी प्रतीक्षा करने लगे। मन्दबुद्धि गिरि की प्रतीक्षा अन्य शिष्यों को अच्छी न लगी। आचार्य को यह बात मालूम हो गई और उन्होंने अलौकिक शक्ति से गिरि की बुद्धि में समस्त ज्ञान का संचार कर दिया, जिसके परिणाम स्वरूप गिरि के मुख से तोटक छन्दों में ज्ञान की धारा प्रवाहित हो चली। इसीसे उनका नाम तोटकाचार्य हुआ। ये ही ज्योतिर्मठ के अध्यक्ष हुए।

शंकराचार्य के चार पट्ट शिष्यों में सुरेश्वराचार्य और पद्मपाद का नाम प्रायः एक साथ लिया जाता है। इसका एक ऐतिहासिक कारण है। शृंगेरी में रहते हुए आचार्य ने सुरेश्वर से ब्रह्मसूत्रभाष्य पर वार्तिक लिखने को कहा। किसी तरह सुरेश्वर सहमत हो गये, किन्तु अन्य शिष्यों को यह बात अच्छी न लगी। उनके अनुसार सुरेश्वर में गृहस्थ और मीमांसक दोनों के संस्कार वर्तमान थे, और उन्होंने केवल विजित होने के नाते संन्यास स्वीकार कर लिया था। अतः वे वार्तिक लिखने के अधिकारी न थे। शिष्यों का विरोध आचार्य को अच्छा न लगा, फिर भी उन्होंने पद्मपाद से वार्तिक लिखने को कहा। पद्मपाद ने यह भार हस्तामलक को देने की प्रार्थना की। आचार्य ने कहा कि वे तो सदा समाधि में ही रहते हैं, फिर वार्तिक कैसे लिख सकते हैं? पद्मपाद से यह कहने के बाद आचार्य ने सुरेश्वर से भी शिष्यों की आपत्ति का संकेत किया और उन्हें एक स्वतन्त्र ग्रंथ लिखने को कहा, जिसके परिणाम स्वरूप सुरेश्वर ने "नैष्कर्म्यसिद्धि" लिखी। इस ग्रंथ ने सुरेश्वर की योग्यता पूर्णरूप से सिद्ध कर दी। फिर भी शिष्यों के विरोध के कारण आचार्य ने उनको "ब्रह्मसूत्रभाष्य" पर नहीं, बल्कि बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्यों पर वार्तिक लिखने को कहा। इन्हीं ग्रंथों के आधार पर सुरेश्वर वार्तिककार कहलाते हैं। यह ग्रंथ उनकी अमर कीर्ति है।

पद्मपाद ने "ब्रह्मसूत्रभाष्य" के ऊपर एक टीका अवश्य लिखी, परन्तु उसका एक अंश ही जिसे "पंचपादिका" कहते हैं, उपलब्ध है। इसका भी एक इतिहास है। "पंचपादिका" लिखने के बाद पद्मपाद ने तीर्थयात्रा करने की इच्छा प्रकट की। संभवतः अशुभ की आशंका से आचार्य उनको जाने नहीं देना चाहते थे, फिर भी उन्होंने अनुमति दे दी। पद्मपाद तीर्थयात्रा को चल पड़े। रास्ते में अपने मामा के यहाँ ठहरे। मामाजी मीमांसक थे। उन्होंने देखा कि भानजे ने वेदान्त का एक ऐसा ग्रंथ (पंचपादिका) लिखा है, जिसमें मीमांसा का सर्वथा खण्डन किया गया है। ईर्षाग्नि प्रज्वलित हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



उठी। इधर पद्मपाद यात्रा के लिए आगे बढ़ने लगे तो ग्रंथ के खो जाने के भय से उसे मामा के ही पास छोड़ दिया। मामाजी ने अवसर पाकर ग्रंथ को नष्ट करने के अभिप्राय से घर में आग लगा दी। पद्मपाद लौटकर आये तो मामाजी ने बनावटी सहानुभूति के साथ सारा वृत्तान्त सुना दिया। पद्मपाद ने अविचल भाव से कहा, "कोई बात नहीं, गुरु-कृपा से ग्रंथ फिर तैयार हो जायगा।" मामाजी फिर भयभीत हो उठे और पद्मपाद की बुद्धि विकृत करने के उद्देश्य से उनको विष खिला दिया। पद्मपाद अब प्रयत्न करने पर भी वैसा ग्रंथ लिखने में समर्थ न हो सके और आचार्य के पास जाकर रोने लगे, गुरु का हृदय करुणा से द्रवित हो उठा और वे कहने लगे, "बेटा, दुखी न हो। तुमने अपने ग्रंथ को इतने प्रेम से सुनाया था कि वह अब भी मेरे हृदय पर अंकित है। मैं बोलता हूं, तुम लिखो"। इस प्रकार "पंचपादिका" का उद्धार गुरु-कृपा की अनुपम कहानी है।

उपर्युक्त "पंचपादिका" का उद्धार उस समय हुआ जब आचार्य अपनी जन्म-भूमि केरल में भ्रमण कर रहे थे। शृंगेरी मठ का भार सुरेश्वर पर छोड़कर शंकराचार्य जन्मभूमि की ओर चल पड़े क्योंकि उन्हें अपनी प्रतिज्ञा याद थी—माता का दर्शन आवश्यक था। आठ वर्ष की अवस्था में ही संन्यास लेने के बाद शंकर फिर कालटी लौटे। माता मृत्यु-शय्या पर थीं। पुत्र को देखकर माता गद्‌गद् हो उठीं। और उन्होंने कहा, "बेटा, मेरा अंतिम समय है, निर्गुण ब्रह्म का उपदेश न करो, सगुण ब्रह्म का उपदेश करो"। शंकराचार्य ने जो भक्ति-पूर्वक शिव की स्तुति की तो शिव के दूत साक्षात् प्रकट हो गये। उन्हें देखकर माता डर गईं, और उनके साथ जाने को राजी न हुईं। फिर उन्हें लौटाकर शंकराचार्य ने विष्णु की स्तुति की और विष्णु के दूत प्रकट हो गये। माता को यह रूप बहुत पसन्द आया और उन्होंने उनके साथ सुखपूर्वक शरीर छोड़ा।

माता की मृत्यु के बाद प्रश्न हुआ कि उनकी अन्त्येष्टि कैसे हो। प्रतिज्ञानुसार यह क्रिया शंकर को ही करनी थी, किन्तु वे संन्यासी थे। शास्त्र संन्यासी के लिए ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता। अतः बान्धवों ने विरोध किया और सब प्रकार से असहयोग करने लगे। एकाकी शंकर माता के शव को नदी तक भी न ले जा सके। दरवाज़े पर ही सूखी लकड़ियाँ इक्ट्ठा करके दाह-संस्कार किया। दाह-संस्कार के लिए बान्धवों ने अग्नि तक नहीं दी, शंकराचार्य को अग्नि स्वयं उत्पन्न कर संस्कार करना पड़ा। बान्धवों के व्यवहार से दुःखी होकर शंकर ने शाप दिया, "तुमको भी अपने शव दरवाज़े पर ही जलाने पड़ेंगे।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



शंकराचार्य के कार्यों पर दृष्टिपात करने से जान पड़ता है कि वे विशेष उद्देश्य से ही भारतभूमि पर अवतरित हुए थे। किसी भी आचार्य ने इतना देशाटन नहीं किया, जितना शंकर ने किया। इस देशाटन का उद्देश्य अवैदिक मतों का खण्डन और वैदिक मतों का मण्डन था। इसके साथ ही शंकराचार्य ने राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता की स्थापना एक अनुपम ढंग से की। देश के चार कोनों पर चार मठों की स्थापना की। वे मठ आज भी उस महात्मा की अमर कीर्ति के रूप में वर्तमान हैं। जगन्नाथपुरी में आचार्य ने गोवर्धन मठ स्थापित किया, इसके अधिष्ठाता पद्मपाद हुए। बदरिकाश्रम के ज्योतिर्मठ के अध्यक्ष तोटकाचार्य, द्वारिका के शारदा मठ के अध्यक्ष हस्तामलक तथा शृंगेरी मठ के अध्यक्ष सुरेश्वराचार्य हुए। इसके अतिरिक्त कांची का काम-कोटिपीठ भी शंकराचार्य द्वारा ही स्थापित है। कहा जाता है कि आचार्य ने कांची में ही श्री चक्र की तथा सर्वज्ञपीठ की स्थापना की। एक मत के अनुसार अपने प्रचार-कार्य को सम्पूर्ण करने के उपरान्त आचार्य ने अपना शेष जीवन यहीं बिताया और यहीं पर शरीर भी छोड़ा।

शंकराचार्य की यात्राएं देश के कोने-कोने में हुईं। पूर्व में पुरी, दक्षिण में रामेश्वरम्, पश्चिम में द्वारिका तथा उत्तर में बदरीनारायण तक तो वे गये ही, इसके अतिरिक्त उन्होंनें नेपाल की भी यात्रा की तथा वहां पर पशुपति नाथ की पूजा की सम्यग् व्यवस्था की। अवश्य ही आचार्य को ऋषि-भूमि हिमालय से विशेष प्रेम रहा होगा। उनकी कश्मीर और कैलास की यात्राएं अलग-अलग महत्व रखती हैं। कश्मीर का शारदा मंदिर प्रसिद्ध है। उस मंदिर में सर्वज्ञपीठ है, तथा उसमें चार दिशाओं में चार द्वार हैं। सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण का अधिकारी सर्वथा पवित्र और सर्वज्ञ व्यक्ति ही माना जाता है। मंदिर के तीन द्वार तो खुले रहते थ, किन्तु दक्षिण द्वार कभी न खुलता था, क्योंकि दक्षिण से कोई सर्वज्ञ उस मंदिर में नहीं गया। शंकराचार्य ने इस कलंक को धोया और दक्षिण द्वार खोलकर सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया। जब पंडितों ने आपत्ति की तो आचार्य ने शास्त्रार्थ करके अपनी सर्वज्ञता का पूर्ण परिचय दिया। कैलास-यात्रा का विशेष महत्व यह है कि अनेक लोगों की यह धारणा है कि शंकराचार्य ने अपना शरीर कैलास में ही छोड़ा। त्रिचूर तथा कांची में शरीर छोड़ने वाली बात की परम्परा बहुतों को मान्य नहीं है। शंकर-रूप शंकर अंतिम समय में अपने धाम कैलास को जायें यह स्वाभाविक ही है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



शकराचार्य की अथाह् कार्यशक्ति उनकी यात्राओं और दिग्विजयों तक ही सीमित न थी। यदि केवल उनके ग्रंथों को ही ध्यान में रक्खा जाय तो जान पड़ेगा कि किसी एक व्यक्ति के लिये उतने ग्रंथ और उस महत्व के ग्रंथ केवल बत्तीस वर्ष के जीवन काल में लिखना असम्भव है। उनके ग्रंथ तीन प्रकार के हैं—भाष्य, प्रकरण ग्रंथ तथा स्तोत्र। उपनिषदों, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर आचार्य के भाष्य प्रसिद्ध ही हैं। ऐसा नहीं कि शंकर से पहले इन ग्रंथों पर किसी ने भाष्य न लिखा हो, परन्तु शंकराचार्य के भाष्य के समक्ष वे सब फीके पड़ गये और लुप्त हो गये। शंकराचार्य के बाद भी उस प्रकार का भाष्यकार कोई नहीं हुआ। शंकराचार्य के स्तोत्र भी अत्यंत विलक्षण हैं। निर्गुण ब्रह्म को मानने वाले शंकर ने सगुण ईश्वर की उपासना के लिए जैसे भक्तिपूर्ण स्तोत्र रचे हैं, सम्भवतः वैसे स्तोत्र सगुणोपासक भी नहीं रच सके। स्तोत्रों की ललित कोमल भाषा तथा उनमें प्रवाहित भक्ति-रस किसको प्रभावित नहीं करता? शंकराचार्य ने गणेश, शिव, विष्णु, शक्ति (देवी), नदी, तीर्थ आदि सभी देवताओं के लिते स्तोत्र बनाये हैं जिनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि सभी इनके इष्टदेव थे। आचार्य के प्रकरण-ग्रंथों में "उपदेश-साहस्री" "अपरोक्षानुभूति," "विवेक-चूड़ामणि," आदि प्रसिद्ध हैं। शेष ग्रंथों के विषय में पर्याप्त विवाद हैं।

आचार्य शंकर के अनुसार मनुष्य दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के मनुष्य सांसारिक सुख की इच्छा रखते हैं और दूसरे सांसारिक सुख से विरक्त होकर मुक्ति की इच्छा रखते हैं। इन दो प्रकार के व्यक्तियों के लिए वेद ने दो प्रकार के धर्मों का विधान किया है। कर्म में अभिरुचि रखने वाले व्यक्तियों के लिए प्रवृत्ति-धर्म का विधान है, तथा मुमुक्षुओं के लिए निवृत्ति-धर्म या ज्ञान का विधान है। दोनों के लिये वेद-वचन का अवलम्बन आवश्यक है। जो व्यक्ति शास्त्राज्ञा की अवहेलना कर केवल अपनी इच्छा पूर्ति के हेतु कर्म करता है, वह अधम है, उसे न यहाँ सुख प्राप्त होता है, न परलोक में। अतः लौकिक सुख की इच्छा वाले व्यक्ति के लिये भी शास्त्रानुसार कर्म करना आवश्यक है। इस प्रकार धर्माचरण करने से अन्त में वैराग्य और उससे ज्ञान की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति विरक्त हैं उनके लिये आवश्यक है कि वे गुरू की शरण जाकर ब्रह्मज्ञान का लाभ करें। ऐसे व्यक्ति के लिए कर्म का नहीं, चिन्तन का विधान है: अखिल ब्रह्माण्ड में एक ब्रह्म की भावना करना तथा जगत को असत्य मानकर उससे सर्वथा उदासीन रहना उसकी साधना है। ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है—यह ज्ञान सबके लिए सुलभ नहीं है, इस ज्ञान का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अधिकारी हज़ारों में एक व्यक्ति होता है। अतः जब तक विषयों से सर्वथा विराग न हो जाय जगत् को मिथ्या कहना ढोंग है। इसी से शंकराचार्य ने दो प्रकार के सत्यों की व्यवस्था की है, एक परमार्थ सत्य और दूसरा व्यवहार सत्य। पारमार्थिक दृष्टि से महात्माओं को एक मात्र ब्रह्म सत्य और जड़ जगत् असत्य भासित होता है। जड़ जगत् असत्य है, इसका अर्थ यह नहीं है कि जड़ जगत् का आकाशपुष्प की भांति सर्वथा अभाव है। सत्ता की दृष्टि से असत्य का अर्थ यह है कि जगत् स्वतन्त्र मालूम पड़ता है, परन्तु है परतन्त्र, इसका मूल ब्रह्म में है अर्थात् जगत् वास्तव में ब्रह्म है। मूल्य की दृष्टि से जगत की असत्यता का यह अर्थ है कि जगत की सभी उपलब्धियाँ—पुत्रादि का सुख, धनादि का सुख, कीर्ति का सुख—यह सब वास्तव में दुःख ही है, क्योंकि सभी अनित्य हैं, सभी से दुःख की उत्पत्ति है। इसी से इस "दुःखालयम् अशाश्वतम्" संसार से विरक्ति की आवश्यकता है, इसमें आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता, आनन्द तो आनन्दरूप ब्रह्म से ही प्राप्त हो सकता है। नित्य आनन्द की प्राप्ति असंभव नहीं है, क्योंकि यह हमारे आत्मा का स्वरूप ही है। वह स्वरूप अज्ञान से आवृत है। ज्ञान होने पर स्वरूप की प्राप्ति होती है। ज्ञान का अर्थ शब्दार्थ ज्ञान मात्र नहीं वल्कि अनूभूति है, जो विना वैराग्य तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासन के संभव नहीं है।

———

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# श्री मध्वाचार्य

## (११९९–१२९३ ई०)

मध्वाचार्य भक्तिमार्ग का अनुसरण करने वाले सन्त थे। उन्होंने द्वैत भक्ति का प्रचार किया। वे द्वैतवाद या भेदवाद के माननेवाले परम पण्डित एवं परम भक्त महात्मा थे। उनका कहना था कि दुःख से निवृत्ति और सुख की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। उन्होंने शुद्ध द्वैत भक्ति के सहारे अत्यन्त गूढ़ सच्चिदानन्द के परम तत्व को लोगों को समझाया। उनके अनुसार जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध सेवक-सेव्य भाव से है, न कि एकत्व से। मध्याचार्य ने विष्णु भगवान की भक्ति का काफी प्रचार किया। वे भक्ति-मार्ग के बहुत बड़े आचार्य थे। भक्ति–मार्ग को प्रशस्त करने के लिए उनको शंकराचार्य के अद्वैतमत (मायावाद) आदि का खण्डन करना पड़ा।

शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य इत्यादि आचार्यों की भांति ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर एक अलग मत की स्थापना करने के कारण इनका नाम 'मध्वाचार्य' पड़ा। इनका प्रामाणिक जीवनवृत्त कहीं पर सुलभ नहीं है। जीवन की घटनाएँ व तिथियाँ भी प्रायः विवादग्रस्त हैं। मठों और मन्दिरों की परम्परागत सूचियाँ उपलब्ध अवश्य हैं, परन्तु वे भी प्रायः कल्पना-बहुल ही हैं।

लगभग आठ-सौ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत के मद्रास प्रान्त में मंगलूर जनपद में उड़ीपी नगर के निकट रजतपीठ में, जो शृंगेरीमठ से चालीस मील पश्चिम में है, मध्यगेह भट्ट नाम के विष्णु-भक्त ब्राह्मण रहते थे। वे भार्गव गोत्रीय थे। उनकी पत्नी का नाम वेदवती था। तप और अनुष्ठान के फलस्वरूप ब्राह्मण दम्पति को एक पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम मध्व रखा गया। यह संवत् ११२९ शकाब्द (११९९ ई०) था।

उस ब्राह्मण दम्पति ने बालक मध्व को पढ़ाने-लिखाने का प्रयत्न किया, पर मध्वाचार्य का मन पढ़ने-लिखने में कम लगता था। खेल-कूद और कुश्ती आदि में ही अधिक समय बीतता था। अपनी उम्र के लड़कों के साथ मिलकर खूब आनन्द लेते थे। उनका बचपन का नाम वासुदेव था, परन्तु शक्तिशाली और साहसी होने के कारण लड़के उनको भीम कहकर पुकारा करते थे। कुछ दिनों तक पाठशाला में पढ़कर फिर वे घर पर ही पढ़ने लगे। अब उन्होंने कुछ विधि-



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



पूर्वक पढ़ना प्रारम्भ किया। ज्यों-ज्यों शास्त्रों का अध्ययन करते जाते थे, उनकी बुद्धि खुलती जाती थी। ११ वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने सारे शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर लिया। उन्हें संसार सारहीन लगन लगा और मन घर से उचटने लगा। वैराग्य का भाव वढ़ने पर उन्होंने सन्यास लेने का निश्चय किया। जब वे संन्यास की आज्ञा मांगने माता-पिता के पास गये तब माता-पिता ने उन्हें अनुमति न दी। परन्तु बहुत कहने-सुनने के बाद आखिर मध्वा-चार्य ने आज्ञा ले ली और संन्यास की दीक्षा ग्रहण की।

मध्वाचार्य ने श्री अच्युतप्रेक्षाचार्य से संन्यास की दीक्षा ली। दीक्षा के समय इनका नाम 'पूर्णप्रज्ञ' हुआ। गुरु से अध्ययन काल में इनका संबंध बड़ा ही अच्छा था। केवल कभी-कभी विवाद उत्पन्न हो जाता था। अच्युतप्रेक्ष मध्व को प्राण से भी अधिक प्रिय मानते थे। गुरु से उन्होंने वेदान्त (शंकरा-चार्य के मत) की शिक्षा ग्रहण की, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने शांकर-मत का खण्डन प्रारम्भ किया और द्वैतवाद की व्याख्या कर उसका प्रचार प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि मध्व के पूर्व ब्रह्मसूत्र पर इक्कीस लोगों ने भाष्य लिखा था, परन्तु द्वैतवाद का मंडन और परमत का खण्डन करने के लिये मध्व ने इस पर अपना भाष्य लिखा। अनेक समकालीन विद्वानों से इन्होंने शास्त्रार्थ किया। 'मध्वविजय' नामक पुस्तक में इनके शास्त्रार्थों का विस्तृत वर्णन मिलता है। अपने गुरु श्री अच्युतप्रेक्ष के साथ मध्वाचार्य दक्षिण की ओर गये और विष्णु-मंगल नामक नगर में पहुँचे। यहाँ से वे अनन्तपुर (आधुनिक त्रिवेन्द्रम्, गये जहाँ पर श्रृंगेरीमठ के शंकरानुयायियों के साथ दीर्घकाल तक शास्त्रार्थ हुआ। यहां से धनुष्कोटि और रामेश्वरम् में लगभग चार महीने तक रहने के बाद वे पुन: उड़ीपी लौट आये।

दक्षिण भारत में एक नवीन विचारधारा के नेता के रूप में प्रतिष्ठित होने के उपरान्त मध्वाचार्य ने उत्तर भारत की यात्रा प्रारम्भ की। गंगा के मैदान को पार कर वे हरिद्वार होते हुए बद्रिकाश्रम पहुँचे जहाँ उनकी भेंट व्यास से हुई। व्यास जी द्वारा ही मध्वाचार्य को शंकरमतालोचनार्थ एक स्वतन्त्र भाष्य लिखने का आदेश प्राप्त हुआ। इसके वाद मध्वाचार्य पुन: उड़ीपी लौट आये। रास्ते में उन्होंने गोदावरी तट पर रहने वाले शांकरमतावलम्बी श्री शोभन भट्ट तथा ऐसे अनेक लोगों को अपने मत का अनुयायी बना लिया। अन्त में मध्वाचार्य के मत के अन्तर्गत स्वयं उनके गुरु अच्युतप्रेक्ष भी आ गये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



मध्वाचार्य के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर शंकराचार्य के मतावलम्वियों में खलबली मच गई। इसके फलस्वरूप श्रृंगेरीमठ के तत्कालीन प्रधान पुरोहित श्री पद्मतीर्थ ने अनेकानेक प्रयास कर मध्वाचार्य के प्रभाव को रोकना चाहा, परन्तु सफलता न मिलने पर उन्होंने मध्वाचार्य की सारी पुस्तकों की चोरी करा दी। परन्तु विष्णुमंगल के स्थानीय राजकुमार जयसिंह के प्रयास से मध्वाचार्य को पुनः सारी पुस्तकें प्राप्त हो गईं। इसके अनन्तर 'मध्वविजय' के रचयिता नारायण भट्ट के पिता को भी मध्वाचार्य ने परास्त किया। इसी प्रकार अपने समकालीन अनेक प्रसिद्ध लोगों को शास्त्रार्थ में पराजित कर मध्वाचार्य ने उन सबको अपना अनुयायी बना लिया।

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में मध्वाचार्य ने पुनः उत्तर की यात्रा की, और कहा जाता है कि व्यास जी से उनकी बदरिकाश्रम में पुनः भेंट हुई, और ब्रह्मसूत्र भाष्य इत्यादि लिखने के कारण व्यास जी ने उन्हें कृपापूर्वक अपने पास ही रख लिया। लगभग ९५ वर्ष की आयु भोगकर बदरिकाश्रम में माघ शुक्ल नवमी शकसंवत् १२१६ में उन्होंने शरीर-त्याग गिया। मध्वाचार्य जी अपने समय में विभिन्न नामों से प्रसिद्ध थे जैसे—पूर्णप्रज्ञ, आनन्द तीर्थ, नन्दी-तीर्थ तथा वासुदेव, इत्यादि।

मध्वाचार्य जी ने कुल ३७ ग्रन्थों की रचना की जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(१) महाभारत तात्पर्य निर्णय (२) भगवद्गीता भाष्य, (३) भागवत तात्पर्य निर्णय, (४) ब्रह्मसूत्र, (५) ब्रह्मसूत्रानुभाष्य, (६) ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान (७) प्रमाण लक्षण, (८) मायावाद खण्डन, (९) प्रपंचमिथ्यात्वानुमान-खण्डन, (१०) विष्णुतत्त्व निर्णय।

शंकराचार्य के घोर विरोधी होने के कारण मध्वाचार्य ने उपरोक्त ग्रन्थों में अद्वैतविरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। यदि शंकर ने अद्वैतवाद पर बल दिया तो मध्व ने द्वैतवाद पर। शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या कहा तो मध्वाचार्य ने उसे सत्य घोषित कर दिया। शंकराचार्य ने कहा कि अभेद पूर्वकोभेदः, परन्तु मध्वाचार्य ने 'भेद' को प्रमुखता दी। उन्होंने 'पंचभेदों' को मान्यता दी। ये पांच भेद निम्नलिखित हैं—

(१) ईश्वर और आत्मा में भेद, (२) स्वयं जीवात्माओं में भेद, (३) जड़ और ईश्वर में भेद, (४) जड़ और जड़ में भेद, (५) जड़ और आत्मा में भेद।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



देवता और अच्छे मनुष्य ज्ञान-मार्ग से तथा ईश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। साधारण लोग जन्मजन्मान्तर के चक्कर में पड़े रहते हैं। जो लोग निम्न कोटि के हैं वे नरक में वास करते हैं। राक्षसों को मध्वाचार्य के अनुसार कभी मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। वे सदैव नरक में ही निवास करते हैं। अनन्त नरक-वास का सिद्धान्त भारतीय दर्शन में केवल मध्वाचार्य में ही मिलता है।

मध्वाचार्य भक्तिमार्ग के अनुयायी हैं। भक्ति के द्वारा ही मोक्ष मिल सकता है। भक्ति से ही अनवरत आनन्द के सुखभोग का लाभ मनुष्य ले सकता है। भक्ति की परिभाषा यहां इष्ट के प्रति पूर्व ज्ञान के साथ प्रेम करना है। वेदविहित सम्पूर्ण कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादि करने पर भी मनुष्य नरक से नहीं बच सकता। परन्तु भक्ति परम कृतघ्न की भी रक्षा करने में समर्थ है। भक्ति के विना धार्मिक कृत्य भी पापोत्पादक ही होते हैं। ईश्वर केवल भक्ति से ही प्रसन्न होता है, और प्रसन्न होकर मोक्ष देता है। ईश्वर ही परमानन्द के स्रोत हैं, और जीवों को कृपापूर्वक मुक्त किया करते हैं। ईश्वर अज्ञानी को ज्ञान तथा ज्ञानी को मोक्ष देते हैं। सभी वस्तुओं की सत्ता, कर्म, काल, चरित्र, गुण और आत्मा, ये सभी ईश्वर पर आश्रित हैं।

यह दृश्य जगत् सत् है। असत् जगत् की कल्पना करना ठीक नहीं है। जगत् सत् होने के कारण जगत् का बंधन भी सत् है। अतः केवल ज्ञानमात्र से ही बंधन का भेदन नहीं हो सकता। बंधन को तोड़ने के लिये प्रथमतः निष्काम कर्म की सहायता लेनी पड़ेगी। मध्वाचार्य जी ने गीता के कर्मयोग को, विशेषतः निष्काम-कर्म-योग को, पूर्णतया मान्यता दी है। निष्काम कर्म करने से हृदय शुद्ध होता है, शुद्ध हृदय में भक्ति का आविर्भाव होता है। और भक्ति से मुक्ति मिलती है। जो व्यक्ति जगत् से निर्लिप्त होकर निष्काम भाव से कार्य करता हुआ भगवद्भक्ति में लीन रहता है वह प्रथम श्रेणी का उपासक है। शम-दम आदि षट् साधनों से युक्त सदाचारी मनुष्य द्वितीय श्रेणी का उपासक है, तथा शिक्षा में (ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने में) व्यस्त व्यक्ति तृतीय श्रेणी का उपासक है।

मध्वाचार्य के लिये विष्णु भगवान परम शक्ति व उपास्य है। ब्रह्म शब्द का अर्थ इनके लिये 'विष्णु' ही है। विष्णु पूर्णता के, दया के, सद्गुणों के प्रतीक हैं और मनुष्य अपूर्णता इत्यादि का। इसीलिए तो ईश्वर और जीव में इतना भेद है। इस भेद को ईश्वर भी जानता है और जीव भी। यद्यपि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



हम लोग ईश्वर को प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख सकते, परन्तु ईश्वर में और हममें भेद है इसका अनुमान लगा सकते हैं। प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान पर विशेष बल देकर अपने सिद्धान्तों की स्थापना करने के कारण मध्वाचार्य का एक नाम अनुमान-तीर्थाचार्य भी था। चूंकि जीव दुःख और कष्ट भोगता है और ईश्वर नहीं, इसलिये अनुमान द्वारा यह सिद्ध होता है कि ईश्वर और जीव में भेद है। ईश्वर और जीव दोनों सतत हैं इसलिये इनके बीच का भेद भी सतत है।

जीवों के प्रति मध्वाचार्य के हृदय में इतनी दया थी कि उन्होंने वेदों में वर्णित पशु-वलि का घोर विरोध कियां। यज्ञ में पशु-हिंसा को उन्होंने वन्द कर दिया। उसके स्थान पर चावल, फल-फूल इत्यादि को बलि का प्रतीक मान-कर यज्ञ की पूर्त्ति करने की प्रथा श्री मध्वाचार्य ने ही प्रारम्भ की। यह प्रथा आज भी चली आ रही है। मध्वाचार्य का यह ऐतिहासिक कार्य न केवल उनके अनुयायियों द्वारा ही मान्य है वरन् सम्पूर्ण समाज के लिये विहित है।

मध्वाचार्य ने रामानुज की भांति ही निर्गुण व्रह्म का विरोध किया। व्रह्म सगुण और विशेषणों से युक्त है। वेद पुरुष-निर्मित नहीं है वरन् अपौरुषेय है। जीव व्रह्म की समता कदापि नहीं कर सकता, क्योंकि जीव व्रह्म या भगवान का दास है। जीव को ब्रह्म के समान कहना अक्षम्य अपराध है और इससे जीव घोर नरक में जाता है। निरंतर दास्य भाव से भगवान की उपासना करने पर मुक्ति मिलती है जो चार प्रकार की है :—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य।

पांचरात्र शास्त्र को मध्वाचार्य ने विशेष मान्यता दे रखी थी। श्रीमद्-भागवत के भी वे हृदय से प्रेमी थे। भागवत का यह कथन कि "वही जन्म सफल जन्म है, वे ही कर्म ठीक कर्म हैं, वही मन मन है और वही वाणी वाणी है जिनके द्वारा मनुष्य सर्वसमर्थ विश्वात्मा हरि की सेवा करते हैं"—उनका मूल मन्त्र था। मन, वाणी और कर्म तीनों से भगवद्भक्ति ही जीवन को सफल वनाने का साधन है।

श्री मध्वाचार्य का जीवन बड़ा ही शिक्षापूर्ण रहा है। अपने ग्रन्थों में भी उन्होंने स्थान-स्थान पर जन साधारण के लिये शिक्षापूर्ण बातें कही हैं। सबका उल्लेख संभव न होने के कारण संक्षेप में उनकी अमर वाणी का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है :—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



मनुष्य को सर्वदा भगवान का स्मरण करते रहना चाहिए। इस कारण उसे मृत्यु के समय भी भगवन्नाम विस्मृत नहीं होगा। मरते समय मनुष्य को भयंकर पीड़ा होती है। कहा जाता है कि जो पीड़ा सैकड़ों विच्छुओं के एक साथ डंक मारने से होती है उससे भी अधिक पीड़ा मृत्यु के समय होती है। अतएव जो अभ्यासी नहीं होता है उसे भगवान का नाम इस समय भूल जाता है; अतः नाम का जप सदैव करना चाहिए।

सुख और दुःख स्वयं किये गये कर्मों के अनुसार होते हैं, अतः उनको भोगना सबके लिये आवश्यक है। सुख में डूबकर भगवान को भूलना नहीं चाहिए, न दुःख से व्याकुल होकर ईश्वर की निन्दा ही करनी चाहिए। कार्य करते समय भगवान का स्मरण बनाये रखने से, अपने को कर्त्ता न मानने से, कर्म का बंधन नहीं होता। यह शिक्षा गीता का मूल तत्त्व है। भगवान ही सबसे बड़े गुरु, रक्षक व माता-पिता हैं।

जगत के प्रपंचों में उलझ कर उसके बारे में सोचते रहने से अमूल्य समय नष्ट होता है। इसलिये भगवान को सदा अपने हृदय-मंदिर में स्थापित कर उसी का गुणगान करते रहना चाहिए। भगवान के चरण-कमलों का स्मरण करने मात्र से पापों का विशाल संग्रह नष्ट हो जाता है, और पापों के नष्ट होने से ही मोक्ष मिलता है। इसलिये भगवद्-पाद-पंकज-स्मरण प्रधान कर्त्तव्य है।

मेरी वाणी सुनो। दोनों हाथ उठाकर शपथ खाकर कह रहा हूँ कि ईश्वर की समता करने वाला इस संसार में दूसरा कोई नहीं है। वह ईश्वर ही परम श्रेष्ठ है। यदि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ न होते तो सारा संसार उनके वश में कैसे रहता? वे जगत-नियन्ता कैसे कहलाते? संसार के सभी प्राणियों को हमेशा एक साथ सुख की ही अनुभूति नहीं होती, क्योंकि सारे प्राणी ईश्वर के अधीन हैं। चूंकि सभी प्राणी भगवान के अधीन हैं, इसलिए वह सर्वश्रेष्ठ हैं।

---

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# गुरूनानक

## ( १४६९-१५३८ ई० )

संसार में बड़े से बड़े योद्धा, राजा, महाराजा, राजनीतिज्ञ, ऋषि, लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक, धनवान तथा बलवान व्यक्ति हुए हैं, किन्तु मानव जाति किसी का भी वह आदर नहीं करती, जो एक महात्मा या महापुरुष का करती है। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि किसी भी अन्य प्रकार के पुरुषों की जन्म-तिथि कई सौ वर्षों तक नहीं मनाई गई है, केवल महात्माओं की ही स्मृतियां हजारो वर्षों तक जागृत रही हैं। आध्यात्मिक आदर्श को जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य स्वीकार करने की मानव जाति की यह एक विचित्र प्रवृत्ति है। संसार का सारा इतिहास मिट सकता है, किन्तु मानव के मानस-पटल से महात्माओं की स्मृति नहीं मिट सकती। पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में एक अत्यन्त साधारण खत्री परिवार में उत्पन्न गुरु नानक की स्मृति आज भी ज्यों-की-त्यों है, क्योंकि गुरु नानक एक असाधारण महात्मा थे। भक्ति-रस की भागीरथी बहाने में ईसामसीह के समान, धर्म के वाह्याडंबरों को समाज से विमुख कर तत्व की ओर अभिमुख करने में गौतम बुद्ध के समान, धार्मिक तत्व को अत्यन्त सरल रूप में रखने में मुहम्मद के समान, देश-विदेश भ्रमण कर आध्यात्मिक प्रकाश फैलाने में श्री शंकराचार्य के समान, गुरू-गोविन्द की कृपा का महत्व समझाने में श्री रामानुज के समान, गुरू नानक वास्तव में मानव जाति के गुरु के रूप में इस धरतीतल पर पधारे थे।

गुरू नानक का जन्म ऐसे समय में हुआ जब कि मुगल साम्राज्य की नींव पड़ने जा रही थी। उनका जन्म मानो हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए हुआ। गुरू नानक तथा अन्य सिक्ख गुरूओं ने हिन्दू धर्म की रक्षा दो प्रकार से की। एक तरफ तो उन्होंने धर्म का एक ऐसा उदार स्वरूप सब के सामने रखा कि हिन्दू धर्म की बहुत-सी रूढ़ियां मिट गईं और उसमें बाह्य प्रभावों को आत्मसात् करने की क्षमता बढ़ गई। दूसरे, सिक्ख गुरूओं ने खुलकर मुगल बादशाहों का विरोध किया और उनकी बढ़ती हुई शक्ति को क्षीण किया। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सिक्ख गुरु मुस्लिम धर्म के विरोधी न थे, बल्कि मुग़लों के धर्म-परिवर्तन कराने की नीति के विरोधी थे। धर्म-परिवर्तन कराने की प्रवृत्ति धार्मिक नहीं, राजनीतिक है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



बाल्य काल से ही गुरू नानक असाधारण पुरुष जान पड़ते थे। वे सदा ध्यानस्थ और शान्त दिखाई पड़ते थे। जब उनको स्कूल में पढ़ने को भेजा गया तो सबसे प्रथम उन्होंने गुरू को ही शिष्य बनाया। जब पटिया पर उन्होंने "सोई" लिखकर गुरू जी को दिखाया तो गुरू जी ने पूछा "इसका क्या अर्थ है ?" गुरू नानक ने कहा, "जो जगत का स्रष्टा है वही एक मात्र सबका स्वामी है, उसकी प्राप्ति ही हमारे जीवन का लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति के बिना सारी शिक्षा व्यर्थ है।" मास्टर ने पूछा, "उस परमात्मा को हम कैसे देख सकते हैं ?" नानक ने उत्तर दिया, "हृदय की आँखे खोलने से।" मास्टर ने फिर प्रश्न किया, "यदि ईश्वर हमारा परम पिता है तो संसार में इतना दुःख क्यों है ?" नानक ने उत्तर दिया, "जब हम प्रेम-पथ से विमुख हो जाते हैं तो बंधन में पड़ते हैं और दुःख भोगना पड़ता है। अहंकार ही प्रेम का शत्रु है। दुःखनिवृत्ति का एकमात्र उपाय द्वैत या अहंकार को खो कर परम पिता से प्रेम करना है।" अध्यापक महोदय इन वचनों को सुनकर अवांक् रह गये और जाकर नानक के पिता से ऐलान किया कि नानक ईश्वर के अवतार हैं। इसी तरह यज्ञोपवीत के अवसर पर भी नानक ने पंडित हरदयाल से कहा, 'सूत पहनने से तथा बकरी काटकर संबंधियों को भोजन कराने से मनुष्य कैसे पवित्र हो सकता है ? करुणा के कपास से संतोष का सूत बँटकर पावनकारी उपवीत बनाना चाहिए।' नानक ने सूत का जनेऊ पहनना अस्वीकार दिया।

इन सब घटनाओं को देखकर नानक के पिता मेहता कालू चिंतित रहने लगे। एक दिन उनके कान में यह बात पड़ी कि नानक ने पड़ोसी के खेत को, जो उनके जानवर चर गये थे, फिर ज्यों का त्यों हरा-भरा कर दिया। इस चमत्कार से उनको निश्चय हो गया कि नानक अलौकिक पुरुष हैं। अतः नानक का ध्यान जगत् की ओर मोड़ने के लिए वे प्रयत्न करने लगे। उन्होंने नानक से खेती करने को कहा, परन्तु नानक ने कहा, "पिताजी शरीर ही खेत है। इसमें प्रेम की खेती करना ही हमारा लक्ष्य है।" तत्पश्चात् पिता ने कहा, "अच्छा, जीविका के लिए एक दूकान ही कर लो।" बालक ने कहा, "पिता जी इस शरीर के द्वारा अधिक से अधिक ईश्वर-नाम का संग्रह ही अच्छा व्यवसाय है।" परेशान पिता ने फिर कहा, "तो कोई नौकरी कर लो।" नानक ने कहा, "भगवान की सेवा ही सबसे बड़ी नौकरी है।" इन सब उत्तरों से मेहता कालू को बड़ी घबड़ाहट हुई और उन्होंने सोचा कि शायद लड़के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



की वुद्धि विकृत हो गई है। वैद्य बुलाया गया। नानक ने देख कर कहा, "वैद्य जी पहले आप अपने को आरोग्य करिये।" वैद्य ने कहा "मुझे क्या रोग है ?" "आपकी आत्मा दुखी है, उसका दुख दूर करिये।" "कैसे ?" "अहंकार त्याग कर हरिभजन से।" "मगर मैं तो शरीर का चिकित्सक हूँ।" "ठीक है, परन्तु विना आत्मा के शरीर किस काम का।" अंत में वैद्य भी नानक के शिष्य वनकर लौट गये।

कुछ दिन वाद पिता ने नानक को वीस रूपये दिये और कोई लाभप्रद व्यवसाय करने को कहा। नानक ने रुपयों को साधुओं को भोजन कराने में खर्च कर दिया और पूछे जाने पर उत्तर दिया, "साधुओं को भोजन कराना सबसे लाभप्रद व्यवसाय है।" यह देखकर माता-पिता वहुत दुःखी हुए। नानक समझ गये कि वे लोग रुपयों के ही कारण दुखी हैं। उन्होंने कई दिनों तक भोजन नहीं किया। अंत में माता के आग्रह पर उपवास और मौन कर भंग दिया। नानक अब युवा हो चले थे। माता-पिता की परेशानी देखकर नानक की वहन ने उनको अपने पास बुला लिया। कुछ दिनों के बाद उनकी शादी करदी गई। नानक केवल तीन वर्ष तक स्त्री के साथ रहे। उनके दो पुत्र श्री चंद और लक्ष्मी चंद हुए और उसके बाद वे विरक्त से रहने लगे।

गुरु नानक का गुरु कोई था कि नहीं यह मालूम नहीं है, किंतु जब वे सुलतानपुर में रहते थे उस समय उनको ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ, ऐसा जान पड़ता है। दौलत खाँ की नौकरी करते समय एक वार जब वे अन्न तौल रहे थे तो तेरह तक पहुँचने पर "तेरा तेरा" कहते इतने विभोर हो गये कि न जाने कितना अन्न तौल डाला और तेरह से आगे न बढ़े। जब उनकी शिकायत हुई और अन्न को फिर से तौला गया तो कोई कमी न मिली। परन्तु नानक ने नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

अचानक एक दिन गुरु नानक जंगल की ओर जाकर लापता हो गये और तीन दिन के बाद लौटे। लौटने पर लोगों ने देखा कि नानक के मुख के चारों ओर प्रकाश-मण्डल चमक रहा है। कहते हैं इसी तीन दिन के भीतर नानक को भगवान् का साक्षात्कार हुआ। और जन-साधारण को उपदेश करने का आदेश मिला। जंगल से लौटने पर नानक ने "जप जी" की रचना की और भ्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। सुलतानपुर में ही उनको मर्दाना नामक शिष्य मिला, जो जीवन भर भिन्न-भिन्न यात्राओं में उनके साथ रहा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



गुरू नानक ने अत्यधिक देशाटन किया। उनकी यात्राओं को देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि नानक का जन्म जगत् को उपदेश करने के हेतु ही हुआ था और इसी से उन्होंने देश विदेश में इतना भ्रमण किया। दक्षिण में लंका तक, पूर्व में जगन्नाथपुरी और कामरूप कामाख्या तक, उत्तर में नैपाल और कैलाश-मानसरोवर तक तथा पश्चिम में मक्का और मदीना तक गुरू नानक उपदेश करते हुए भ्रमण करने गये थे। उनके भ्रमणों का वर्णन ही उनके जीवन की कहानी है। घूमते घूमते वे धार्मिक केन्दों में और धार्मिक व्यक्तियों के पास जाते थे, और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को वाह्याडम्बर छोड़कर हृदय से ईश्वर की भक्ति करने का उपदेश देते थे। उन्होंने किसी धर्म-विशेष की वेश-भूषा स्वीकार नहीं की। इसीसे उनकी बात सव सुनते थ और हिन्दू-मुसलमान दोनों ही उनके शिष्य थे। उनके वेश में सम्भवतः हिन्दू और मुसलमान दोनों के वेशों का समन्वय था। इसका एक अर्थ तो यह था कि वाह्याडम्बरों से धर्म की पहिचान नहीं होती और दूसरा अर्थ यह था कि तत्वतः हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्म एक ही हैं। गुरू नानक के साथ रहने वाले सेवकों में भी एक हिन्दू और एक मुसलमान था। यात्रा के सिलसिले में वे हिन्दू और मुसलमान दोनों के तीर्थ-स्थानों में गये। इससे गुरू नानक की उदार भावना का परिचय मिलता है।

गुरू नानक की यात्राओं के सिलसिले में अनेक रोचक घटनाएँ घटीं। वे जान बूझकर प्रत्येक परिस्थिति को उपदेश का माध्यम बनाना चाहते थे। एक बार नानक सैयदपुर गये और लालू नामक एक बढ़ई के यहाँ ठहरे। परन्तु जव वहाँ के दीवान मग्गो मल्लिक को यह सूचना मिली कि एक महात्मा लालू के यहाँ ठहरे हैं तो भग्गो ने गुरू को अपने यहाँ आने को आमन्त्रित किया। पहले तो गुरू ने निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया, परन्तु वहुत आग्रह करने पर वे भग्गो के घर गये। भग्गो ने प्रश्न किया, "महाराज, आप एक महात्मा होकर भी मेरे यहाँ न ठहर कर एक शूद्र के यहाँ क्यों ठहरे हैं?" गुरू नानक ने कहा, "लालू और तुम दोनों अपने-अपने यहाँ से रोटियाँ मंगाओ।" रोटियाँ लाई गईं और गुरू नानक ने एक हाथ से लालू के घर की रोटी और दूसरे हाथ से भग्गों के घर की रोटी निचोड़ी और लोगों ने देखा कि लालू की रोटी से दूध गिर रहा है और भग्गो की रोटी से खून। इस प्रकार गुरू ने प्रदर्शित किया कि धनिकों का धन प्रायः गरीबों का खून चूसने से एकत्र होता है। गरींबों का धन पसीने की कमाई है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अतः वह दूध के समान है। साम्यवाद का यह अनूठा प्रचार है। ईसामसीह ने भी तो कहा है कि सुई के छेद से ऊँट का निकल जाना सरल है किन्तु धनी व्यक्ति के लिये भगवान् की प्राप्ति कठिन है।

लालू गुरू नानक का अनन्य भक्त था। एक बार गुरू नानक ने लालू से कहा, "यह नगर छोड़ दो। इस पर आपत्ति आने वाली है। बावर कावुल से चल चुका है।" यही हुआ जो गुरू ने कहा था। कुछ ही दिन बाद बाबर ने आक्रमण किया और शहर को बर्बाद कर दिया। इस प्रसंग में एक विचित्र बात यह हैं कि गुरू नानक ने सबको शहर छोड़ देने की चेतावनी तो दी, किन्तु स्वयं मर्दाना और वाला के साथ वहीं रहे। अतः जब बावर के सिपाही सैयदपुर पहुँचे तो इनको कैद कर लिया और इनके सिर पर ढोने के लिए गठरी रख दी। जब गुरू नानक चलने लगे तो सिपाहियों ने देखा कि गठरी गुरु के सिर से एक बालिस्त ऊपर अपने आप छाया किये हुए चल रही है। कारागार में गुरू को चक्की चलाने का काम दिया गया। वहाँ भी सिपाहियों ने देखा कि गुरू मस्त होकर भजन कर रहे हैं और चक्की अपने आप चल रही है। अन्त में जब बात बाबर तक पहुची तो वह खुद आया और गुरू का चमत्कार देखकर उनके पैरों पर गिर पड़ा और उनसे क्षमा मांगी। गुरू के कहने पर वावर ने वन्दियों को मुक्त कर दिया और उनको अपने निवास-स्थान पर ले गया। सत्कार के लिए जब बाबर ने गुरू को शराव का प्याला दिया तो उन्होंने कहा "मैं ऐसी शराव नहीं पीता जिसके पीने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और जिसका नशा उतर जाता है। मैं तो भगवद्भक्ति के रस में दिनरात डूबा रहता हूँ। तुमको एक चेतावनी देता हूँ कि जिस प्रकार यहाँ के लोगों के पापों का फल देने के लिए तुम निमित्त होकर आये हो, वैसे ही तुम्हारे पापों का भी फल मिलेगा।" बाबर ने कहा, "महाराज, मेरे अपराधों को क्षमा करें और मुझे यह वर दें कि दिल्ली का तख्त मुझे सदा के लिए प्राप्त हो।" गुरू ने कहा, "संसार अनित्य है फिर भी तुम्हारे उत्तराधिकारी कई पीढ़ी तक दिल्ली में राज्य करेंगे।" बाबर ने कहा, "आपने सांसारिक राज्य तो दिया अब स्वर्ग-प्राप्ति का उपाय बताइए।" गुरु ने कहा, "न्याय करो, सत्य का अनुगमन करो।"

उत्तर की यात्रा करते समय गुरु नानक गोरखनाथ तथा उनके गुरू मच्छेन्द्रनाथ से मिले। हठयोगियों को गुरु ने उपदेश किया कि ईश्वर-भक्ति के विना शुष्क हठयोग व्यर्थ है। परिवार में ही रहकर यदि मनुष्य भक्ति करे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



तो लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। कश्मीर जाकर वहाँ भी गुरू नानक ने वहां के पंडितों को भवद्भक्ति की ओर आकृष्ट किया। तिब्वत में गुरू ने बौद्ध लामा से भेंट की और उनके साथ मानसरोवर भी गये। वहां महात्माओं की सभा में सम्मिलित हुए। उनका आशीर्वाद प्राप्त कर फिर देश की ओर लौट आये।

हिन्दू जनता वाह्याडंवर और जाति-भेद को ही धर्म का तत्व समझ वैठी थी। गुरू पानीपत, हरिद्वार, प्रयाग, काशी आदि धार्मिक स्थानों में जाकर धर्म के वास्तविक तत्व को समझाते थे। केवल वाह्याडम्वर से लक्ष्य की प्राप्ति वैसे ही नहीं हो सकती जैसे केवल पातञ्जल योग नामक शास्त्र के पढ़ने मात्र से सिद्धियों की प्राप्ति नहीं हो सकती। वास्तव में जीवन का लक्ष्य सिद्धियों की प्राप्ति नहीं, वल्कि ईश्वर-प्राप्ति है। निरभिमान होकर ईश्वर की भक्ति करने से ही सच्ची शान्ति मिल सकती है। अज्ञान से अभिमान और अहंकार से अशान्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार उपदेश करते हुए गुरू गया होते हुए कामरूम कमच्छा गये और उन्होंने वहां की रानी का उद्धार किया। जादू आदि उपःयों के द्वारा रानी केवल इन्द्रिय-सुख में लिप्त रहती थी। गुरू नानक ने उसके अभिमान को चूर्ण किया और बताया कि जादू से भी वढ़कर शक्ति परमपिता परमात्मा में हैं, जिसकी भक्ति करने से हमें सभी सुखों की प्राप्ति हो सकती है।

दक्षिण की यात्रा में गुरु नानक कांची, रामेश्वर, सिंहलद्वीप, कन्याकुमारी और श्रीरंगम् आदि भिन्न-भिन्न स्थानों को गये। रामेश्वर में एक महन्त ने उनको शिष्य होने के लिए आमंत्रित किया और उन्हें प्रलोभन दिया कि महन्त वनाकर उनके हाथ में ठाकुर जी को रख दिया जायगा। गुरू नानक ने हँसते हुए उत्तर दिया, "जो सर्वलोकों का स्वामी है उसे आप मेरे हाथ में कैसे रख सकते हैं और भला मैं उनकी देख-भाल क्या कर सकता हूँ?" सिंहलद्वीप के राजा भक्त तो थे, किंतु कई वार पाखण्डियों द्वारा ठगे जा चुके थे। अतः जव उनको पता चला कि कोई महात्मा आए हुए हैं तो उन्होंने परीक्षा लेने के हेतु दो अत्यन्त सुन्दर युवतियों को गुरु के पास भेजा। वहां जाते ही युवतियों का मन ऐसा पवित्र हो गया कि परीक्षा की भावना जाती रही। यह जानकर राजा स्वयं गुरू का दर्शन करने आए मगर पहुँचने पर देखा कि द्वार वन्द है। जव मन ही मन दीन भाव से उन्होंने प्रार्थना की तो द्वार खुला और गुरू का दर्शन मिला।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



गुरू नानक चमत्कार दिखाना ठीक नहीं समझते थे फिर भी अन्य महापुरुषों के समान उन्होंनें भी कभी-कभी चमत्कार दिखाये। एक बार तो सिकन्दर लोदी बड़े चक्कर में पड़ा। एक दिन एक पीलवान रोता हुआ गुरू नानक के पास आया और कहने लगा, 'महाराज मेरा हाथी मर गया है और मैं बड़ी विपत्ति में हूँ।" नानक को दया आ गई और उन्होंने कहा, "जाकर हाथी के कान में सतनाम कहकर बोलो 'उठो'।" पीलवान ने ऐसा ही किया और हाथी उठ बैठा। जब सिकन्दर लोदी को यह समाचार मिला तो वह खुद नानक के पास गया और पूछा, "महाराज आपने हाथी को कैसे जीवित कर दिया?" गुरू नानक ने कहा, "भगवान ही एक मात्र जीवित करनेवाला और मारनेवाला है। मैं तो उसका दास मात्र हूं" लोदी ने कहा "तो क्या भगवान फिर हाथी को मार सकता है?" गुरू ने कहा, "यदि उससे तुम कहो तो अवश्य मार सकता है।" लोदी ने कहा, "अच्छा, मैं कहता हूं कि भगवान इसे मार दे।" भगवान ने सुन लिया और हाथी तुरन्त मर गया। लौदी यह तमाशा देखकर स्तम्भित हो गया और गुरू से प्रार्थना करने लगा, "महाराज हाथी को फिर जीवित कर दीजिए।" गुरू ने कहा, "भगवान के भक्त दया और करुणा के वश होकर काम करते हैं, आज्ञा देने से नहीं।" लोदी ने बहुत मिन्नत की पर कुछ न हो सका।

गुरू की मक्का की यात्रा उल्लेखनीय है। एक बार गुरू नानक मक्का जाने वाले फकीरों के साथ हो लिये। गुरू की वेशभूषा कुछ ऐसी विचित्र थी कि फकीरों को सन्देह हुआ कि वास्तव में वे मुसलमान हैं कि नहीं। उन लोगों ने पूछा, "तुम्हारा धर्म क्या है?" गुरू ने कहा, "मेरा धर्म ईश्वर-भक्ति का धर्म है।" गुरू ने देखा कि फकीर लोग उनको काफिर समझ रहे हैं, अतः उनका साथ छोड़ दिया। जब फकीर लोग मक्का पहुंचे तो देखा कि गुरूनानक पहले से पहुँचे हुए हैं। एक दिन काबा के मुल्ला ने देखा कि गुरू काबा की ओर पैर करके सो रहे हैं। मुल्ला ने कहा, "मूर्ख, देव-मन्दिर की ओर पैर करके क्यों सो रहा है? उठ"। नानक ने निश्चित भाव से उत्तर दिया, "जिस ओर ईश्वर न हो उधर ही मेरा पैर कर दो।" ऐसा कहने पर एक नौकर उनके पैरों को दूसरी ओर फेरने लगा, परन्तु पैर फिरते ही एक विचित्र घटना हुई। लोगों ने देखा कि काबा भी उधर को हो गया। गुरू ने देखा कि अब लोग उनको सुनने की मनः स्थिति में हैं और उनकी बातों पर ध्यान देंगे। अतः उन्होंने उनको ईश्वर की सर्वव्यापकता का उपदेश

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



किया। संकुचितता छोड़कर ईश्वर-भक्ति करने को कहा और बलि प्रथा का विरोध किया। गुरू ने कहा कि सच्ची बलि तो अहंकार की होती है, जो हमको अत्यन्त प्रिय है। उसीका त्याग करना है। मक्का से गुरू नानक मदीना और बगदाद आदि अन्य स्थानों को भी गये। रास्ते में मुसलमान लोग उनसे विवाद करना चाहते थे, परन्तु गुरू नानक विवाद में न उलझ कर सबसे यही कहते थे कि ईश्वर विवाद करने से नहीं भक्ति करने से मिलता है। इस प्रकार गुरू ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को सत्यमार्ग पर लाने का प्रयत्न किया और दोनों ही उनके शिष्य हूए।

गुरू नानक के दो पुत्र थे, परन्तु उनके उत्तराधिकारी गुरू अंगद हुए। अंगद का नाम पहले लहना था। अपने साथियों के द्वारा गुरू नानक की बातें सुनकर उनके मन में गुरू के प्रति भक्ति हो गई और एक दिन वे करतार-पुर आकर गुरू के चरणों पर गिर पड़े। गुरू ने कहा, "मै तो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था। अच्छा तुम्हारा नाम क्या है ?" युवक ने कहा "लहना"। गुरू ने हंसकर कहा, "अच्छा, तुम मुझ से अपना लहना (कर्ज) ले लो।" ऐसा कहकर गुरू ने अपनी सारी शक्ति लहना को दे दी और उसे छाती से लगकर कहा, "आज से तुम्हारा नाम अंगद हुआ।"

जब गुरू के पुत्रों को मालूम हुआ कि गुरू अंगद को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते हैं तो उनको बहुत क्षोभ हुआ। महापुरूषों के उत्तराधिकार का लालच अभिमानी लोगों को ही हो सकता है। इसी से महापुरूषों ने भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा अपने मार्ग को ऐसे अभिमानी लोगों से बचाने का प्रयत्न किया है। पाठक जानते होंगे कि किस प्रकार देवदत्त ने गौतम बुद्ध का उत्ताराधिकार प्राप्त करने के लिए अनेक कुत्सित उपाय किये और बुद्ध ने अपना उत्ताराधिकारी किसी व्यक्ति को नहीं बल्कि संघ को ही बना दिया। इसी प्रकार सिक्ख गुरू भी जब तक योग्य अधिकारी पाते रहे तब तक तो उत्तरा-धिकारी बनाते रहे। उसके बाद उन्होंने 'ग्रन्थसाहब' को ही गुरू के आसन पर बिठा दिया। व्यक्ति-पूजा से मुख मोड़कर तत्व-पूजा की ओर ले जाने का यह एक अनूठा दृष्टान्त है।

लोगों के मन से ईर्ष्या और भ्रम दूर करने के लिए गुरू नानक ने कई परीक्षाओं के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि लहना ही योग्य उत्तराधिकारी है। शिष्य का सबसे बड़ा गुण है, आज्ञापालन। एक बार गुरू नानक अपने शिष्यों के साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने चादर से ढका हुआ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



एक मुर्दा देखा। उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि वे चादर हटाकर उसके नीचे जो देखा है, उसे खा लें। शिष्यों ने समझा कि चादर के नीचे मुर्दा है। अतः वे खाने नहीं गये। केवल लहना जाकर खाने की तैयारी करने लगा और उसने ज्यों ही चादर को उठाया, उसके नीचे अमृत के समान भोजन रखा हुआ पाया। गुरू की आज्ञा का पालन ही अमृत है।

एक दिन गुरू ने अंगद को अपने आसन पर बैठाया और उनको प्रणाम किया। लोग समझ गये कि नानक ने अंगद को गुरू बना दिया और अब वे शरीर छोड़ देगें। गुरू नानक अब शान्त रूप से एकान्त में रहने लगे। एक दिन वे चादर ओढ़कर लेट रहे और जब लोगों ने चादर उठाकर देखा तो गुरू न थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों गुरू के भक्त थे, अतः चादर के दो टुकड़े किये गये। सिक्खों ने उनके नाम पर समाधि और मुसलमानों ने कब्र बनाई। इस प्रकार सन् १५६८ में गुरू ने शरीर छोड़ा।

गुरू नानक का मार्ग संन्यास का मार्ग नहीं है। उनकी शिक्षा यह है कि हम जिस स्थिति में रहें उसी में ईश्वर का स्मरण करते रहें। सारे दुःखों का मूल अभिमान है। अहंकार की तुष्टि का ही नाम संसार है। अहंकार के ही कारण भेद-भाव तथा बाह्याडम्बर की भावना बढ़ती है। अतः हमें अहंकार का त्याग तथा सदाचार का अभ्यास करना चाहिए। परिश्रम करके रोटी कमाना तथा उससे दूसरों को भोजन कराना यही संन्यास है। इसी से लंगर की प्रथा चली। गुरू का लंगर सदा सबके लिये खुला रहता था। उपवास करने से अधिक अच्छा है कमाकर दान करना और संन्यास लेने से अधिक अच्छा है तन-मन को दूसरों की सेवा में लगाना। विवाद करने से अधिक अच्छा है एकान्त में भजन करना। मृत्यु सत्य है और जीवन असत्य, यह सोचकर हमें निरन्तर मन की दीनता और जीवन की पवित्रता का अभ्यास करना चाहिए। दोष दूसरों में नहीं अपने में ढूंढ़ना चाहिए। एक ही ईश्वर हम सबमें व्याप्त है और सारा संसार एक कुटुम्ब है। सभी धर्म उसी एक ईश्वर की आराधना करने को कहते ह। अतः धर्म के नाम पर भेद-भाव रखना और लड़ाई करना मूर्खता है। जब मनुष्य ईश्वर से प्रेम करने लग जाता है, तब उसे सर्वत्र ईश्वर ही दिखाई पड़ता है। आपस में लड़ाई करने का अर्थ है कि ईश्वर को भूलकर हम अपने अहंकार को संतुष्ट करने लगे हैं। ईश्वर के अनेक नाम हैं, अनेक रूप हैं, और अनेक प्रकार की भक्ति है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आध्यात्मिक जीवन में सबसे अधिक महत्त्व गुरू और ग्रंथ का है। सम्भवतः गुरू नानक ने इस बात को जितना स्पष्ट किया और किसी ने नहीं किया। जिस प्रकार केवल वैद्यक की पुस्तकें पढ़कर हम कुशल वैद्य नहीं हो सकते, वैसे ही केवल ग्रंथ पढ़कर आध्यात्मिक जीवन में उन्नति नहीं कर सकते। साथ ही जिस प्रकार बिना ग्रंथ पढ़े हम कुशल वैद्य नहीं बन सकते, वैसे ही बिना सिद्धान्त को समझे आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर नहीं हो सकते। गुरू वह वैद्य है, जो हमारी आध्यात्मिक नाड़ी देखकर हमारे लिये उपयुक्त मार्ग बताता है। गुरू-कृपा होने के बाद ही हम ग्रंथों का भी सदुपयोग कर पाते है, नहीं तो अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं। हमारी आध्यात्मिक दृष्टि अपने प्रयत्न से नहीं खुल सकती, गुरू-कृपा से ही खुलती है। इसी से गुरू-कृपा को आध्यात्मिक जीवन का सर्वस्व कहा गया है। प्रश्न यह है कि गुरू-कृपा हो कैसे ? सन्तों ने इसका उत्तर यही दिया है कि जब हम सच्चे हृदय से तथा दीन भाव से गुरू की इच्छा करने लग जाते है तो गुरू स्वयं हमारे दरवाजे पर आ जाता है। ईश्वर ही गुरू है और वह सतत हमारी मंगलसाधना में लग्न है। जिन लोगों ने टॉमसन की "द हाउण्ड आफ हैवन" शीर्षक कविता पढ़ी है वे समझ गये होंगें कि किस प्रकार गुरू या ईश्वर हमारे लिये व्यग्र रहता है। हमारे भीतर जब उसके लिये तीव्र इच्छा ही नहीं है तो वह प्रकट कैसे हो ? गुरू के लिये तीव्र इच्छा कैसे होती है ? सांसारिकता के बन्धन से अपने को मुक्त करने में अपनी असमर्थता का अनुभव करने से। जब मनुष्य यह अनुभव करने लग जाता है कि काम, क्रोध, लोभ, अहंकार के पाश से वह प्रयत्न करने पर भी नहीं छूट पाता तो वह गुरू की ओर उन्मुख होता है। भला प्रयत्न से अहंकार कैसे टूट सकता है ? जब हम यह समझ जाते हैं तो हम सिक्ख हो जाते हैं। मानवमात्र का कल्याण तभी होगा जब वह "शिष्य" होना सीख जायेगा, अर्थात् अहंकार की व्यर्थता और विषाक्तता को समझ जायेगा। यही गुरू नानक का उपदेश है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# श्री स्वामी समर्थ रामदास

## ( १६०८-१६८० ई० )

भारतवर्ष पुण्यभूमि है । यहां धर्म और दर्शन की चिरकाल से प्रधानता रही है । सदा से इस देश में सन्त महात्माओं का प्रादुर्भाव होता आरहा है । जब-जब हमारे देशवासियों का आध्यात्मिक, चारित्रिक, राजनैतिक और सामाजिक स्तर नीचे गिरता दिखाई पड़ा, किसी न किसी महापुरुष ने जन्म लेकर देश की प्राचीन महत्ता की रक्षा की है । श्री स्वामी समर्थ रामदास जी ऐसे ही महात्माओं में से एक थे । इधर पांच-छः सौ वर्षों में हमारे देश में जो साधु-महात्मा हुए हैं उनमें रामदास जी का स्थान बहुत ऊंचा है । महाराष्ट्र देश में इनके नाम और गुणों से आबाल-वृद्ध सभी नर-नारी परिचित हैं । वहां लोग इनको देवतातुल्य समझते हैं—यहां तक कि इन्हें हनुमान जी का अवतार कहते हैं ।

समर्थ रामदास जी का जन्म सन् १६०८ में चैत्र शुक्ल रामनवमी को दोपहर में ठीक श्री रामचन्द्र जी कें जन्म के समय भूतपूर्व हैदराबाद रियासत के जांव नामक एक ग्राम में हुआ था । आपके पिता का नाम कृष्णाजी पंत तथा माता जी का नाम राणूबाई था । समर्थ रामदास जी का बाल्यकाल का नाम था—नारायण । कहते हैं कि इनके पिता को ३६ वर्षों तक सतत सूर्य की उपासना करने के बाद इस पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी । शिशु नारायण को देखकर उस समय के प्रसिद्ध महात्मा एकनाथ जी ने कहा था कि इनका जन्म हनुमान जी के अंश से हुआ है, अतः भविष्य में यह देश को महान संकट से बचायेंगे । समर्थ रामदास जी बाल्यकाल से ही अत्यन्त क्रियाशील तथा कुशाग्र-बुद्धि थे । पांच वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत हो गया तथा एक वैदिक ब्राह्मण के यहां इनकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी । तीव्रबुद्धि होने के कारण यह अपने पाठ को बहुत शीघ्र स्मरण कर लेते थे तथा अपने साथियों में सदा सर्व-प्रथम रहा करते थे । इसी समय इनके पिता का स्वर्गवास हो गया और इनके पालन और शिक्षा का भार इनकी स्नेहमयी माता श्रीमती राणूबाई के ऊपर आ पड़ा । माता ने इन्हें योग्य बनाने में बड़ी सहायता की और समर्थ जी भी बड़े मातृभक्त थे ।



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



जब श्री रामदास जी अभी छोटी अवस्था के थें तभी उनके हृदय में हनुमान जी के प्रति अगाध भक्ति उत्पन्न हो गई थी। हनुमान जी इनके इष्टदेवता थे। गांव के एक हनुमान-मन्दिर में वह उपासना किया करते थे। कहा जाता है श्री रामदास जी की अनन्य भक्ति से प्रसन्न होकर हनुमान जी ने उनको अपना दर्शन दिया था। हनुमान जी के साथ ही श्री रामचन्द्र जी का भी दर्शन हुआ और इसी समय इनका नाम रामदास पड़ गया। भारत में यवन उस समय विदेशी थे। उन्होंने देश को पराधीन बनाया था तथा भारतीय संस्कृति और धर्म का ध्वंस कर रहे थे। रामदास जी के बालक हृदय में देश और धर्म-प्रेम की भावना उद्दीप्त हो चुकी थी। स्वदेश और धर्म की सेवा करने के लिए उनके विशुद्ध अन्तरात्मा की पुकार को मानो श्री रामचन्द्र जी के द्वारा भी समर्थन मिला और उनको प्रतीत हुआ कि श्री रामचन्द्र जी उनको देश और धर्म का उद्धार करने के लिये आदेश दे रहे हैं। महापुरूषों के विषय में ऐसी दैवी घटनाओं का प्रायः उल्लेख मिलता है, जिससे यह मालूम पड़ता है कि वे अपने जीवन के लक्ष्यों की पूर्ति करना ईश्वरीय कार्य समझते हैं। इस दृढ़ विश्वास से प्रेरित होकर वे विलक्षण कार्य कर जाते हैं और अपने नाम को इतिहास में अमर बना जाते हैं।

समर्थ रामदास जी की १२ वर्ष की अवस्था होने पर उनकी माता को इनके विवाह की चिन्ता पड़ी। श्री समर्थ जी के अन्दर छिपी ज्योति को इनकी माता पहिचान न सकीं, और इनको एक साधारण मनुष्य मानकर उन्होंने इनके लिए गार्हस्थ्य जीवन आवश्यक समझा। परन्तु रामदास जी ने निःस्वार्थ भाव से देश, धर्म और समाज-सेवा को तथा उच्चतम आध्यात्मिक उत्कर्ष-प्राप्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था और विवाह को इसमें बाधक समझकर विवाह न करने तथा जीवन पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्य रखने का निश्चय कर लिया था। इस देश की यही परम्परा रही है। यहां के जिन महान पुरुषों ने अपने महत्वपूर्ण कार्यों से जनता का पथ-प्रदर्शन किया है, उन्होंने अपने को एक कुटुम्ब में सीमित न करके "उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्त को अपना कर, कामिनी और कंचन से पूर्ण विरक्त रहकर देश, धर्म और समाज की सेवा की है। जिन महापुरुषों का वैवाहिक जीवन भी रहा है वे भी अपने परिवार से सर्वथा अनासक्त रहे हैं तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना से पूर्ण रहकर ही महान कार्य कर सके हैं। हमारे देश का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा-पड़ा है। विशेषकर आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र में इन्द्रिय-संयम, त्याग, तपस्या और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



पूर्ण विरक्ति के बिना भारतीय संस्कृति के अनुसार किसी को सफलता नहीं मिल सकती। भोग और योग अर्थात् कर्म में कुशलता (योगः कर्मसु कौशलम्) एक साथ नहीं चल सकते। विवाह की चर्चा करने पर अपनी माता से श्री समर्थ जी कहा करते थे कि "मेरे बड़े भाई के विवाहित होने से वंश-परम्परा तो चलेगी ही, मेरे विवाह करने की क्या आवश्यकता है ?" माता के बहुत प्रयत्न करने पर भी रामदास जी ने विवाह नहीं किया और सब कुछ तय हो जाने पर, यहां तक कि विवाह के लिये कन्या के घर मण्डप में जाने पर भी, वहां से भाग निकले। लोगों ने पीछा किया पर वे पकड़ में न आ सके।

भारतीय संस्कृति के अनुसार आध्यात्मिक साधना तथा उसमें पूर्णता प्राप्त करने के लिए आत्म-संयम अत्यन्त आवश्यक है। भारत में सन्त महात्माओं की कसौटी आत्म-संयम ही है। यह तपस्या अर्थात् स्वेच्छा से प्राप्त होता है। रामदास जी ने इस प्रकार की कठिन तपस्या बारह वर्षों तक की। घर से विरक्त होकर उन्होंने अपनी तपस्या गोदावरी के तट पर पंचवटी में करना प्रारम्भ किया। वहां टाकली नामक स्थान की एक गुफा में रहकर आप भगवद्भजन करने लगे। प्रतिदिन शौचादि क्रिया से निवृत्त होकर स्नान के उपरान्त आप गोदावरी में कमर भर पानी में दो-दोपहर तक खड़े रहकर मन्त्र-जप किया करते थे और इसके बाद मधुकरी भिक्षा मांगकर जो कुछ सात्त्विक आहार मिलता था उससे अपना निर्वाह करते थे। इस उग्र तपस्या से उनका आधा शरीर हमेशा जल मग्न रहने से सफेद हो गया। परन्तु इस क्रिया से जो उनको अपने मन पर विजय प्राप्त हुई उससे उनका आध्यात्मिक तेज बहुत बढ़ गया। इस तपस्या से उनको वाक्सिद्धि प्राप्त हो गई थी। किंवदन्ती ऐसी है कि एक बार उन्होंने बिना जाने ही एक स्त्री को जिसका पति मर चुका था और जिसके शव को लोग दाह के लिये ले जा रहे थे, सौभाग्यवती होने का आशिर्वाद दे दिया। यह जानने पर कि उसका पति मर चुका है रामदास जी ने भगवान का स्मरण कर उस शव के ऊपर गोदावरी के जल से प्रोक्षण कर उसे जीवित कर दिया। बाद में उस आदमी के कई पुत्र हुए जिसमें एक पुत्र रामदास जी के प्रधान शिष्य उद्धव गोस्वामी हुए।

भारतीय संस्कृति में तीर्थयात्रा का बड़ा महत्व है। प्रायः नदियों का संगम, सरोवर या किसी देवालय की निकटवर्ती भूमि या ग्राम या नगर जो महापुरूषों सन्त और महात्माओं का आवास रहा हो, तीर्थ कहा जाता है। इन स्थानों में यात्रा करने से ऐहिक तथा पारलौकिक उभयविध लाभ प्राप्त होता है। ऐसे स्थानों के वातावरण में एक प्रकार की पवित्रता रहती है जो मनुष्य को पवित्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



बनाती है। इन स्थानों में जाने से मनुष्य का भौगोलिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान भी बढ़ता है, जो लौकिक दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद होता है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में अनेकानेक तीर्थ हैं। वहाँ की यात्रा से भारत की धार्मिक एकता तथा उसकी विशालता का ज्ञान होता है। अपनी दीर्घकालीन कठिन तपस्या के उपरान्त समर्थ रामदास जी ने तीर्थाटन प्रारम्भ किया। बारह वर्षों तक भारत के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर के छोरों पर तथा इनके मध्य में स्थित जगन्नाथ, काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, बदरीनाथ, द्वारिका, रामेश्वर इत्यादि अनेकानेक पवित्र तीर्थों का पर्यटन करते हुए पुनः अपने प्रधान स्थान पंचवटी में लौट आये। रामदास जी ने अपनी यात्रा के प्रसंग में भारत के विभिन्न प्रदेशों में अपने इष्ट देवता श्री रामचन्द्र जी तथा हनुमान जी के अनेक मन्दिरों और मठों की स्थापना की। उनके प्रबन्ध का भार वे वहाँ के स्थानीय लोगों पर ही छोड़ देते थे। साधारण जनता के चारित्रिक और आध्यात्मिक विकास के लिए स्वामी रामदास जी इन मठों-मन्दिरों को केन्द्र समझते थे। वे किसी व्यक्ति-विशेष के निजी लाभ के लिए इनकी स्थापना नहीं करते थे।

इस दीर्घकालीन तीर्थ-यात्रा में रामदास जी को अनेक साधु-सन्तों से मिलने तथा उनके सदुपदेश सुनने-सुनाने का अवसर मिला। सम्पूर्ण देश के रहन-सहन तथा सामाजिक जीवन से उनका अच्छा परिचय हो गया। देश की बिगड़ी हुई धार्मिक परिस्थिति को देखकर रामदास जी को बहुत दुःख हुआ। भारत में यवनों के शासन को वे देश का पतन समझते थे। धार्मिक क्षेत्र में भी बड़ा ही ह्रास था जीवन में असफल होने के कारण निवृत्ति-परक धर्म को ही लोग श्रेयस्कर समझते थे। घरबार छोड़कर सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाये बिना वैरागी बन कर जीवन बिताना उस समय सम्मानित मार्ग समझा जाता था। उन्होंने अनुभव किया कि उस समय आवश्यकता थी देश और धर्म की निःस्वार्थ सेवा करने वाले कर्मवीरों की, जो देश को स्वतन्त्र बनायें तथा कर्मठ बनकर उसकी ऐहिक उन्नति में योग दें। वह स्वयं एक अत्यन्त उच्च-कोटि के भगवद्भक्त थे और भक्ति की महत्ता को पूर्णरूप से मानते थे। उनके विचार से भगवान की भक्ति से जैसा मनुष्य का चरित्र निर्मल होता है वैसा और किसी वस्तु से नहीं, परन्तु वह कर्म को भक्ति से पृथक् नहीं करना चाहते थे। वे भगवद्भक्ति के लिए घर-गृहस्थी छोड़ना आवश्यक नहीं समझते थे। वे भक्ति-मूलक कर्मयोग को आवश्यक समझते थे, उन्होंने आजीवन उसी का प्रचार किया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



तीर्थ-यात्रा से लौटने के उपरान्त वह एक बार अपने जन्मस्थान जांब ग्राम में गये। वहां अपनी माता तथा भाई-वन्धुओं से मिले। बहुत दिनों पर लौटने के कारण पहले उनकी माता उनकी आवाज को नहीं पहचान सकी। परन्तु बाद में अपने प्रिय पुत्र नारायण को प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हुईं। कहते हैं कि उनकी आंख की ज्योति चली गई थी। वे अपने पुत्र को देखने के लिए अधीर हो उठीं, परन्तु विवश थीं। यह देखकर रामदास जी ने अपनी माता के सिर पर अपना हाथ फेर दिया और माता को पुनः दृष्टि प्राप्त हो गई। अपने सगे-सम्वन्धियों के अनुरोध करने से रामदास जी वहां कुछ दिन ठहर गये तथा वहां भी धर्मप्रचार का अपना प्रिय कार्य करते रहे। जो भी उनके सम्पर्क में आते वे अत्यन्त प्रभावित होते। उनके जीवन का दृष्टिकोण परिर्वतित हो जाता था। देश-प्रेम और धर्म-प्रेम तो बाल्यकाल से ही उनके हृदय में बद्धमूल था। तीर्थाटन के प्रसंग में भारत-भ्रमण करने और उसकी अवनति देखने से यह भावना और सुदृढ़ हो गई थी। अपने ग्राम से लौटकर वे पुनः पंचवटी में अपने प्राचीन स्थान टाकली में आ गये और धर्म-प्रचार के कार्य में लग गये। वह स्थान-स्थान पर जाकर धर्मोपदेश द्वारा जनता के धार्मिक और सामाजिक स्तर को ऊंचा करने में लग गये। स्थान-स्थान पर मठ-मन्दिरों की स्थापना करने लगे। धीरे-धीरे उनके अनुयायियों और शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। उनकी कीर्तिपताका समस्त महाराष्ट्र में फहराने लगी। उनकी तपस्या तथा आध्यात्मिकता का लोगों पर अद्भुत प्रभाव पड़ने लगा। साधु-महात्माओं ने उनके इस विलक्षण सामर्थ्य को देखकर उनको "समर्थ" उपाधि से भूषित दिया। बाद में उनकी इसी नाम से प्रसिद्धि हो गई।

समर्थ रामदास जी किसी ऐसे योग्य शिष्य की खोज में थे जो पूर्ण रूप से उनका अनुयायी हो, एक शक्तिशाली शासक हो और देश का दृढ़ संगठन करके उसे स्वतन्त्र बनाये तथा भारतीय धर्म धौर संस्कृति का झंडा ऊंचा करे। ईश्वर की कृपा से छत्रपति शिवा जी महाराज जैसे एक योग्य शिष्य उन्हें प्राप्त हुए। शिवाजी ने श्री समर्थ के विचारों को जनता में दृढ़ किया तथा उनके आधार पर अपना एक राज्य संघटित करके देश को स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न किया। शिवाजी महाराज के पथप्रदर्शक एवं परामर्शदाता श्री रामदास जी ही थे। शिवाजी द्वारा महाराष्ट्र की स्थापना में श्री समर्थ का बड़ा हाथ था। महाराष्ट्र में उस समय सन्त तुकाजी की बड़ी ख्याति फैली थी और शिवाजी उनको ही अपना गुरु बनाना चाहते थे। जब इस उद्देश्य से वह उनके पास गये तो श्री तुकाराम जी ने यह कह कर कि इस समय महाराष्ट्र में सर्वोत्तम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सन्त समर्थ रामदास जी हैं, शिवाजी को उन्हीं का शिष्य बनने का सदुपदेश दिया। अन्य लोगों से भी शिवाजी ने श्री समर्थ की कीर्ति-कथा सुनी थी, अतः उन्होंने उनसे ही दीक्षित होने का संकल्प कर लिया। शिवाजी की इस प्रार्थना को स्वीकार कर रामदास जी ने उनको अपना शिष्य बनाया। ऐसा योग्य शिष्य पाकर रामदास जी को भी बड़ी प्रसन्नता हुई।

भारतवर्ष के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि आध्यात्मिक और धार्मिक शक्ति संपन्न सन्त-महात्माओं के मन्तव्यों का राज-शक्ति की सहायता से जनता में विशेष प्रचार हुआ, और उससे देश, जाति और मानव समाज का अत्यन्त कल्याण हुआ। भगवान बुद्ध के उपदेश का बौद्ध सम्राट् अशोक ने बहुत विस्तार किया। अश्वघोष के विचार कनिष्क की सहायता से सुदृढ़ हुए और फैले। उसी प्रकार शिवा जी ने श्री समर्थ के विचारों और उपदेशों को कार्यान्वित कर दक्षिण में तत्कालीन विदेशी यवनों को परास्त कर जनता में आत्मसम्मान एवं देश और धर्म-प्रेम की भावना को सुदृढ़ किया। श्री समर्थ जी अपने देश के विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण करने से इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि देश की अवनति का कारण है जनता में धर्म-भावना तथा आत्मगौरव की कमी। उनका विश्वास था जनता में धर्म के प्रति सच्चा अनुराग उत्पन्न करने से और उनमें आत्म-सम्मान की भावना को दृढ़ करने से देश की उन्नति हो सकती है। इसी भावना से प्रेरित होकर श्री समर्थ जी ने निःस्वार्थ भाव से आजीवन जनता की सेवा की तथा उसे इस लक्ष्य की ओर अग्रसर किया और शिवाजी से भी यही कार्य करवाया। शिवाजी श्री समर्थ के अनन्य भक्त थे। वास्तव में शिवाजी अपने को राजा नहीं समझते थे, वे राजा श्री समर्थ को ही मानते थे और अपने को केवल उनका एक अमात्य।

एक बार की बात है कि श्री समर्थ रामदास जी अपने शिष्यों के साथ सतारे में भिक्षा मांगते शिवाजी के किले पर जा पहुँचे और वहाँ पर जय जय श्री रघुवीर समर्थ कहकर भिक्षा मांगी। शिवाजी महाराज ने ऐसे उचित पात्र को भिक्षा देने के लिए और कोई उपयुक्त वस्तु न पाकर एक दानपत्र लिखकर श्री समर्थ की झोली में डाल दिया। दानपत्र में लिखा था—'आजतक जो मैंने राज्य स्थापित किया है उसे श्री गुरुदेव के चरणों में अर्पित कर रहा हूं।' शिवाजी की अपने प्रति इस अगाध श्रद्धा और भक्ति को देखकर उनके गुरु श्री रामदास जी अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने यह कह कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



कि "एक ब्राह्मण और त्यागी को राज्य से क्या प्रयोजन" उस दान-पत्र को लौटा दिया। परन्तु शिवाजी महाराज दान में दी हुई अपनी वस्तु को पुनः लेने को तैयार न हुए और राज्य को श्री समर्थ जी का मानते हुए, अपने को उनका केवल एक आमात्य मात्र समझते हुए, राज्य-कार्य करते रहे। यह बताने के लिए कि राज्य श्री समर्थ का है, उन्होंने अपने राज्य के झंड़े का रंग भगवा रंग का रखा जिस रंग के वस्त्र को रामदास जी पहनते थे।

वास्तव में श्री समर्थ रामदास जी तथा शिवाजी महाराज का परस्पर का सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ठ तथा अत्यन्त विलक्षण था। वह आध्यात्मिक और शारीरिक शक्ति के संयोग का एक प्रतीक था। इस प्रकार के सहयोग से ही श्री समर्थ के स्वधर्म तथा स्वराज की स्थापना के महान उद्देश्य की सिद्धि हुई। अतः १६८० में जब शिवाजी महाराज का स्वर्गवास हुआ तब श्री समर्थ जैसे विरक्त के हृदय को भी बड़ी चोट लगी और इस घटना से वे बहुत दुःखी हुए। शिवाजी की मृत्यु के बाद श्री समर्थ का सामाजिक जीवन एक प्रकार से समाप्त हो गया। वह एक कमरे में एकान्तवास करते हुए भगवद्भजन में अपना अधिक समय बिताने लगे। शिवाजी के निधन के बाद उनके पुत्र शम्भाजी महाराष्ट्र के राजा हुए। परन्तु उनके हृदय में श्री शिवाजी का स्वधर्म-प्रेम तथा स्वराज्य की उदात्त भावना न थी और श्री समर्थ रामदास जी द्वारा इस दिशा में उद्बोधन करने पर भी शम्भाजी के ऊपर उसका कोई प्रभाव न पडा। सच पूछिए तो उनके व्यक्तित्व में श्री शिवाजी जैसा क्षेत्र ही नहीं था जिसमें सत्शिक्षा का बीज अंकुरित हो सके। इससे श्री समर्थ को और ग्लानि हुई। शिवाजी की मृत्यु के उपरान्त थोड़े ही दिनों के बाद श्री समर्थ रामदास जी ने अपना भौतिक शरीर छोड़कर परमपद प्राप्त किया। अपने भौतिक जीवन के अन्तिम समय में श्री समर्थ ने अपने सम्प्रदाय को चलाने का भार अपने योग्य शिष्यों पर छोड़ा, तथा भगवान से प्रार्थना की कि वह देशवासियों को उनके कल्याणकारी उपदेशों को पालन करने का अनुराग तथा शक्ति प्रदान करे। उनके निधन के समय जब उनके अनुयायी अत्यन्त दुःखी एवं अधीर होने लगे तब श्री समर्थ ने उनको अपने 'दासबोध' नामक ग्रन्थ को पढ़ने की अनुमति दी और कहा कि इस ग्रन्थ के पढ़ने से उनको वही शान्ति और उपदेश प्राप्त होगा जो उनसे साक्षात् बातचीत करने में से हो सकता था।

श्री समर्थ रामदास जी केवल एक अद्भुत महात्मा ही नहीं थे, किन्तु प्रकाण्ड विद्वान, प्रतिभासम्पन्न कवि तथा राजनीति के मर्मज्ञ थे। उनको

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आध्यात्मिक और धार्मिक विषयों के अतिरिक्त लौकिक विषयों का भी विस्तृत ज्ञान था। उसका परिचय हमें उनके 'दास बोध' नामक ग्रन्थ पढ़ने से प्राप्त होता है। इस पुस्तक में इतने विषयों का विवेचन है कि हम उसे एक विश्वकोष कह सकते हैं। अतिरिक्त श्री समर्थ की अन्य कृतियाँ भी हैं। भारतवर्ष की जनता से सम्बन्ध रखने वाला शायद ही कोई ऐसा विषय हो, जिस पर कुछ न कुछ श्री समर्थ ने न लिखा हो। और कुछ न पढ़कर यदि कोई श्री समर्थ की ही रचनाओं का अध्ययन करे तो उसके ज्ञान का विस्तृत विकास हो सकता है। श्री समर्थ रामदास जी महापुरुष थे, जिन्होंने आजीवन विरक्त रहकर निःस्वार्थ भाव से देश और समाज की अनुपम सेवा की और जनता में राष्ट्रीय भावना की उन्नति की। उन्होंने शिवाजी महाराज के द्वारा महाराष्ट्र राज्य की स्थापना करवाकर देश को स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न किया। अपनी अनेक कृतियों द्वारा भविष्य के मनुष्यों को सन्मार्ग पर चलने का मार्ग प्रशस्त किया, अतः उन्हें अवतारी पुरुष कहने में कोई अत्युक्ति न होगी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# श्री राम कृष्ण परमहंस

## (१८२३–१८८६)

किसी राष्ट्र अथवा जाति के उत्कर्ष के लिए यह अनिवार्य होता है कि उसका प्रत्येक व्यक्ति अपने में प्रगतिशील और सज्जन हो। इसीलिए राष्ट्रीय उन्नति की आकांक्षा करने वाले सुधारक, नेता और महात्मा लोग पहले व्यक्ति की इकाई में चेतना जागरित करते हैं। रोम साम्राज्य के पतन के बाद समाज तथा व्यक्ति के पुनरुत्थान के लिए ईसामसीह का जन्म हुआ। व्यावसायिक क्रान्ति को सफल बनाने के हेतु मानो कैल्विन और लूथर का जन्म हुआ। भारत-वर्ष के इतिहास में तो इस तरह के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। उन्नीसवीं सदी में प्रत्येक क्षेत्र में भारत के पतन की पराकाष्ठा हो चली थी। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी दृष्टियों से भारत की अवस्था दयनीय थी। इन सभी प्रकार की दुर्दशाओं से मुक्ति पाने के लिए भारत को आध्यात्मिक तेज की आवश्यकता थी। भगवान् रामकृष्ण का अविर्भाव इसी हेतु हुआ।

श्री रामकृष्ण के जन्म को हम केवल भारत की ही दृष्टि से न देखकर संसार की दृष्टि से भी देख सकते हैं। हमारा परमपिता ईश्वर सतत हमारे मंगल के विधान में लगा रहता है। समय-समय पर परोपकारी महात्माओं का जन्म इसका प्रमाण है। जगन्नियन्ता ने देखा कि कुछ ही वर्षों में इस पृथ्वीतल पर मानव के दृष्टिकोण में अद्‌भुत परिवर्तन होगा। एकता के लिए एक अभूतपूर्व भावना जाग्रत होगी, सभी धर्मों के समन्वय की मांग होगी, युद्ध से थक कर भयभीत मानव ईश्वर का चिंतन करेगा, और एक ऐसे प्रकाश की खोज करेगा, जिसका उपयोग पृथ्वी के कोने-कोने का व्यक्ति कर सके—जिसके उपयोग के लिए आन्तरिक भूख के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा न हो। जैसा कि उनके जीवन-वृत्तान्त से स्पष्ट हो जाएगा, श्री रामकृष्ण उसी ज्योति के समान पृथ्वी पर अवतरित हुए। परमहंस देव को भगवान् कहना सहज है, क्योंकि जो कोई भी भगवान् की तरह सतत जीवों का परम-कल्याण करे वह भगवान् ही है। श्री रामकृष्ण अपने जीवन-काल में तो धार्मिक जागृति करते ही रहे, आज भी उनके उपदेश एवं प्रभाव से मानव-जगत् का कल्याण हो रहा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



ईश्वर कोटि के व्यक्तियों का जन्म राजाओं महाराजाओं के यहाँ ही नहीं होता वरन् साधारण परिवारों में भी हुआ है। श्री रामकृष्ण के पिता श्री खुदीराम चट्टोपाध्याय और माता श्रीमती चन्द्रामणि साधारण स्थिति के व्यक्ति थे। झूठी गवाही देना स्वीकार न करने के कारण खुदीराम को ज़मींदार के क्रोध का भाजन होना पड़ा और पैतृक सम्पत्ति तथा ग्राम देरेपोर का त्याग कर कामारपुकुर में वसना पड़ा। कामारपुकुर पुरी जाने वाली सड़क पर हुगली जिले का एक ग्राम है। खुदीराम और चन्द्रा इसी गाँव में सात्विक जीवन व्यतीत करते थे और श्री रघुवीर की उपासना करते थे। सन् १८३५ में जब खुदीराम गया तीर्थ करने गये हुए थे तो वहीं पर उनको भगवान् कृष्ण ने दर्शन देकर उनके यहाँ जन्म लेने का वचन दे दिया। इधर कामारपुकुर में चन्द्रा को भी भगवान के ज्योतिर्मय रूप के दर्शन उसी समय हुए। फलतः १८ फरवरी सन् १८३६ में चन्द्रामणि को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। स्वप्न के अनुभव तथा जन्म के ग्रहादि पर विचार करने से खुदी राम को पूर्ण विश्वास था कि वह बालक साधारण बालक नहीं हैं।

स्वप्न में भगवान के देखे हुए रूप के अनुसार बालक का नाम गदाधर रखा गया। गदाधर वचपन से ही असाधारण आध्यात्मिक अभिरुचि का परिचय देने लगे। उनको शिक्षा के लिए स्कूल भेजा गया, किन्तु पढ़ने में उनका मन न लगा। उनका मन केवल साधुसंग और भगवान् की लीलाओं में ही लगता था। एक बार तो केवल ६ या ७ वर्ष की अवस्था में वगुलों की पंक्ति देखकर उनको समाधि लग गई। फिर मन्दिर में प्रवेश करने पर तथा शिव का अभिनय करने पर समाधि लग जाना कौन बड़ी बात है? इससे प्रकट होता है गदाधर अवश्य ही असाधारण बालक थे।

समय आने पर ९ वर्ष की अवस्था में गदाधर का यज्ञोपवीत हुआ। यज्ञोपवीत के समय उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार गदाधर ने निषिद्ध होने पर भी सबसे प्रथम एक शूद्रा स्त्री से भिक्षा ग्रहण की—सत्य सभी सामाजिक नियमों से ऊपर है। गदाधर को स्कूल की पढ़ाई-लिखाई आकृष्ट न कर सकी; प्रह्लाद की तरह उनका मन तो भगवत् प्रेम में लगा था। उन्हें स्कूल जाने की अपेक्षा साथियों को एकत्र कर भगवान् की लीलाएँ करना अधिक रुचिकर था। परिवार की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी, फिर भी गदाधर का मन किसी सांसारिक कार्य में न लगा। उनकी यह अवस्था देखकर उनके बड़े भाई रामकुमार ने उनको अपने पास कलकत्ते बुला लिया। वहां पर गदाधर को पुजारी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



का काम करने को दिया गया। ऐसा काम तो वे चाहते ही थे। वहाँ पर भी भाई ने पढ़ाई-लिखाई के लिए आग्रह किया पर उनका मन नहीं लगा और उन्होंने स्पष्ट कह दिया, "मैं रोटी कमाने वाली विद्या नहीं चाहता—मुझे तो आत्मा की भूख मिटानेवाली विद्या चाहिये।"

आत्मा की भूख मिटाने वाले परमेश्वर ने गदाधर के लिए अवसर दिया। रानी रासमणि द्वारा स्थापित दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में गदाधर के बड़े भाई पुजारी का काम करते थे। गदाधर उन्हीं के साथ रहने लगे। विधि के विधान के अनुसार रानी रासमणि के जामाता मथुरानाथ गदाधर को देखकर इतने प्रभावित हुए कि पूजा का काम उन्होंने उन्हीं को दे दिया। उसी समय राधाकृष्ण के मन्दिर में रहनेवाली कृष्ण की मूर्ति का एक पैर टूट गया। पंडितों ने राय दी कि शास्त्रानुसार मूर्ति को गंगा में फेंककर दूसरी मूर्ति स्थापित होनी चाहिये। रानी रासमणि बहुत दुःखित हुई और अन्त में मथुराबाबू की इच्छानुसार गदाधर की राय ली गई। गदाधर ने कहा, "यदि आप के जामाता का एक पैर टूट जाय तो आप क्या करेंगी? वही मूर्ति के साथ कीजिए।" रानी बहुत प्रसन्न हुई और पंडितवर्ग भी सहमत हो गया। मूर्ति की मरम्मत स्वयं गदाधर ने की। कुछ दिनों बाद जब रामकुमार अपने जन्म स्थान को जाने लगे तो काली की पूजा का भार भी गदाधर के ही ऊपर आ पड़ा। पूजा करते-करते उनके हृदय में जाग्रत काली के दर्शन की प्रबल इच्छा हुई। गदाधर सांसारिक लोगों से दूर रहने लगे और मन्दिर के समीप वाले जंगल में जाकर रात-रात भर साधना करने लगे। "मां" "मां" कहकर वे बच्चों की तरह सदा रोया करते थे। वे कहा करते थे, "मां! मुझे संसार की अन्य कोई वस्तु नहीं चाहिये। मैं तो केवल तुम्हारे स्वरूप का दर्शन करना चाहता हूँ। मां! आज का दिन भी बीत गया और तुमने दर्शन नहीं दिया।" एक दिन मन्दिर में गदाधर इसी प्रकार विरहाग्नि में तड़प रहे थे कि उनकी दृष्टि काली के हाथ में रहने वाली तलवार पर पड़ी। गदाधर ने झट तलवार से अपनी वेदना का अन्त करना चाहा। उसी समय मां द्रवीभूत हो गई और अपने ज्योर्तिमय रूप का दर्शन गदाधर को दिया। वे मूर्छित होकर गिर पड़े। गदाधर को सिद्धि मिली। अब तो वे जब कभी मां मां कहकर बालक के समान रोते, मां को प्रत्यक्ष होना पड़ता था। गदाधर मां को इधर-उधर जाते देखते, उनके नूपुरों की ध्वनि सुनते और जगत् की सारी वस्तुओं से अधिक मां की सत्यता का अनुभव करते। मां के साथ बातचीत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



करना, गाना, हँसना, नाचना तथा मां को अपने हाथों भोजन कराना यही उनका जीवन-क्रम बन गया।

सिद्धि के पहले गदाधर की स्थिति यदि अर्द्धोन्मत्त की थी ही अब तो उनकी स्थिति पूर्णोन्मत्त की हो गई। सांसारिक चिन्ता उन्हें कोई थी नहीं, अपने शरीर और भोजन-वस्त्र की भी परवाह अब गदाधर को न रह गई। उनकी सेवा का पूरा भार उनके भतीजे भाग्यवान हृदयराम राम के ऊपर आ पड़ा। गदाधर की उन्मत्तता देखकर हृदयराम को भय होने लगा कि कहीं माथुरबाबू उनको पुजारी के पद से हटा न दें नहीं तो जीविका भी चली जायगी। बात यह थी कि भक्ति के प्रवाह में बहते हुए गदाधर से मन्दिर के कई नियमों का पालन नहीं हो पाता था। लोगों ने माथुरबाबू से शिकायत की। पर माथुरबाबू ने जब चुपके से सारी स्थिति का पता लगाया तो वे इतने प्रभावित हुए कि सबको आदेश दिया कि गदाधर के जीवन-क्रम में कोई बाधा न डाली जाय।

परंतु एक दूसरी समस्या खड़ी हुई। गदाधर २३ वर्ष के हो चले थे। बड़े भाई का देहान्त हो गया था, किन्तु वे परिवार की कोई चिन्ता न करते थे। अतः माता ने सोचा कि सम्भवतः विवाह कर देने से गदाधर का मन परिवार की ओर आकृष्ट हो जाय। बहुत प्रयत्न किया गया, परन्तु कहीं विवाह तय न हो पाया। अंत में गदाधर ने स्वयं कहा, "जयरामबाटी जाओ वहाँ रामचन्द्र मुखोपाध्याय के घर तुमको मेरी भावी पत्नी मिलेगी।" मुखोपाध्याय की लड़की शारदामणि की अवस्था केवल ५ वर्ष की थी। फिर भी शादी तय हो गई। शादी के उपरान्त गदाधर लगभग डेढ़ साल तक कुमारपुकुर में रहे।

दक्षिणेश्वर लौटने पर पुनः वही स्थिति उत्पन्न हुई। डाक्टरों ने ऐलान कर दिया कि गदाधर का तथाकथित पागलपन वास्तव में आध्यात्मिक उद्वेग है। गदाधर की अवस्था बड़ी विचित्र थी। वे ध्यान में ऐसे मग्न हो जाते थे कि पक्षियों को कौन कहे सर्प तक उनके शरीर पर रेंगते थे। साक्षात् शिवजी प्रत्यक्ष होकर उनका मार्ग प्रदर्शन करते थे। ६ वर्षों तक उनको एक क्षण भी नींद न आई। कभी-कभी तो वे अपनी आंखों में ऊंगली डालते थे फिर भी पलकें नहीं गिरती थीं। वे स्वयं अपनी स्थिति देखकर घबड़ा जाते थे और मां से कहते थे, "मां! तुम्हारी भक्ति का क्या यही परिणाम है? मुझे कोई भयंकर रोग तो नहीं हो गया है?" फिर सम्हल कर कहते थे, "नहीं मां

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



भला यह भी कभी हो सकता है ? भले ही यह शरीर नष्ट हो जाये, मैं तेरी शरण नहीं छोड़ सकता।" उस समय वे नाना प्रकार की साधनाये किया करते थे। गंगा के किनारे बैठकर एक हाथ में द्रव्य और दूसरे में बालू लेकर कहते थे "यह भी मिट्टी और यह भी मिट्टी" और दोनों को गंगा में छोड़ देते थे। इस प्रकार उनमें ऐसा अद्भुत वैराग्य हो गया कि वे पैसे को हाथ से छू भी नहीं सकते थे। इस विषय में उनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ हैं। रानी रासमणि की मृत्यु के बाद माथुरबाबू बहुत बड़ी ज़मीदारी गदाधर के नाम लिख देना चाहते थे, किन्तु गदाधर ने कहा, "क्या तुम मुझे संसारी बनाना चाहते हो ?" लक्ष्मीनारायण नामक मारवाड़ी ने जब दस हज़ार रूपये स्वीकार करने का आग्रह किया तो उन्होंने जाकर मां से कहा, "मां, ऐसे लोगों को यहाँ क्यों आने देती हो ?" एकबार उनकी परीक्षा के लिये विवेकानन्द जी ने उनके बिस्तरे के नीचे छिप कर कुछ द्रव्य रख दिया। परमहंस जी ज्यों ही उस पर बैठें त्योंही चौंककर उठ गये और कहने लगे कि उनको ऐसा जान पड़ा मानों बिच्छू ने डंक मार दिया हो। जब रुपया हटाया गया तभी वे उस पर बैठ सके। इस कोटि का वैराग्य साधारण बात नहीं है।

१८६१ के लगभग परमहंस जी के जीवन में एक भैरवी ब्राह्मणी का आगमन हुआ। एक दिन अचानक एक महिला नाव से उतरकर दक्षिणेश्वर के मन्दिर में आई और परमहंस जी को देखकर उसने कहा, "पुत्र तुम यहाँ हो और मैं इतने दिनों से तुम्हें ढूंढ रही हूँ।" परमहंस जी ने पूछा, "माताजी, आपने मुझे कैसे जाना ?" "देवी की कृपा से।" जब परमहंस जी ने भैरवी से कहा कि लोग उनको पागल कहते है तो भैरवी ने कहा, तुम्हारी इस अवस्था को महाभाव कहते हैं, इसका अनुभव राधा और चैतन्य महाप्रभु करते थे।" भैरवी ने ही यह ऐलान किया कि परमहंस जी में अवतार के जो लक्षण हैं, वे सब पाये जाते हैं। माथुर बाबू ने इसी प्रश्न को लेकर बड़े-बड़े विद्वानों की सभा की और अन्त में यही तय हुआ कि परमहंस जी असाधारण कोटि के पुरुष हैं। इनका अवतार भिन्न साधनों और धर्मों की सत्यता को सिद्ध करने के हेतु हुआ जान पड़ता है। भैरवी की देखभाल में परमहंस जी ने तांत्रिक साधनों का अभ्यास किया और उनके द्वारा सिद्धि प्राप्त की। सबसे विचित्र बात तो यह थी कि कठोर से कठोर साधनों में इनको तीन दिन से कम में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती थी। तांत्रिक साधनों को परमहंस जी ने अपने अनुभव के द्वारा परिमार्जित करके शुद्ध रूप में रखा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



परमहंस जी केवल काली के ही उपासक नहीं थे, बल्कि राम कृष्ण तथा काली की एकता के उपासक थे। जटाधारी नामक एक साधु जो बालक राम के उपासक थे, दक्षिणेश्वर पधारे। भगवान् राम उनसे ऐसे प्रसन्न थे कि उनका अर्पित भोग साक्षात् प्रकट होकर ग्रहण करते थे। जटाधारी बाबा के साथ राम जी की जो मूर्ति थी वह जाग्रत राम के समान व्यवहार करती थी। परमहंस जी कहा करते थे, "मैं रामलला को वैसे ही देखता था, जैसे तुम लोगों को देखता हूँ। कभी वे मेरी पीठ पर बैठ जाते थे, कभी मेरी गोद में। कभी-कभी तो शरारत करने पर रामलला को मैं चपत भी लगा देता था। एक दिन जटाधारी ने रोते हुए मुझसे कहा, 'रामलला ने मुझ पर असाधारण कृपा की है, परन्तु अब वे तुमको छोड़कर मेरे साथ नहीं जाना चाहते। अतः मैं उनको तुम्हारे पास छोड़े जा रहा हूँ।' तब से रामलला यहीं हैं।"

जिस प्रकार भैरवी ने परमहंस जी को तांत्रिक साधना का अभ्यास कराया, उसी प्रकार तोतापुरी ने अद्वैतवेदान्त की साधना में उन्हें सिद्धि प्राप्त करायी। विचित्रता तो यह है कि शिष्य को गुरू की खोज में न जाना पड़ा—तरह-तरह के गुरू लोग ही शिष्य के पास पहुँच गये। गुरू का काम शिष्य पहचानना है, शिष्य का काम गुरू पहचानना नहीं। शिष्य को तो पूर्ण शिष्यत्व प्राप्त करना चाहिए। गुरू तो मिल ही जाता है। दूसरी विचित्र बात यह है कि जिस निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति तोतापुरी को ४० वर्षों की लम्बी अवधि की साधना के उपरान्त हुई थी, उसको परमहंस जी ने एक दिन में प्राप्त कर लिया। तोतापुरी स्तम्भित रह गये। दीक्षा के उपरान्त तीन दिन तक लगातार परमहंस जी निर्विकल्पक समाधि में बैठे रहे और जब यह सन्देह होने लगा कि कहीं उनका प्राणान्त तो नहीं हो गया तो उनको जगाने का उपाय किया गया। तोतापुरी जी प्रायः तीन दिन से अधिक कहीं न ठहरते थे, परंतु असाधारण शिष्य पाकर वे ग्यारह महीने दक्षिणेश्वर में ही रह गये। इस बीच गुरू-शिष्य में एक बड़ा ही मनोरंजक द्वन्द्व खड़ा हो गया। तोतापुरी निर्गुण सत्ता में विश्वास करने वाले थे, परमहंस जी सगुण की सत्यता को भी स्वीकार करते थे। एक दिन की बात है कि शरीर की पीड़ा से तोतापुरी इतने व्यथित हुए कि उनका मन ब्रह्म-समाधि में न जा सका और वे गंगा में डूबने को उद्यत हो गये। चलते-चलते गंगा पार हो गये किन्तु कहीं भी डूबने के लिये पर्याप्त गहरा जल नहीं मिला। तोतापुरी सोचने लगे यह कैसी विचित्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



बात है, क्या गंगा सूख गई ? इतने में आद्या शक्ति महामाया का साक्षात्कार हुआ, और उनको यह अनुभव हुआ कि वास्तव में सगुण साकार और निर्गुण निराकार में कोई भेद नहीं। भगवती की कृपा का अनुभव करते हुए वे दक्षिणेश्वर लौट आये, उनके शरीर की सारी पीड़ा के साथ उनके भ्रम का भी निवारण हो गया और लौटकर परमहंस जी से उन्होंने स्वीकार किया कि उनका ज्ञान पहले अपूर्ण था और अब पूर्ण हुआ है। सगुण-निर्गुण की तरह गुरू-शिष्य भी एक हो गये।

उसके उपरान्त परमहंस जी निर्विकल्प समाधि की स्थिति में लगभग छः महीने तक रहे। निर्विकल्पक समाधि वह अवस्था है, जिसमें पहुँचने के उपरान्त साधारण मनुष्य २१ दिन से अधिक शरीर धारण नही कर सकता। किन्तु परमहंस जी उस अवस्था में छः महीने थे। अवश्य ही वे ईश्वर कोटि के पुरुष थे। छः महीने के उपरान्त भवतारिणी देवी का आदेश हुआ, "पुत्र ! मानव के कल्याण के हेतु परमावस्था से नीचे उतर कर द्वैतावस्था में ही रहो।" उसके बाद परमहंस जी सांसारिक चेतना में उतरे।

वैष्णव साधना, तांत्रिक साधना तथा अद्वैत साधना के उपरान्त परमहंस जी को सन् १८६६ में सूफी साधना का अवसर मिला। सूफी साधु गोविन्दराय उस समय दक्षिणेश्वर में ही थे। उन्होंने परमहंस जी को दीक्षा दी और तीन दिन में ही परमहंस जी को मुसलमानी धर्म के लक्ष्य और आदर्श की प्राप्ति हो गई। पहले मुहम्मद के दर्शन हुए, फिर निर्गुण ब्रह्म का अनुभव। साधना के समय परमहंस जी लुंगी पहनते और नमाज़ पढ़ते थे। इसके सात साल बाद सन् १८७४ में शम्भू मल्लिक का सम्पर्क परमहंस जी से हुआ। शम्भू यद्यपि ईसाई न थे तथापि बाइबिल की बात परमहंस जी को सुनाया करते थे। एक दिन की बात है कि एक भक्त के घर परमहंस जी ने दीवाल पर टँगे हुए ईसामसीह और मेरी के चित्र को देखा और देखते ही उनके मन में ईसाई मत के विचारों का अद्‌भुत आवेश होने लगा। तीन दिन तक वे ईसामसीह के उपदेशों तथा सिद्धान्तों में निमग्न रहे। चौथे दिन जब वे पंचवटी की तरफ जा रहे थे उनको ईसामसीह के साक्षात् दर्शन हुए और उनको ऐसा जान पड़ा मानों ईसामसीह स्वयं उनके भीतर प्रवेश कर गये हों।

परमहंस जी स्वयं तत्वज्ञानी होने के कारण सभी तत्वज्ञानियों का आदर करते थे। वे बुद्ध और महावीर को भी ईश्वर का अवतार मानते थे और गुरुनानक को जनक का अवतार कहा करते थे। ब्रह्म को वे एक सरोवर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



के समान समझते थे—सरोवर के अनेक घाट हैं। अपनी अपनी रूचि-सामर्थ्य के अनुसार सब धर्मावलम्वी ब्रह्म की भिन्न भिन्न रूप से आराधना करते हैं। अन्तिम तत्व शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह तो अनुभव की ही वस्तु है।

परमहंस जी विवाहित होते हुए भी अविवाहित थे, संन्यासी थे। सन् १८६७ में परमहंस जी भैरवी के साथ कामारपुकुर गये। वहाँ पर वे अपनी पत्नी के साथ इस प्रकार प्रेम से रहने लगे कि भैरवी को यह सन्देह हो गया कि कहीं ये विचलित न हो जायं। परन्तु अन्त में भैरवी को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि परमहंस जी का सम्बन्ध पत्नी के साथ संसारी नहीं बल्कि आध्यात्मिक था। सन् १९७२ में शारदामणि को यह खबर मिली कि उनके पति जो दक्षिणेश्वर में रहते हैं, पागल हो गये हैं। जब वे दक्षिणेश्वर आईं तो देखा कि परमहंस जी का पागलपन केवल आध्यात्मिक भावावेश है। एक दिन एक विचित्र घटना घटी। परमहंस जी ने काली के पूजन के लिए सब सामग्री एकत्र कराई और ९ बजे रात को शारदामणि को बुलाकर उस स्थान पर बैठने को कहा जो काली के लिए निश्चित था। जब शारदामणि उस आसन पर बैठ गई तो उनकी वैसी ही पूजा की गई जैसी काली की की जाती है। पति और पत्नी दोनों ही आध्यात्मिक भाव में डूब रहे थे। अर्धरात्रि को जब समाधि से जगे तो परमहंस जी ने माता को प्रणाम किया और इस प्रकार तंत्रों में वर्णित षोडशी पूजा सम्पन्न की। एक दिन परमहंस जी ने शारदामणि से स्पष्ट पूछा, "क्या तुम मुझे संसार में डालना चाहती हो?" मां ने उत्तर दिया, "नहीं, मैं यही चाहती हूं कि आपके आध्यात्मिक जीवन में योगदान करूं।" परमहंस जी सदा कहा करते थे कि वही मां जिसकी पूजा मन्दिर में करता हूं मेरे पैर भी दबाती है।

परमहंस जी ने कुछ अन्य महापुरूषों के समान बहुत देशाटन नहीं किया। उनके पास तो उनके गुरू और शिष्य दोनों अपने आप आकृष्ट होकर चले आये। फिर भी उन्होंने कुछ तीर्थयात्रा अवश्य की। सन् १८६८ की जनवरी में वे माथुरबाबू तथा उनकी स्त्री के साथ तीर्थयात्रा के लिए निकले। वैद्यनाथ के पास एक गांव में रहनेवालों की दीनदशा देखकर परमहंस जी ने माथुर बाबू से आग्रह किया कि वे सबको भोजन-वस्त्र दें। माथुर ने आपत्ति की कि ऐसा करने से यात्रा के लिये धनाभाव हो जायगा। परमहंस जी ने कहा, "तो मैं इन लोगों को ऐसा दुःखी छोड़कर काशी नहीं जा सकता।" माथुर को कलकत्ते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



से कपड़ा और भोजन मंगाकर सबको बांटना पड़ा। काशी जाने पर परमहंस जी को केवल विश्वनाथ जी का ही नहीं बल्कि पूरे काशी के आध्यात्मिक (दैवी) स्वरूप का दर्शन हुआ। प्रसिद्ध महात्मा तैलंग स्वामी से उनकी भेंट हुई। काशी से एक हफ्ते बाद वे तीन दिन के लिए प्रयाग गये और काशी लौटने पर वे लगभग पन्द्रह दिनों के लिए वृन्द्रावन-मथुरा के लिए गये। लौटते समय माथुर बाबू गया भी जाना चाहते थे, पर परमहंस जी सहमत न हुए। कहते हैं कि परमहंस जी गया इसलिए नहीं गए कि वहाँ जाने पर वे सदा के लिए ब्रह्म में लीन हो जाते और लोक-कल्याण का कार्य पूरा नहीं हो पाता। खुदीराम को गया ही में भगवान् ने स्वप्न दिया था।

परमहंस जी की महत्ता का एक स्थूल प्रमाण यह है कि समकालीन बंगाल का कोई भी बड़ा आदमी ऐसा नहीं था, जो उनके सम्पर्क में न आया हो और उनके सामने नतमस्तक न हुआ हो—केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, श्री विजय कृष्ण गोस्वामी, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, पंडित शिवनाथ शास्त्री, त्रैलोक्य सन्याल, बन्किम चन्द्र चटर्जी, माइकेल मधुसूदन, पंडित शशि धर चूड़ामणि, राजेन्द्र लाल मित्तल, अश्विनि कुमार दत्त आदि। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण संपर्क केशवचन्द्र सेन का था, क्योंकि तभी से कलकत्ता के अनेक ब्राह्म परमहंस जी के संपर्क में आने लगे। बंगाल का शिक्षित वर्ग पाश्चात्य विद्या के चमत्कार से अंधा होकर या तो नास्तिक या निर्गुण ब्रह्मोपासक हो चला था। इस शिक्षित वर्ग के अनेक मेधावी व्यक्ति जो परमहंस जी के सम्पर्क में आये और पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गये। रामचन्द्र दत्त, सुरेन्द्र, नरेन्द्र आदि जैसे नास्तिक भी आस्तिक और उनके भक्त बन गये।

ऐसा जान पड़ता है कि परमहंस जी का सम्पर्क उपरोक्त व्यक्तियों से केवल इसलिये हुआ कि परमहंस जी का रूप प्रकट हो जाय और शिष्यवर्ग उनके पास चला आवे। परमहंस जी जिस आध्यात्मिक उद्देश्य से जगत् में आये थे वह उन्हें मालूम था। अतः वे शिष्यों के लिए दिन-रात तड़प रहे थे। दिन भर तो वे किसी प्रकार शान्त रहते थे। शाम को मकान की छत पर चढ़कर व्याकुलता के साथ चिल्लाते थे, "बच्चों कहां हो? आओ। मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता।" सन् १८७९ में रामचन्द्र दत्त और उनके मित्र मनमोहन सबसे पहले परमहंस जी की शरण में आये। इसके उपरान्त सन् १८८२ में महेन्द्र नाथ गुप्त और सन् १८८४ में गिरीशचद्र घोष आकृष्ट हुए। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य गृहस्थ शिष्य जैसे दुर्गाचरन नाग और



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



पूर्णचन्द घोष आदि भी असाधारण व्यक्ति थे। महेन्द्रनाथ गुप्त और गिरीशचन्द्र घोष का नाम विशेष उल्लेखनीय है। महेन्द्रनाथगुप्त, जो एक स्कूल के अध्यापक थे, जबसे परमहंस जी के संपर्क में आये तभी से ऐसे आकृष्ट हुए जैसे चुम्बक से लोहा। प्रारंभ से ही इन्होंने परमहंस जी के सदुपदेशों को एक डायरी में लिखना शुरू किया और अंत में चलकर वह डायरी श्री रामकृष्ण कथामृत के रूप में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक से गुप्त जी तो अमर हो ही गये, असंख्य प्राणियों का कल्याण हुआ और अवतक हो रहा है। गिरीशचन्द्र घोष का नाम इसलिए उल्लेखनीय है कि उनका आचरण इस प्रकार का था कि किसी को यह आशा नहीं हो सकती थी कि किसी महापुरुष की कृपा उनपर होगी। मदिरा और स्त्री प्रसंग यही उनके जीवन का उद्देश्य था, परन्तु परमहंस जी की इतनी कृपा उनपर हुई कि परहंस जी ने एक बार कहा 'दिन में केवल एक बार ईश्वर का नाम ले लिया करो तो तुम्हारा कल्याण हो जाय'। घोष महाशय ने कहा, 'मुझसे इतना भी नहीं हो सकता।' तब परमहंस जी ने कहा, 'अच्छा, मुझे अपना आम मुख्तार बना लो।' इस प्रकार की अहैतुकी कृपा प्राप्त कर गिरीश घोष अन्त में परम भक्त होकर शान्ति प्राप्त किये।

दूसरे प्रकार के शिष्य वे हैं, जो वाद में चलकर संन्यासी हो गये। लाटू महाराज, राखालचन्द्र घोष, गोपाल सूर, नरेन्द्रनाथ दत्त, तारकनाथ, बाबूराम चटर्जी, गंगाधर घटक, हरिप्रसन्न चटर्जी, कालीप्रसाद चन्द्र, सुवोध चन्द्र घोष शारदाप्रसन्न मित्र आदि पुरुष-भक्त तथा योगिन मां, गोलापमां, अथोरमणि देवी, गौरीया, लक्ष्मीमणि देवी आदि स्त्री भक्त थे। इन सबमें नरेन्द्र नाथ दत्त के विषय में विशेष चर्चा की आवश्यकता है, क्योंकि ये ही आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रख्यात हुए।

पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित युवकों ने जब देखा कि केशव चन्द सेन जैसे व्यक्ति श्री रामकृष्ण परमहंस के भक्त हो रहे हैं तो वे भी परमहंस जी ओर अकृष्ट हुए। इनमें से नरेन्द्रनाथ दत्त भी एक असाधारण कोटि के मेधावी युवक थे, किन्तु थे वे नास्तिक और सन्देहवादी। इनको न तो महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर से संतोष हुआ और न ब्राह्म समाज के नेताओं से क्योंकि इनमें से किसी ने यह नहीं कहा, 'मैंने भगवान को प्रत्यक्ष देखा है।' १८८० में जब वे एक मित्र के साथ दक्षिणेश्वर गये तो परमहंस जी से भी वही प्रश्न किया, "क्या आपने ईश्वर को देखा है ?" परमहंस जी ने कहा "हां देखा है।'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



"क्या मुझे भी दिखा सकते हैं ?" "हां, दिखा सकता हूँ कल अकेले यहां आओ।" नरेन्द्र स्तम्भित हो गये। एक निरक्षर व्यक्ति से जो उत्तर उनको मिला वह उनको बड़े बड़े विद्वानों और विचारकों से न मिल सका। दूसरे दिन जब नरेन्द्र परमहंस जी के पास पहुँचे तो परमहंस जी ने उनको पास बिठाया और उनके हृदय को स्पर्श किया। स्पर्श करते ही नरेन्द्र समाधिस्थ हो गये, संसार लुप्त हो गया और चतन्य का सागर उमड़ आया। उसी दिन से नरेन्द्र के जीवन की दिशा दूसरी हो गई। गुरू-शिष्य में घनिष्टता वढ़ती गई। कुछ दिन वाद यह स्थिति आई कि दोनों एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते थे।

नरेन्द्रनाथ के जीवन के कई पहलू हैं। उनकी गरीवी, उनका वैराग्य, उनकी दयालुता, उनका सन्देहवाद, उनकी भक्ति ये सभी बातें असाधारण थीं। एक बार गरीबी से पीड़ित होकर जब वे दक्षिणेश्वर पहुँचे तो परमहंस जी ने उनसे कहा कि जाकर काली मां से सहायता के लिए प्रार्थना करो। जब नरेन्द्र नाथ मन्दिर में गए तो भगवती के दर्शन होते ही गरीवी भूल गए और मां से भक्ति और वैराग्य मांगा। ऐसा तीन बार हुआ, फिर भी नरेन्द्र आर्थिक सहायता नहीं मांग सके। अन्त में परमहंस जी ने कहा, 'जाओ' आज से कुटुम्बियों के जीवन निर्वाह के लिए धन की कमी न होगी।' नरेन्द्र नाथ असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति थे। यदि वे सांसारिक जीवन में प्रवेश करते तो उन्हें असाधारण वैभव प्राप्त हुआ होता, परन्तु सबका त्याग कर वे परमहंस जी के पीछे पागल हो गए। मानव सेवा उनके जीवन का व्रत हो गया। उनकी दयालुता का एक प्रमाण यह है कि जब कलकत्ते में प्लेग फैला हुआ था तो वे वेलूर मठ को भी बेंचकर मानव सेवा में लगाना चाहते थे। साथ ही नरेंद्रनाथ प्रबल संदेही थे। उनकी सन्देहवादिता तो मानों परमहंस जी की महत्ता को प्रगट करने के लिए ही थी। नरेन्द्रनाथ ने परमहंस जी की जो जो परीक्षाएँ लीं, आधुनिक शिक्षित युवक उससे आगे नहीं जा सकता। फिर भी नरेन्द्रनाथ की भक्ति भी अत्यन्त प्रगाढ़ थी। अंतिम समय में जब परमहंस जी को कैन्सर हो गया था तो कुछ लोग डरने लगे कि कहीं परमहंस जी के सम्पर्क से उनको भी कैन्सर न हो जाय। इस भय को दूर करने के लिए नरेन्द्रनाथ परमहंस जी के जूठे गिलास में जो बचा पानी था, उसे उठाकर सबके सामने पी गये। श्री रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों का प्रचार कार्य इसी नरेन्द्रनाथ ने भारतवर्ष में ही नहीं वरन् विदेशों में भी किया। संन्यास लेने पर इन्हीं का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



नाम विवेकानन्द हुआ। परमहंस जी के अनुयायियों के सहयोग से इन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानों पर जो अद्वैताश्रम तथा सेवाश्रम स्थापित किये, उनके कार्य से प्रत्येक जानकार व्यक्ति प्रभावित होता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि ईसामसीह के लिए जैसे संत पाल थे, मुहम्मद के लिए जैसे अवूवक्र थे, भगवान बुद्ध के लिए जैसे आनन्द और सारि पुत्र थे, परमहंस जी के लिए वैसे ही विवेकानन्द थे। परमहंस जी ने सब शिष्यों को विवेकानन्द जी की ही देख-भाल में छोड़कर शरीर त्याग किया।

परमहंस जी के शरीर-त्याग की कथा अनोखी हैं। सन् १८८५ के गर्मी के दिनों में उनको कंठरोग (कैन्सर) हो गया। जब लोगों ने देखा कि परमहंस जी को बहुत कष्ट हो रहा है तो उनसे आग्रह किया कि वे देवी मां से आरोग्य का आशीर्वाद लें, परन्तु परमहंस जी तो रोग को मां की इच्छा ही समझते थे अतः उन्होंने मां से केवल इतना ही कहा, 'मां ऐसा तो कर कि कुछ खा सकूं।' मां ने कहा, 'क्या इतने मुखों से तुम भोजन नहीं कर रहे हो ?' एक दिन जब सब शिष्य एकत्र थे परमहंस जी भावावेश में बोल उठे, "तुम सबको ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो।" और इतना कहकर सबको स्पर्श किया। कहते हैं कि परमहंस जी ने उसी समय सबके पापों को अपने ऊपर ले लिया और उनके शरीर में भीषण जलन मालूम होने लगी। उनको श्यामपुकुर में रहने की व्यवस्था की गई। डा० महेन्द्र लाल सरकार की दवा तथा माता शारदा देवी और अन्य भक्तों की सेवा सुश्रूषा महीनों होती रही, किन्तु लाभ न हुआ। फिर उनके लिए काशीपुर में रहने का प्रबन्ध किया गया। अन्त काल समीप आया जानकर एक दिन एकान्त में परमहंस जी ने नरेन्द्रनाथ को सामने बैठाया और उनकी ओर देखते-देखते समाधिस्थ हो गए। नरेन्द्रनाथ को ऐसा अनुभव हुआ जैसे कोई शक्ति उनके भीतर प्रवेश कर रही हो, थोड़ी देर में वे भी समाधिस्थ हो गये। समाधि से उठने पर परमहंस जी ने नरेन्द्र से कहा 'आज मैंने तुमको अपना सर्वस्व दे दिया। इस शक्ति से तुमको जगत् कल्यान करना है।' इतने पर भी नरेन्द्र का सन्देह बना रहा और उन्होंने सोचा कि मर्मांतक पीड़ा के वावजूद भी यदि परमहंस जी अपने को ईश्वरावतार कहें तो उनको विश्वास हो सकता है। परमहंस जी समझ गये और उन्होंने कहा, 'जो राम और कृष्ण था वही इस शरीर में रामकृष्ण हैं।' इस प्रकार जगत् के परम कल्याण की व्यवस्था करने के उपरान्त दिनांक १६ अगस्त सन् १८८६ को इस महापुरुष ने शरीर त्याग किया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



**उपदेश :—**

१—रात्रि में दिखाई पड़ने वाले असंख्य तारागण दिन नें नहीं दिखाई पड़ते। क्या इससे हम कह सकते हैं कि तारे दिन में नहीं हैं? इसी प्रकार अज्ञानावस्था में ईश्वर का अस्तित्त्व नहीं मालूम पड़ता, किन्तु इससे यह न कहो कि ईश्वर नहीं है।

२—ईश्वर सगुण साकार और निर्गुण निराकार दोनों हैं। जब तक घंटी की आवाज सुनाई पड़ती है तब तक वह साकार है, जब सुनाई नहीं पड़ती तब निराकार, ठीक इसी प्रकार ईश्वर का भी है।

३—जिस प्रकार हमें जगत् का अनुभव हो रहा हैं उसी प्रकार ईश्वर का अनुभव हो सकता है।

४—मनुष्य जब तक ईश्वर प्राप्ति नहीं कर लेता, तब तक उसके दुःखों का अन्त नहीं।

५—ईश्वर प्राप्ति के लिए एक ही उपाय है—पूर्ण श्रद्धा के साथ उसके लिए रोना। ईश्वर को अपना सगा समझ उससे कृपा की मांग करो।

६—जब तक पूर्ण भक्ति का उदय न हो जाय तब तक शास्त्र कथित नियमों के अनुसार जीवन यापन करना चाहिए।

७—सच्ची निष्ठा होने पर ईश्वर सद्गुरु भेज देता है, तथा अन्य सुविधाएँ भी कर देता है।

८—जैसे-जैसे मनुष्य ईश्वर की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे उसे विषयों से विराग होने लगता है और यह अनुभव होता है कि जो कुछ करता है ईश्वर ही करता है।

९—संसार में रहते हुए मनुष्य को सदैव ईश्वर का चिन्तन करना चाहिए, जैसे दासी दूसरे के घर का काम करते हुए भी बराबर अपने बच्चों का ध्यान रखती है।

१०—प्रत्येक धर्म ईश्वर की प्राप्ति ही सिखाता है। ईश्वर-प्राप्ति से ही मानव की समस्याओं का अंत हो सकता है।

११—पहले ईश्वर-प्राप्ति करो। उसके उपरान्त गृहस्थाश्रम में भी रहा जा सकता है। गार्हस्थ्य जीवन की गंध लग जाने पर ईश्वर प्राप्ति कठिन हो जाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



१२—ईश्वर सत्य है। अतः ईश्वर की प्राप्ति के लिए पहले जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा करनी होती है।

१३—ईश्वर-भक्त अपने को दीन और तुच्छ समझता है। वह किसी से अभिमान नहीं करता।

१४—अपने मत के लिए आग्रह न करो। ज्ञान की प्राप्ति केवल तर्क से नहीं होती।

१५—जीवों के प्रति दया नहीं, सेवा की भावना रखो।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



# स्वामी दयानन्द सरस्वती

## (१८२४–८३)

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् १८२४ ई० में काठियावाड़ प्रान्त के धराधरा नामक राज्य की सीमा पर बसे मौर्वी नामक नगर में हुआ था। आप के पिता का नाम अम्बाशंकर था। आप औदीच्य ब्राह्मण थे। स्वयं स्वामी जी का बचपन का नाम मूलशंकर था।

आपके पिता एक अच्छे जमींदार थे, अतः आपका बाल्यकाल काफी सुख और सुविधा में बीता। पांच वर्ष की अवस्था से ही आप को पढ़ाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। कुल-परम्परा के अनुसार आपको टीकासहित स्तोत्र, मन्त्र और श्लोक कण्ठस्थ कराना भी आरम्भ कर दिया गया। आठ वर्ष की अल्प अवस्था में ही आपको यज्ञोपवीत संस्कार के साथ गायत्री, संध्या और उपासना की विधि की शिक्षा दी गई। आप के पिता सामवेदी ब्राह्मण होने पर भी शैवमत के अनुयायी थे। अतः उन्होंने अपने पुत्र के हृदय में भी शैवमत के ही संस्कार डालने की चेष्टा की, जिससे कि आगे चलकर उनका पुत्र भी उन्हीं के समान शिव-भक्त बन सके। आपको सर्वप्रथम रुद्री का पाठ कण्ठस्थ कराया गया, उसके उपरान्त शुक्ल यजुर्वेद संहिता का पाठ भी आपने आरम्भ किया। प्रदोष-व्रत और प्रतिमा पूजन की भी शिक्षा आपको मिली। पिता के इस उद्योग के फलस्वरूप आप दस वर्ष की अल्प अवस्था में ही पूर्णतया प्रतिमा पूजन करने लगे। १४ वर्ष की अवस्था में स्वामी जी ने शिवरात्रि का व्रत रक्खा। रात्रि जागरण के समय उन्होंने देखा कि एक चूहा शिव-लिंग पर चढ़ाये गये प्रसाद को खा रहा है। स्वामी जी को इस बात से महान् चिन्ता हुई। आपने सोचा कि जो महादेव स्वयं एक छोटे से चूहे से अपनी रक्षा नहीं कर सकते, भला वे मनुष्यों की रक्षा किस भांति कर सकते हैं। वह शिवरात्रि स्वामी जी के लिए भगवान् बुद्ध के लिए वैशाख पूर्णिमा के समान ज्ञान देने वाली सिद्ध हुई। आप पार्थिव पूजा को छोड़कर वेदों के अध्ययन की ओर मुड़े। आपके पिता जी इस बात से रुष्ट हुए।

उन्होंने इस झगड़े में न पड़कर एक पण्डित से निघण्टु, निरुक्त, पूर्व-मीमांसा तथा कर्मकाण्ड आदि की पुस्तकों को पढ़ना प्रारम्भ किया। १६ वर्ष

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



की अवस्था में आपकी चौदह बरस की बहन एवं उसी वर्ष उनके चाचा की मृत्यु हो गई। इन घटनाओं ने स्वामी जी के हृदय में भगवान् बुद्ध की भांति निर्वेद उत्पन्न कर दिया। उन्होंने विज्ञ पुरुषों से पूछना प्रारम्भ कर दिया कि इस जन्म-मरण के प्रवाह-रूपी दुःख से बचकर अमर होने का क्या उपाय है। कुछ सद्पुरुषों ने बताया कि अमरता का परम उपाय योगाभ्यास है। धीरे-धीरे स्वामी जी के मन में गृहत्याग की इच्छा पनपने लगी। उन्हें इस बात का अनुभव हो गया कि इस असार संसार में सभी वस्तुएँ असार हैं, कहीं भी स्थिरता नहीं है। स्वामी जी के गृह त्यागने की बात सुनकर उनके परिवारवालों को बड़ी चिन्ता हुई। उन लोगों ने आपका विवाह कर शीघ्र से शीघ्र आपको गृहस्थ बनाने की व्यवस्था करनी प्रारम्भ कर दी, जिससे कि स्वामी जी का मन संसार की ओर से विरक्त न हो। परन्तु स्वामी जी अपने पथ से विचलित नहीं होना चाहते थे। अतः एक दिन आप ने चुपचाप गृह का त्याग कर दिया। घर को छोड़ने के बाद अनेक कष्टों का सामना करते हुए आप अहमदाबाद आये। वहाँ पर एक ब्रह्मचारी ने आपको नैष्ठिक ब्रह्मचारी की दीक्षा दे, कषाय वस्त्र पहना, हाथ में एक तूम्बा देकर तथा नवीन नामकरण—शुद्ध चेतन ब्रह्मचारी—कर अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित कर लिया। यहीं पर स्वामी जी ने योग का अभ्यास भी करना प्रारम्भ किया। परन्तु स्वामी जी यहाँ पर अधिक दिन नहीं टिक सके क्योंकि उनके पिता को उनकी स्थिति का पता चल गया था और वे आपको घर ले जाने के लिए भी आ चुके थे। स्वामी जी के संन्यासी बनने के कारण उनसे उनके पिता जी बहुत ही रुष्ट थे। परन्तु स्वामी जी ने पुनः अपने को अपने पिता के हाथ से मुक्त कर लिया। इन्हीं दिनों स्वामी जी का परिचय सच्चिदानन्द नामक परमहंस से हुआ, उन्हीं के द्वारा परिचय पाकर स्वामी जी ने परमहंस परमानन्द से पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। कुछ दिन उनके साथ रहकर वेदान्त-सार, वेदान्त-परिभाषा आदि अनेक ग्रंथों का स्वामी ने अध्ययन किया। १९०६ वि० सम्वत् में २४ वर्ष की अवस्था में स्वामी पूर्णानंद ने आपको संन्यास-मार्ग की दीक्षा दी, तथा आपका नाम भी मूलशंकर से परिवर्तित कर दयानंद सरस्वती कर दिया। १९११ वि० सम्वत् तक आप अनेक स्थानों पर भ्रमण करते रहे। १९१२ वि० सम्वत् में ३० वर्ष की अवस्था में प्रथम बार हरिद्वार के कुम्भ मेले में सम्मिलित हुए। यहीं पर स्वामी जी की भेंट कुछ तान्त्रिकों से हुई। स्वामी जी ने उनसे वार्तालाप किया और उनके साहित्य का अध्ययन भी किया। यह देखकर उनको घोर निराशा हुई कि उन लोगों ने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



धर्म को भ्रष्ट रूप दे दिया है। आप यहाँ से श्री नगर चले आये। यहीं पर स्वामी जी की मित्रता गंगागिरि नामक साधु से हुई। बाद में स्वामी जी दक्षिण गये। नर्मदा नदी के किनारे-किनारे दो-तीन वर्ष भ्रमण कर, अनेक महात्माओं और विद्वानों के सत्संग का लाभ उठा, पुनः नर्मदा के स्रोत से लौट कर पूर्ण विद्या की प्राप्ति के लिए मथुरा गये।

जिस समय स्वामी जी नर्मदा नदी के किनारे-किनारे भ्रमण कर रहे थे, उनको ज्ञात हुआ कि मथुरा में एक प्रज्ञाचक्षु दण्डी महात्मा निवास करते हैं, जो व्याकरण के अद्वितीय विद्वान् हैं। स्वामी जी का हृदय पूर्ण विद्या की प्राप्ति के हेतु उत्सुक हो उठा, अतः वे उसकी प्राप्ति के लिए यम-द्वितीया के दिन सम्वत् १९१७ विक्रमी को मथुरा आये। यहाँ आपने लक्ष्मी-नारायण मन्दिर में अपना निवास स्थान बनाया। यात्रा की थकान के कारण आपका शरीर क्लान्त था, आपको हिन्दी भी भली-भांति बोलनी नहीं आती थी। परन्तु स्वामी जी इन कठिनाइयों के आगे झुकने वाले नहीं थे, उन्होंने स्वामी विरजानन्द प्रज्ञाचक्षु से साक्षात्कार करने का विचार किया।

स्वामी विरजानन्द प्रज्ञाचक्षु स्वयं वीतराग एवं महान् सन्त थे। उन्हें वैदिक ग्रन्थों का प्रचार एवं उनके सही मूल्यांकन की बड़ी इच्छा थी। और उसके लिये उनको एक ऐसे विशाल बुद्धि पुरुष की खोज थी, जो पूर्ण विद्या को प्राप्त कर उनके सिद्धान्तों को सारे संसार में फैलाकर भारतवर्ष का उद्धार करे। इन्हीं दिनों एक दिन अचानक स्वामी दयानन्द ने स्वामी विरजानन्द प्रज्ञाचक्षु के निवास-स्थान पर जाकर उनके द्वार को खटखटाया। स्वामी जी ने उपर से ही प्रश्न किया कि कौन है?

उत्तर :—एक संन्यासी।

प्रश्न :—क्या नाम है?

उत्तर: —दयानन्द सरस्वती। सारस्वतादि व्याकरण की पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं।

स्वामी विरजानन्द ने इस बात का अनुभव किया कि यह वही व्यक्ति है जिसकी उन्हें खोज थी; अतः कुछ ही काल में उन्होंने अपनी समस्त विद्या स्वामी दयानन्द सरस्वती को सौंप दी।

विद्याध्ययन कर, स्वामी जी जब वहाँ से बिदा होने लगे तो स्वामी विरजानन्द प्रज्ञाचक्षु ने उनको यह उपदेश दिया : शास्त्रों का उद्धार करके,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



मतमतान्तरों की अविद्या को मिटाकर, संसार में वैदिक धर्म का प्रचार करके देश का उद्धार करो। यह एक साधारण आज्ञा थी। परन्तु इसके गूढ़ रहस्य को तत्वदर्शी स्वामी विरजानन्द की शुद्ध आत्मा ही जानती थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने गुरु की आज्ञा को ग्रहण कर वैदिक धर्म के प्रचार हेतु भारतवर्ष का भ्रमण करने का विचार किया। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आप १९२० वि० में मथुरा छोड़कर आगरा चले आये।

आगरा आकर स्वामी जी यमुना तट पर लाला रूपराम की वाटिका में ठहरे। आप आगरा में दो वर्ष तक रहे। सम्वत् १९२१ वि० को आगरा से चलकर धौलपुर होते हुए आबू पर्वत के मार्ग से २४ जनवरी को ग्वालियर में वापू आपड जनरल के गंगा-मन्दिर में ठहरे। यहीं से स्वामी जी ने मूर्तिपूजा का खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया। पश्चात् आप करौली राज्य में पहुँचे। यहां पर थोड़ा बहुत शास्त्रार्थ भी हुआ, फिर आप जयपुर चले गये।

यहां से स्वामी जी ने वैदिक धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। आपने 'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत' की नवीन व्याख्या दी। स्वामी जी ने अन्त में इस बात की निश्चय पूर्वक धारणा करली कि जब तक भारतवर्ष में हजारों वर्ष से पनप रहे मिथ्या आडम्बरों का विधिपूर्वक खण्डन नहीं किया जायगा, तब तक वैदिक धर्म का प्रचार एवं उसका सुधार असंभव है। इसी बात को ध्यान में रखकर स्वामी जी ने जगह-जगह शास्त्रार्थ कर वैदिक धर्म की महत्ता को दिखाने की चेष्टा की। ३० जुलाई सन् १८५९ ईसवी को कानपुर में भैरोघाट के नीचे ऐसा ही एक शास्त्रार्थ हुआ था। उसमें स्वामी दयानन्द के पक्ष में निर्णय देते हुए वहां के तत्कालीन असिस्टेन्ट कलक्टर मि० डब्ल्यू थेन ने लिखा, 'शास्त्रार्थ के समय मैंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के पक्ष में निर्णय दिया है, क्योंकि मुझको विश्वास है कि आपकी युक्तियां वेदानुकूल थीं। यदि किसी को मेरे इस निर्णय में कुछ भ्रम की संभावना हो और वे उसका समाधान चाहते हों, तो मैं उनको थोड़े काल पश्चात् अपने तर्क बताऊंगा।[२]

काशी नगरी प्राचीन समय से ही विद्या की महान केन्द्र रही है। अतः स्वामी जी ने यहां के पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करने का निर्णय किया। १६ नवम्बर १८६८ ई० में यह शास्त्रार्थ हुआ, परन्तु स्पष्ट निर्णय नहीं हो सका। तत्वबोधिनी नामक बंगाली मासिक पत्रिका ने अपने ज्येष्ठ सन्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



१८६८ के अंक में इस शास्त्रार्थ की आलोचना करते हुए लिखा कि कोई भी काशी का पण्डित वेद से प्रतिमा-पूजन सिद्ध करके स्वामी जी को परास्त न कर सका, इस कारण स्वामी जी को सबसे बड़ा वेद-वक्ता पण्डित समझना चाहिए।

काशी के इस महान शास्त्रार्थ के बाद कुछ दिन वहां ठहर कर स्वामी जी जनवरी सन् १८७० को प्रयाग चले आये। वहां उस समय कुम्भ का मेला लगा हुआ था। यहां स्वामी जी की बड़ी प्रशंसा हुई। अनेक जनों ने उन से अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान किया। कुम्भ मेले में दो ढाई मास तक ठहर कर, उसकी समाप्ति पर, आप मिर्जापुर चले आये। १९७१ वि० से एक वर्ष तक आप गंगा के किनारे किनारे वैदिक धर्म का उपदेश करते रहे और जहां-तहां अपनी पाठशालाओं को देखते रहे।

जब धर्म का रूप साधारण व्यक्ति के लिए दुर्बोध हो जाता है, धार्मिक आडम्बरों में क्रमशः वृद्धि होती है; धर्म पर कुछ प्रमुख व्यक्तियों का अधिकार हो जाता है, विधि-विधानों में कठोरता आने लगती है, तब धार्मिक क्रान्ति आवश्यक होती है। भारत में यह क्रान्ति छठी शताब्दी ई० पू० में वैदिक धर्म के विरुद्ध हुई थी। इस क्रान्ति के कई कारण थे। वैदिक काल का धर्म अत्यन्त सरल तथा आडम्बरहीन था, परन्तु काल-चक्र ने उसे अत्यन्त जटिल तथा दुरूह बना दिया था। साधारण जनता धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूलती जा रही थी। धर्म का अर्थ उस समय यज्ञ और बलिदान हो गया था। उस समय की परिस्थिति को देखते हुए बहुत बड़े-बड़े दार्शनिक और सुधारवादी हुए, उन्होंने वैदिक धर्म की इस कट्टरता का बड़ा विरोध किया, एवं वैदिक धर्म में सुधार लाने की चेष्टा की। कुछ ने नया सम्प्रदाय ही बनाने की चेष्टा की। यह दूसरी बात है कि कुछ सुधारवादी कचरा साफ करने के स्थान पर कचरों का नया ढेर लगा गये। परन्तु कुछ आवश्यक सुधार भी हुए। जैन और बौद्ध धर्म इसी विरोध की उपज थे। भक्तिमार्ग का व्यापक प्रचार भी वैदिक धर्म के सुधार के हेतु ही हुआ।

१९ वीं शती के आरम्भ से उसी तरह की नवीन क्रान्ति का श्री गणेश हुआ। उस समय तक हिन्दू धर्म अपने वास्तविक उद्देश्य, सच्चे ध्येय और कर्त्तव्यों से दूर हट गया था, उसका वास्तविक स्वरूप विकृत हो चला था। बाल-विवाह, अनमेल विवाह, दहेज, परदा, जात-पांत आदि अनेक कुरीतियों ने हमारे समाज में जड़ जमाली थी, और उनका पालन एवं समर्थन धर्म के नाम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



पर किया जा रहा था। धर्म के नाम पर पशु-हिंसा तथा अनाचार का समर्थन हो रहा था। लोग धर्म के सच्चे अर्थ को भूलते जा रहे थे। हिन्दू धर्म की इन दुर्बलताओं का अन्य धर्मों के प्रचारक पूरा लाभ उठा रहे थे। ईसाई पादरी हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों और कर्मकाण्डों की जी भरकर खिल्ली उड़ाते थे और अपने धर्म का प्रचार करने में जी जान से लगे हुए थे। बहुत से हिन्दू ईसाई बनाये जा रहे थे। अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय पाश्चात्य वैज्ञानिक भौतिकवाद की ओर अग्रसर हो रहे थे। इन सब कारणों से हिन्दू धर्म की नींव हिल उठी थी और ऐसा जान पड़ रहा था कि हिन्दू संस्कृति और हिन्दू धर्म का नाम सदा के लिए विलीन होने जा रहा है। ऐसे समय में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण, विवेकानन्द, महादेव गोविन्द रानाडे आदि अनेक विभूतियों ने आगे बढ़कर देश की डगमगाती नौका को सँभाल लिया। उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम तक इन धार्मिक सुधारकों के आन्दोलन की लहर फैल गई। परन्तु सभी धार्मिक सुधारकों में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' अपने ध्येय में विशेष सफल हुआ।

यों तो स्वमी जी आजीवन देश के कल्याण के लिए कार्य करते रहे परन्तु आपका सबसे महत्वपूर्ण कार्य आर्य-समाज की स्थापना थी। स्वामी जी प्रथम बार कई एक प्रतिष्ठित गृहस्थों की प्रेरणा से बनारस आदि नगरों से होते हुए २६ अक्टूबर सन् १८७४ ई० में बम्बई पहुंचे। वहां उनके स्वागत के लिए एक प्रसिद्ध सेठ उपस्थित थे। उन्होंने इनको ले जाकर बालकेश्वर महादेव के पर्वत पर ठहराया। यहां पर आने के पश्चात् स्वामी जी ने इस आशय का एक विज्ञापन चार भाषाओं में निकाला, 'जिस किसी को धर्म-सम्बन्धी विचार की अभिलाषा हो वह आये और विचार करें'। स्वामी जी के इस विज्ञापन से विद्वत् समाज में बड़ा कोलाहल उत्पन्न हो गया। अनेक लोग स्वामी जी के पास आकर अपनी शंकाओं का समाधान चाहने लगे। १० अप्रेल सन् १८७५ ई० को सायंकाल के समय गिरग्राम में डाक्टर मानक जी के बाग में श्री गिरधर लाल दयाल दास कोठारी, बी० ए० एल एल० बी०, की अध्यक्षता में एक जनता-अधिवेशन में आर्य-समाज की स्थापना हुई, और उस समय निम्न-लिखित नियम बने, जो कि अधिवेशन में पढ़कर सुनाये गये :—

(१) आर्य-समाज सभी मनुष्यों के हितार्थ होना चाहिए।

(२) आर्य-समाज में मुख्य प्रमाण वेदों को ही माना जायगा। वेदों के अनुकूल वेदांग, ब्राह्मण, उपवेद आदि भी प्रमाण होंगे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



(३) आर्य-समाज की सभी देशों में शाखाएं और उप-शाखाएं होंगी।

(४) प्रधान आर्य-समाज के अनुसार ही अन्य उपशाखाओं का प्रबन्ध होगा।

(५) सभी की व्यवस्था एक जैसी होगी।

(६) प्रत्येक समाज में एक प्रधान पुरुष, द्वितीय मन्त्री तथा अन्य पुरुष और स्त्रियां सभासद होंगी।

इसी प्रकार के २८ नियम बनाये गये। बाद में आवश्यकतानुसार अन्य-नियम और उपनियम भी बने। स्वामी जी का मुख्य लक्ष्य वैदिक धर्म का पुनरुद्धार ही था।

आर्य-समाज का मुख्य आधार वेद है। स्वामी जी को विश्वास था कि सामाजिक, धार्मिक एवं अन्य सभी समस्याओं को हल करने की कुन्जी वेदों में विद्यमान हैं। वेद मानवता के श्रेष्ठ गुणों का वर्णन करता है। हम आज के समस्त नवीनवादों (सिद्धान्तों) का प्रचीन काल के महात्माओं द्वारा बताई हुई विद्याओं द्वारा सुधार कर सकते हैं। अर्थात् हम नवीन वादों के स्थान पर वैदिक ज्ञान को अपना सकते हैं और यह मानव-समाज के लिए महान कल्याणकारी होगा।

स्वामी जी ने वेदों का नया अर्थ लगाया। वह अर्थ शायद हिन्दू धर्म के लिए नवीन था। स्वामी जी को वेदों पर अटूट विश्वास था। उनका कहना था कि जहां कहीं भी सत्य है, उसका आधार वेद है। वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं। प्रारंभ में आर्य-समाज और स्वामी दयानन्द के विचारों का बड़ा विरोध किया गया, साथ ही साथ उनका मजाक भी उड़ाया गया। परन्तु जिस प्रकार बाढ़ का पानी निकल जाने पर नदी की स्वच्छ धारा दृष्टिगोचर होने लगती है, उसी प्रकार आक्षेप रूपी बाढ़ के निकल जाने पर आर्य-समाज का जो सुन्दर और मनोहर रूप सामने आया, वह पूर्व और पश्चिम दोनों के लिए आदर की वस्तु बन गया।

श्री अरविन्द ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उनका यह कथन कि वेदों में वैज्ञानिक सत्य एवं धार्मिक सत्य दोनों ही उपस्थित हैं, पूर्णतः सत्य है। अरविंद ने आगे कहा है कि वेदों में कुछ ऐसे वैज्ञानिक सत्य हैं, जिनका पता अभी तक आधुनिक विज्ञान को नहीं लगा। अतः यह स्पष्ट है कि स्वामी जी ने वेदों का अध्ययन एवं मनन बड़ी गम्भीरता पूर्वक किया। स्वामी जी ने वेदों के महत्व को दिखाकर हिन्दू-समाज में नये आत्मगौरव की प्रतिष्ठा की।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



हर प्रकार के आध्यात्मिक विश्वास में सत्य की मात्रा होती है। पैगम्बर तथा महात्माओं ने मानवता को एक सूत्र में जोड़ने की चेष्टा की, परन्तु पुजारियों ने तथा अन्य स्वार्थी धर्माधिकारियों ने द्वेष तथा घृणा का बीजारोपण किया। स्वामी जी ने धर्म में विद्यमान ऐसे सभी आडम्वरों को चुनौती दी।

१८७७ ई० में दिल्ली में एक धार्मिक सभा हुई थी जिसमें स्वामी जी ने विभिन्न धर्मो के नेताओं को आमन्त्रित किया था। स्वामी जी का विचार था कि सभी धर्म के नेता आपस में मिलें और एक ऐसी विचार-धारा को जन्म दें, तथा जनता में उसका प्रचार करें, जो मानवता के हित में हो, तथा सुख और शान्ति का कारण बन सके। स्वामी जी का यह प्रस्ताव तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल था। किन्तु इस सम्मेलन का प्रभाव कुछ विशेष नहीं हुआ। परन्तु आगे चलकर विभिन्न धर्मों के नेताओं ने इन विचारों का समर्थन किमा।

आर्य-समाज ने तत्कालीन समाज में फैली हुई कुरीतियों एवं आडम्वरों को दूर करने का प्रयास किया। उसके अनुसार वेदों में हमें चारो वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है, परन्तु उसका आधार गुण और कर्म है, जन्म और जाति नहीं। आर्य समाज ने लोगों को वताया कि वेदों में वयस्क विवाह की व्यवस्था है, एवं छुआछूत का कोई स्थान नहीं हैं। स्वामी जी की शिक्षाओं का प्रामाणिक विवरण उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में है।

चार्ल्स इलियट ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुइज़्म' में आर्य समाज के कार्यों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'थोड़े मतभेद के बावजूद कहा जा सकता है कि सन् १९११ की जनगणना के अनुसार गत अर्धशती में आर्य समाज, जिसकी स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ ई० में की थी, सबसे बड़ा धार्मिक आन्दोलन था। आर्यसमाज का लक्ष्य हिन्दूधर्म का सुधार था। इस समाज ने योग्यता पूर्वक भारतीय समाज में घुस आई कुरीतियों का बहिष्कार किया। आर्य-समाज की ओर से स्कूल, कालेज तथा अनाथालय आदि खोले गये। आर्य-समाज का सवसे मुख्य कार्य शुद्धि-आन्दोलन था, अर्थात् उन हिन्दुओं को जिन्हें वलात् या अनजान में मुसलमान या ईसाई वना दिया गया था पुनः शुद्धकर हिन्दू धर्म में लाना। जो लोग शुद्ध किये जाते वे सव के सव आर्य-समाज के मानने वाले ही नहीं होते। सामान्य हिन्दू जनता भी उनको अपना लेती थी।

स्वामी जी एक महात्मा ही नहीं वल्कि प्रतिभाशाली संगठन कर्त्ता भी थे। आर्य-समाज ने हिन्दू-समाज को वहुत से मेधावी विचारक, दार्शनिक एवं संग-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



ठन कर्त्ता दिये, जो देश में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का आजीवन प्रयत्न करते रहे। आर्य-समाज ने देवी-देवताओं की पूजा के विरुद्ध भी आवाज उठाई। यह एक कठिन कार्य था क्योंकि हिन्दू समाज सैकड़ों वर्षों से ऐसी पूजा करता आ रहा था। सुधार के इस पक्ष के लिए आर्य-समाज को काफी विरोध का सामना करना पड़ा। आर्य-समाज ने अनुभव किया कि अन्ध-विश्वासों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि साधारण जनता में शिक्षा का प्रचार हो, जिससे जनता अपने प्राचीन महात्माओं द्वारा बताई गई सत्य की मूलभित्तियों को जान सके। अतः आर्य-समाज ने गुरुकुल एवं कालेज खोले, लड़कियों के शिक्षा के लिए भी आवश्यक प्रवन्ध किया। आर्य समाज की संस्थाएँ देश के बाहर भी खोली गईं।

हरिद्वार के निकट कांगड़ी का गुरुकुल भारत का प्रथम विश्वविद्यालय है, जिसकी नींव आर्य-समाज ने डाली थी। यहां पर बी० ए और एम्० ए० तक की शिक्षा हिन्दी माध्यम द्वारा दी जाती है। प्राचीन ब्रह्मचर्य की शिक्षा के आधार पर यहां के युवकों के चरित्र का निर्माण किया जाता है। विधवाओं और अनाथ बालकों के लिए आर्य-समाज ने आश्रम बनवाकर समाज के एक अंग को निराश्रित होने से बचा लिया। इस प्रकार आर्य-समाज को हिन्दू धर्म में अपेक्षित सुधार करने में पर्याप्त सफलता मिली।

भारत के सभी बड़े नगरों में आर्य-समाज की स्थापना की गयी। २४ जून सन् १८७७ में लाहौर में आर्य-समाज की स्थापना हुई; उसके लिए नियम एवं उपनियम भी बनाये गये। नियमों में मूलतः दो बातें थीं—

(१) ईश्वर में विश्वास

(२) वेदों में श्रद्धा एवं विश्वास

बाद में स्वामी जी ने दस नियम बनाये—

(१) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका मूल कारण ईश्वर है।

(२) परमेश्वर, सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्व-व्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्ता है।

(३) वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं। वेद का अध्ययन करना, अध्ययन कराना सब आर्यों का पवित्र कर्तव्य है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



(४) सत्य को ग्रहण करने एवं असत्य को त्यागने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए।

(५) सब कार्य धर्मानुसार करना चाहिए।

(६) संसार का उपकार करना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। तन, मन, धन से समाज की सेवा करनी चाहिए।

(७) सबसे यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए।

(८) अविद्या का नाश एवं विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

(९) प्रत्येक मनुष्य को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, बल्कि दूसरों की उन्नति का भी प्रयत्न करना चाहिए।

(१०) सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में तत्पर रहना चाहिए।

## निर्वाण

महाराज उदयपुर के कई बार निवेदन करने पर स्वामी जी ११ अगस्त, १८८२ ई० को उदयपुर आए। यहां पर आप कुछ काल तक निवास कर लोगों को धर्म का उपदेश करते रहे। उसी समय जोधपुर के नरेश ने आपको आमंत्रित किया। उनका विशेष आग्रह देखकर स्वामी जी वहां जाने के लिए तैयार हो गये।

यह यात्रा स्वामी जी के लिए बड़ी कष्टकर सिद्ध हुई। प्रथम दिन ही इतनी अधिक वर्षा हुई कि आप एवं दल के लोगों को कहीं ठहरने का स्थान नहीं मिला। काफी कठिनाई का सामना करते हुए २७ मई, १८८३ में अजमेर पहुंचे। वहां से स्वामी जी की इच्छा मारवाड़ जाने की थी। सभासदों ने आपको मारवाड़ जाने से मना किया, परन्तु स्वामी जी ने अपने धर्मकार्य के लिए वहां जाने का निश्चय किया। जोधपुर के राजा को स्वामी जी ने क्षात्र-धर्म पर उपदेश दिया। जोधपुर में ही स्वामी जी की तबीयत खराब हो गई। जोधपुर के राजा ने स्वामी जी से अपने यहां ठहरने का आग्रह किया, किन्तु स्वामी जी ने उसे स्वीकार नहीं किया और आबू पर्वत पर चले गये। स्वामी जी के अस्वस्थ होने के समाचार से सारे देश में बेचैनी फैल गई।

लाला जीवनदास जी ने, जो कि लाहौर से स्वामी जी को देखने आये थे, रुग्ण स्वामी जी से पूछा कि 'इस समय आप कहां हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



'ईश्वरेच्छा में' । कहा जाता है कि मृत्यु के समय महान कष्ट होता है, परन्तु स्वामी जी को ऐसा कोई कष्ट नही हुआ । उन्होंने बड़ी धीरतापूर्वक मृत्यु का आवाहन किया । ३० अक्टूबर सन् १८८३ को स्वामी जी का पार्थिव भौतिक शरीर पंचतत्व को प्राप्त हो गया ।

देश-विदेश के विद्वानों एवं समाचार पत्रों ने स्वामी जी की मृत्यु पर शोक मनाया । प्रोफेसर मैक्समूलर ने स्वामी दयानन्द जी को अपनी श्रद्धांजलि देते हुए लिखा कि स्वामी दयानन्द एक विलक्षण विद्वान पुरुष थे, वे अपने देश के धार्मिक साहित्य से पूर्ण परिचित थे । उनके धर्म की नींव वेदों पर आधारित थी, जिसे अधिकांश भारतीय ईश्वरकृत मानते हैं । स्वामी जी ने ऋग्वेद का भाष्य भी लिखा है ।

इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि श्री स्वामी दयानन्द का व्यक्तित्व भारत तथा संसार के धर्म के इतिहास में सर्वदा अपना एक अलग स्थान बनाये रक्खेगा। स्वामी जी का आदर्श जीवन और चरित्र निरन्तर मानव को प्रकाश देते रहेंगे ।

—o—



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# स्वामी विवेकानन्द

## (१८६३–१९०२)

संसार के कल्याण के लिए इस भूमण्डल पर समय-समय पर जिन अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया है उन में स्वामी विवेकानन्द का नाम उल्लेखनीय है। केवल उनतालीस वर्ष के अल्प जीवन में उन्होंने प्राणिमात्र के उद्धार के लिए जो महान् कार्य किए हैं उनके अवलोकन से पता चलता है कि उनकी आत्मा कितनी महान् थी, उनके विचार कितने उच्च थे और उनके अन्दर विश्वकल्याण की भावना कितनी ओतप्रोत थी। उनकी प्रतिभा अलौकिक थी और उनका हृदय विशाल था। उन्होंने धर्म को एक नया रूप देकर मानव-धर्म की प्रतिष्ठा ही नहीं की, किन्तु संकुचित विचारधारा के त्याग द्वारा उसमें क्रान्ति उत्पन्न कर दी। उन्होंने देश में ही नहीं किन्तु विदेशों में भी वेदान्त-धर्म का प्रचार किया। इतना ही नहीं, उस वेदान्त धर्म को संकुचित दायरे से निकाल कर उसे एक विशाल रूप दिया। धर्म के तत्वों को आधुनिक दृष्टि-कोण से समझाया। उन्होंने नरनारायण की पूजा और दरिद्रनारायण की सेवा का जो नवीन आदर्श हमारे सामने रक्खा है वह एक ऐसा आदर्श है जिसके अनुष्ठान से ही विश्व का कल्याण हो सकता है। विश्व के प्रति, भारत के प्रति, नारी समाज के प्रति, दीन-हीन-पीड़ित-उपेक्षित मानवों के प्रति यहां तक कि पशुपक्षियों के प्रति भी उनका कितना उदार दृष्टिकोण था यह सब सोचने और समझने की बात है। उन्होंने धर्म, ईश्वर और सेवा का एक नूतन आदर्श हमारे सामने रक्खा।

वास्तव में स्वामी जी एक अलौकिक प्रतिभासम्पन्न आध्यात्मिक सन्त थे। उनमें राष्ट्रीयता कूट कूट कर भरी हुई थी। वह केवल अपनी मुक्ति नहीं चाहते थे और न हिमालय की चोटी पर जाकर एकान्त साधना करना चाहते थे। उनका प्रत्येक कार्य मानव की मुक्ति के लिए था और जनता–जनार्दन के बीच में रहकर ही उन्होंने साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी। उनमें एक ऐसा अद्भुत आकर्षण था कि जो भी उनके सम्पर्क में आया उसने नत मस्तक होकर उनको अपना गुरु स्वीकार किया। यही कारण है कि कुछ भारतीयों ने ही नहीं किन्तु अनेक विदेशी पुरुष और महिलाओं ने उनसे दीक्षा लेकर अपने जीवन को धर्मप्रचार में और मानव की सेवा में अर्पित कर दिया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



बाल्यकाल—स्वामी जी ने १२ जनवरी १८६३ ई० में कलकत्ता के सिमुया-पल्ली मुहल्ले में विश्वनाथदत्त और भुवनेश्वरी देवी के प्रथम पुत्र के रूप में जन्म लिया। वाराणसी के वीरेश्वर महादेव की आराधना से पुत्र-लाभ होने के कारण माता ने पुत्र का नाम वीरेश्वर रक्खा। घरेलू नाम था 'विले' और अन्नप्राशन के समय पिता ने नरेन्द्रनाथ नाम रक्खा था। यही नरेन्द्रनाथ भविष्य में विवेकानन्द के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुए।

कलकत्ता हाई कोर्ट के एटर्नी श्री विश्वनाथ दत्त विद्वान्, विद्यानुरागी, गरीबों के प्रति दयालु, दान में मुक्तहस्त तथा स्वजनों के प्रतिपालक थे। पिता के इन सभी गुणों का नरेन्द्रनाथ पर विशेष प्रभाव पड़ा था। नरेन्द्र वचपन से ही मेधावी, बुद्धिमान्, निर्भीक, साहसी, श्रुतिधर और स्मृतिधर थे। जिसे एक वार पढ़ते या सुनते थे वह सदा के लिए उनके स्मृति-पटल पर अंकित हो जाता था। आध्यात्मिक शक्ति, दया, परदुःखकातरता, साम्य, मैत्री, स्वाधी-नता, आत्मविश्वास, तेज, वीर्य, स्थैर्य, धैर्य, शारीरिक और मानसिक बल, इह-लौकिक तथा पारलौकिक ज्ञान और प्रतिद्वन्द्वितारहित नेतृत्व का भाव ये सभी गुण उनमें विकसित हुए थे। बचपन से ही गरीव—दुःखियों को देखकर उनका हृदय द्रवित हो जाता था और कुछ देने योग्य न मिलने पर अपनी धोती खोल-कर ही भिखारी को दे देते थे। इससे उन्हें परम सन्तोष प्राप्त होता था। रामभक्त परमवीर हनुमान् जी नरेन्द्रनाथ के आदर्श प्रतीक थे। साहस, बल और पवित्रता की मूर्ति हनुमान जी की पूजा उन्होंने भारत के घर घर में प्रचलित करना चाहा था।

बचपन से ही नरेन्द्रनाथ बहुत जिद्दी थे। उन्हें शान्त करने के लिए धमकाना, डराना आदि सभी उपाय व्यर्थ हो जाते थे। माता अशान्त पुत्र को गोद में लिये कहा करती थी—"मैंने बहुत मनौती कर के शिव के मन्दिर में धरना देकर एक पुत्र की कामना की थी, परन्तु उन्होंने भेज दिया एक भूत को।" उनके बचपन की उद्दण्डता और असीम साहस की अनेक घटनाएँ हैं। अमेरिका से लौटने पर वह शिष्यों से कहा करते थे—"मैं बचपन में बहुत उद्दण्ड था। अगर ऐसा न होता तो क्या इसी तरह दुनिया में घूम सकता था?"

बाल्यकाल से ही नरेन्द्रनाथ यह नहीं जानते थे कि भय किस चिड़िया का नाम है। हौए का भय, भूत का भय आदि को सुनकर वह हंसकर उसे उड़ा देते थे। बचपन से ही ध्यानपरायणता इनका सहज स्वभाव था। श्री राम-कृष्ण देव ने दक्षिणेश्वर में एक दिन कहा था—"नरेन्द्र ध्यानसिद्ध महापुरुष

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



है। जिस दिन वह जान सकेगा कि वह कौन है उस दिन इस संसार में नहीं रहेगा। दृढ संकल्प के द्वारा योगमार्ग से उसी क्षण शरीर छोड़ कर चला जायगा।" किसी ने कहा है, इसलिए उसपर विश्वास कर लेना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। किसी बात का प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलने तक वह उसपर विश्वास नहीं करते थे।

अभी अठारहवां वर्ष था। एफ० ए० परीक्षा की तैयारी कर रहे थे। तरह-तरह के प्रश्न उन्हें आन्दोलित करते। संसार में इतने दुःख और इतनी विषमताएँ क्यों हैं? धनिक के महल के पास गरीब की झोपड़ी क्यों है? एक ही भगवान् की सन्तान सभी हैं, फिर भी ब्राह्मण और चाण्डाल के मध्य इतने महान् अन्तराल की सृष्टि कैसे हुई? इन प्रश्नों का कोई समाधान उन्हें नहीं मिलता था। व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय विषमताओं ने उनके मन को विद्रोही वना दिया था। ब्राह्मण-समाज की उपासना से उनका मन सन्तुष्ट नहीं हुआ। इसलिए वह कलकत्ता के विभिन्न धार्मिक व्यक्तियों के पास जाने लगे।

इसी समय उन्हें एक अग्निपरीक्षा का सामना करना पड़ा। उनके पिता ने एक धनी व्यक्ति की कन्या के साथ उनका विवाह निश्चित कर दिया। दस हजार रुपये दहेज तय हुआ। विवाह का प्रस्ताव सुनकर उनका एक ही उत्तर था—"मैं किसी तरह विवाह नहीं करूंगा।"

**श्री रामकृष्ण परमहंस से संवन्ध**—रामकृष्ण कलकत्ता शहर के निकट दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में रहते थे और काली माता की पूजा करते थे। भगवान् के अतिरिक्त उनकी अन्य कोई कामना नहीं थी तथा किसी सांसारिक विषय को जानते भी नहीं थे। वह भाषण नहीं करते, प्रचार नहीं करते और न कोई पुस्तक ही लिखते थे। वह एक निरक्षर पुजारी मात्र थे और सदा छोटे वच्चे की तरह मां मां कहते हुए मां का गुणगान किया करते थे। उनके लिए काली माता पत्थर की मूर्ति नहीं थी। वह मूर्ति की पूजा नहीं करते थे, वह पूजा करते थे चिन्मयी महामाया की। वह काली माता के ध्यान में दिनरात मग्न रहते थे। देखने में पागल की तरह मालूम पड़ते थे, लेकिन जब माता का गुण-गान करते तब श्रोता मन्त्रमुग्ध की तरह आत्मविभोर हो जाते थे। केशवचन्द्र आदि ब्राह्म समाज के नेता इस निरक्षर रहस्यमय पुरुष के चरणों में घण्टों अवाक् बैठे रहते थे। नरेन्द्रनाथ के दक्षिणेश्वर में आने से पहले ही रामकृष्ण देव को एक अलौकिक दर्शन हुआ था। उसमें उन्होंने ज्योतिर्मण्डल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



के एक ऋषि को देखा था। उससे ही वह नरेन्द्र नाथ के स्वरूप के विषय में जान सके थे।

कलकत्ता के सिमुलिया मुहल्ले के सुरेन्द्रनाथ ने नवम्बर १८८१ में एक दिन अपने भवन में रामकृष्ण एवं उनके भक्तों को सादर निमंत्रित करके एक छोटे उत्सव का आयोजन किया था और एक गायक की आवश्यकता होने से नरेन्द्रनाथ को भजन गाने के लिए बुला लिया था। नरेन्द्रनाथ को देखते ही रामकृष्ण चौंक कर बोले—"यही तो वह ज्योतिर्मण्डल का ऋषि है।" यही उन दोनों का प्रथम मिलन है। वहां नरेन्द्रनाथ का गाना सुनकर राम-कृष्ण देव अत्यन्त प्रसन्न हुए और नरेन्द्र नाथ को दक्षिणेश्वर में आने का निमन्त्रण दिया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। कुछ काल बाद नरेन्द्रनाथ दो तीन मित्रों के साथ दक्षिणेश्वर पहुंचे। रामकृष्ण की प्रेरणा से नरेन्द्र ने कुछ उद्बोधक बँगला गाने गाये जिन्हें सुनकर रामकृष्ण भावविभोर होकर कहने लगे—"नरेन्द्र तुम इतने दिनों के बाद आये। मैं तुम्हारे लिए व्याकुल होकर प्रतीक्षा में बैठा हूं। इसे तुमने एक बार सोचा भी नहीं। मैं जानता हूं तुम वही सनातन ऋषि, नररूपी नारायण हो और जीवों का दुःख दूर करने के लिए पुनः शरीर धारण कर के आये हो।"

इसके बाद रामकृष्ण अन्दर से कुछ मक्खन और मिश्री लाकर अपने ही हाथ से नरेन्द्रनाथ को खिलाने लगे। और एक दिन वहां अकेले आने के लिए कहा। रामकृष्ण देव के इस अप्रत्याशित व्यवहार से नरेन्द्रनाथ विस्मय-विमुग्ध होकर उनके विषय में सोचने लगे कि यह तो एक विलक्षण व्यक्ति है। उस दिन दक्षिणेश्वर से नरेन्द्रनाथ के चले आने पर रामकृष्ण का मन उन्हें देखने के लिए व्याकुल रहने लगा। इधर नरेन्द्र भी उन्हें भूल न सके। अतः एक माह के बाद नरेन्द्र अकेले ही दक्षिणेश्वर गये। नरेन्द्र के वहां पहुंचते ही रामकृष्ण परम प्रसन्न हुए और उन्हें अपने पास बैठाकर उन्होंने दाहिने पैर से नरेन्द्र को छू दिया। उस स्पर्श से नरेन्द्र के अन्तः करण में एक अपूर्व अनुभूति हुई। नरेन्द्रनाथ सोचने लगे कि रामकृष्ण असाधारण शक्ति-सम्पन्न एक महापुरुष हैं। इस प्रकार नरेन्द्रनाथ शनैः शनैः रामकृष्ण की ओर आकृष्ट होकर पुनः पुनः दक्षिणेश्वर जाने लगे और उनके रहस्यमय जीवन का अध्ययन करने लगे। वह यद्यपि रामकृष्ण पर श्रद्धा रखते थे तथापि बिना विचारे उनकी बात नहीं मानते थे। वह दक्षिणेश्वर जाते परन्तु काली मन्दिर में नहीं घुसते थे। मूर्ति-पूजा में उनका विश्वास नहीं था इसी कारण काली

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



की मूर्ति को वह प्रणाम भी नहीं करते थे। लेकिन रामकृष्ण ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से नरेन्द्रनाथ के विद्रोही मन को वशीभूत कर लिया। पांच वर्ष तक रामकृष्ण देव के सांनिध्य का लाभ प्राप्त करने के कारण नरेन्द्र नाथ के जीवन में भी परिवर्तन हुआ। अतः उन्होंने रामकृष्ण को अपना पथ-प्रदर्शक और इष्ट गुरु मान लिया, तथा सब प्रकार के विलास-व्यसनों को छोड़ कर कठोर ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया।

रामकृष्ण के पार्षदों में नरेन्द्र नाथ का एक विशिष्ट स्थान था। रामकृष्ण ने कहा--'नरेन्द्र लोक-शिक्षा देगा' और यह बात अक्षरशः सत्य हुई। एक दिन नरेन्द्र अपने पारिवारिक कष्टों को दूर करने के लिए रामकृष्ण की प्रेरणा से तीन बार काली के मन्दिर में गये। लेकिन वहां जाते ही अन्य सब चिन्तायें भूलकर नत मस्तक होकर केवल यही प्रार्थना की कि "मां मुझे विवेक और वैराग्य दो, ज्ञान और भक्ति दो"। उस दिन से उन्होंने ईश्वर को मान लिया। प्रतिमा ईश्वर का प्रतीक है इसे भी उन्होंने मान लिया। मूर्ति पूजक प्रतिमा के अवलम्बन से भगवान् की ही उपासना करते हैं।

शरीर-त्याग के तीन चार दिन पहले रामकृष्ण ने सन्ध्या समय नरेन्द्र को एकान्त में बुलाया। उस समय नरेन्द्रनाथ को ऐसा अनुभव हुआ कि रामकृष्ण के शरीर से एक ज्योति निकल कर उनके शरीर में प्रविष्ट हो गयी। बाद में रामकृष्ण ने कहा—"आज मैं अपना सर्वस्व तुझे देकर फकीर हो गया। तू इस शक्ति के बल पर संसार की भलाई के लिए अनेक काम कर सकेगा और काम समाप्त होते ही लौट जायगा"। फिर १७ अगस्त, १८८६ को रामकृष्ण काली का नाम उच्चारण करते हुए परमधाम पधार गये। वास्तव में विवेकानन्द रामकृष्ण की वाणी थे। रामकृष्ण ने उन्हें यन्त्र बनाकर संसार के कल्याण के लिए अपने युगधर्म का प्रचार किया।

उन्होंने बी० ए० परीक्षा देने के अनन्तर बी० एल० पढ़ना प्रारंभ किया ही था कि ठीक इस समय (१८८४ ई० के प्रारंभ में) उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। यद्यपि उनके पिता सम्पन्न थे किन्तु मरते समय कुछ भी नहीं छोड़ गये। नरेन्द्रनाथ के पारिवारिक जीवन में महासंकट की अवस्था उत्पन्न हुई। उन्हें जीवन में पहली बार दरिद्रता का सामना करना पड़ा। नरेन्द्र प्रतिदिन भगवान् का नाम लेकर घर से निकलते थे। एक दिन उनकी मां ने झिड़क कर कहा—"चुप रह, बचपन से ही तो तूं भगवान् भगवान् कहा करता है। भगवान् ने क्या कर दिया ?" वह गंभीर होकर सोचने लगे—क्या भगवान्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सचमुच ही हैं ? क्या वह हमारी प्रार्थना सुनते हैं ? क्या वह मंगलमय हैं ? तो उनके राज्य में इतने अमंगल क्यों ? उस समय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की बातें उन्हें याद आईं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने कहा था—यदि भगवान् दयामय और मंगलमय हैं तो लाखों व्यक्ति भूखों क्यों मरते हैं।

नरेन्द्रनाथ को कोई स्थायी नौकरी नही मिली। उनके सामने विषम समस्या थी। एक ओर माता और भाइयों के भूख से तड़प तड़प कर मरने का दृश्य था तो दूसरी ओर समस्त विश्व के कल्याण के लिए धर्म-प्रचार और सेवा की भावना थी। अन्त में विश्व-कल्याण की भावना से उन्हें कुटुम्ब का मोह छोड़ना पड़ा। उन्होंने विचार किया—क्या विगड़ जावेगा यदि एक मां न रही, यदि दो भाई मर गये तो ? यह तो बलिदान है, इसे तो करना ही होगा। विना बलिदान किये कोई भी महान् कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

अगस्त १८८६ में रामकृष्ण देव का स्वर्गवास हो गया। उसके बाद नरेन्द्र नाथ आदि १६ भक्त युवक काशीपुर में सम्मिलत हुए। उनके रहने के लिए कोई उपयुक्त स्थान न था। कुछ दिनों के भीतर कलकत्ता के उत्तर प्रान्त के बराह नगर में एक भुतहा मकान दस रुपये महीने पर ले लिया गया। और वहां रामकृष्ण के स्वर्गवास के डेढ़ महीने के भीतर बराहनगर मठ स्थापित हो गया। बाद में रामकृष्ण संघ की स्थापना भी हुई। आज समस्त विश्व में रामकृष्ण संघ द्वारा परिचालित १३८ स्थायी केन्द्र तथा २२ उपकेन्द्र अनेक जनहित के कार्य कर रहे हैं। जनवरी १८८७ ई० में नरेन्द्रनाथ आदि युवकों ने संन्यास आश्रम ग्रहण कर लिया। संन्यास लेने के समय उनका कोई दूसरा नाम रक्खा गया था। लेकिन अमेरिका जाने के पूर्व उनका नाम विवेकानन्द हो गया था।

### भारत-दर्शन

भारतीय जनता से साक्षात् संपर्क स्थापित करने के लिए और उनके कष्टों तथा आवश्यकताओं को समझने के लिए उन्होंने भारत-भ्रमण की योजना बनाई। १८८८ ई० में विवेकानन्द दण्ड-कमण्डल धारी परिव्राजक के रूप में वाराणसी, अयोध्या, लखनऊ, आगरा, वृन्दावन, हाथरस, हरिद्वार, और हृषीकेश तक गये। इस यात्रा में सभी श्रेणियों के मनुष्यों के साथ परिचित हुए और उनकी दुःख–वेदना समझी। भारतीय जनता के दुःख और दारिद्रय के कारण को भी उन्होंने समझ लिया। उन्होंने एक दिन गुरु-भाइयों से कहा— 'मेरे जीवन का व्रत निश्चित हो गया है। अब से मुझे अकेला ही रहना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



होगा। तुम लोग मेरा साथ छोड़ दो। मेरे साथ केवल भगवान् ही रहेंगे"। इसके वाद फिर वे भारत का भ्रमण करने लगे।

## विदेश-गमन और भ्रमण

स्वामी जी की पाश्चात्य देशों में जाने की योजना के पीछे एक प्रमुख उद्देश्य भारत का दु:ख-विमोचन भी था। उन्होंने सोचा था कि वहां जाकर पाश्चात्य देशवासियों की दृष्टि भारत के प्रति आकृष्ट करेंगे।

स्वामी जी जुलाई १८९३ ई० में अमेरिका की विशाल नगरी शिकागो में पहुँचे। प्रारंभ में अनेक कष्ट उठाने के वाद वहां की एक धनी महिला से परिचय हुआ। वह स्वामी जी के गुणों से आकृष्ट होकर उन्हें निमन्त्रण देकर अपने घर ले गई। उक्त महिला के परामर्श से स्वामी जी ने उस देश के पादरियों की तरह एक पोशाक वनवा ली। स्वामी जी जहां भी जाते थे अनेकों की दृष्टि आकर्षित कर लेते थे। क्रमशः अनेक विशिष्ट पुरुषों के साथ उनका परिचय हुआ। हावर्ड विश्वविद्यालय के ग्रीक भाषा के अध्यापक जे० एच० राइट उनके साथ प्रथम दिन की चार घण्टे की वात-चीत से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने धर्म महासभा में प्रतिनिधि-निर्वाचन सभा के सभापति को लिखा—"यह एक ऐसे विद्वान व्यक्ति हैं कि हम सभी अध्यापकों की विद्वत्ता एकत्रित करने पर भी इनके समान नहीं होगी।"

११ सितम्बर १८९३ में शिकागो में धर्म-महासम्मेलन प्रारम्भ हुआ। अनेक प्रतिनिधियों के भाषण के वाद स्वामी जी ने भाषण के प्रारंभ में 'मेरे अमेरिका निवासी वहिनो और भाइयो' कह कर सभा को सम्वोधित किया। स्वामी जी के उस सम्वोधन में विश्वभ्रातृत्व का वीज निहित था। उन्होंने धर्म-महासम्मेलन में भिन्न-भिन्न दिनों में १२ भाषण दिये। उन भाषणों में किसी धर्म की निन्दा या समालोचना नहीं थी। उन्होंने कहा था—"ईसाई को हिन्दू या वौद्ध नहीं होना होगा। अथवा हिन्दू या वौद्ध को ईसाई नहीं वनना पड़ेगा। वल्कि प्रत्येक धर्म को अपनी स्वतंत्रता और विशिष्टता कायम रखकर दूसरों का भाव ग्रहण करना होगा और इसी तरह क्रमशः उन्नत होना पड़ेगा। उन्नति या विकास का यही एक मात्र नियम है"।

इन भाषणों से उनका यश समस्त अमेरिका में फैल गया। वहां के समाचार पत्रों ने स्वामी जी को धर्म महासम्मेलन का श्रेष्ठतम व्यक्ति घोषित किया। उनमें यह भी लिखा था : स्वामी जी की वक्तृता सुनने के वाद भारत जैसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



ज्ञानवृद्ध देश में धर्म-प्रचारक भेजना कैसी मूर्खता का काम है, इसे हम विशेष-रूप से अनुभव कर रहे हैं।

धर्ममहासभा के अन्तिम दिन उन्होंने अत्यन्त महत्वपूर्ण भाषण किया था जिसका कुछ अंश निम्न प्रकार है—

"पवित्रता, चित्तशुद्धि, दया, उदारता, महानुभावता आदि किसी भी धर्मं की वपौती नहीं हैं। हर एक धर्म में उन्नत चरित्र स्त्री-पुरुषों का आविर्भाव हुआ है। यदि कोई स्वप्न में भी सोचे कि अन्य सभी धर्मं लुप्त होकर केवल उसी का धर्म जीवित रहेगा तो मैं उसे करुणा का पात्र समझूंगा। उसके लिए मैं वहुत दुःखी हूँ। परन्तु साथ-साथ मैं यह भी कहता हूँ कि सभी धर्मों के झण्डों में लिखा रहेगा—संग्राम नहीं, सहायता। विनाश नहीं, ग्रहण। द्वन्द्व नहीं, मिलन और शान्ति।

स्वामी जी के इन वाक्यों ने हिन्दू धर्म को विश्व-वरेण्य वना दिया। उन्होंने हिन्दू धर्म की जो युगानुकूल व्याख्या की थी उससे हिन्दू धर्म विश्व धर्म के रूप में परिणत किया गया।

जव स्वामी जी अमेरिका में प्रचार-कार्य में व्यस्त थे, ठीक उसी समय से उन्हें यूरोप से निमन्त्रण मिला। कुछ अंग्रेज मित्रों ने इंगलैण्ड आने के लिए उनसे बार बार आग्रह किया। अतः वह पैरिस होकर लन्दन आये। वहां अक्टूबर १८९५ ई० में स्वामी जी ने आत्मज्ञान के सम्बन्ध में प्रथम भाषण किया। थोड़े ही दिनों के भीतर स्वामी जी ने अंग्रेजों के मन पर विजय प्राप्त करली। इस विषय में एक समाचार पत्र ने लिखा—"यथार्थ में ही लन्दन के प्रतिष्ठित परिवारों की महिलाओं को कुर्सी न मिलने के कारण भारतीय शिष्यों की तरह श्रद्धा पूर्वक जमीन पर पैर समेट कर बैठ कर स्वामी विवेकानन्द के भाषण सुनते देखना एक अपूर्व दृश्य था।"

इस प्रकार स्वामी जी इंगलैण्ड में प्रचार-कार्य में तल्लीन थे। इसी वीच अमेरिका से उनके शिष्य वहां के काम के लिए उन्हें पुनः वुलाने लगे। लगभग तीन मास तक इंगलैण्ड में प्रचार-कार्य करके ६ दिसम्बर को अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। फरवरी १८९६ में न्यूयार्क में वेदान्त समिति की स्थापना की। वाद में अन्य कई स्थानों में वैसी ही समितियां स्थापित करके अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों को वेदान्त धर्म में दीक्षित किया। स्वामी जी का व्यक्तित्व इतना विशाल था कि जो कोई भी उनके सम्पर्क में आया वह उन्हें गुरु मानने को बाध्य हुआ। इसी समय पुनः इंगलैण्ड के शिष्यों से बार बार आमन्त्रण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आने लगे। अतः स्वामी जी ने न्यूयार्क से १५ अप्रैल को इंगलैण्ड के लिए प्रस्थान किया। लन्दन में रहते समय स्वामी जी और प्रसिद्ध विद्वान् मैक्स-मूलर का मिलन हुआ जो कि एक महत्व पूर्ण घटना है। उनके प्रचार-कार्य के कारण अनेक पाश्चात्य विद्वानों को विश्वास हो गया कि प्राचीन हिन्दू शास्त्र में अनेक आध्यात्मिक सत्य निहित हैं।

इस प्रकार पाश्चात्य देशों में ठोस कार्य करके स्वामी जी ने भारत लौटने का निश्चय किया। सेवियर दम्पति और जे० जे० गुडविन स्वामी जी के साथ चलने के लिए तैयार हो गए। मिस मूलर और मिस नोवल (भगिनी निवे-दिता) ने भी भारत में स्त्री-शिक्षा प्रचार एवं विस्तार के लिए स्वामी जी के अनुगमन करने का निश्चय किया।

### भारत आगमन और विदेश-गमन

दिसम्वर, १८९६ ई० में लन्दन से प्रस्थान करके स्वामी जी कोलम्वो आये। वहां १० दिन के प्रवास-काल में विभिन्न स्थानों में भाषण दिये। सर्वत्र ही उन्हें विशेष सम्मान मिला। इसके अनन्तर मद्रास पहुंचे। मद्रास से कलकत्ता आकर उन्होंने नवयुवकों को मातृभूमि की सेवा के लिए आह्वान किया। तथा जन-सेवा कार्य के विस्तार के लिए संन्यासियों और भक्त गृहस्थों के सहयोग से रामकृष्ण मिशन रूप संघ की स्थापना की। कुछ समय बाद हिमालय में एक आश्रम स्थापित करने की योजना लेकर वह मई, १८९८ में अलमोड़ा के लिए चल पड़े और सेवियर दम्पति को हिमालय में आश्रम स्थापित करने के काम में लगा दिया। भारत में स्त्री-शिक्षा का व्यापक रूप से प्रचार करने के लिए नवम्वर १८९९ में स्वामी जी ने वागवाजार में एक वालिका-विद्यालय स्थापित करके उसके संचालन का भार भगिनी निवेदिता को सौंप दिया। संसार के कल्याण के लिए 'उद्बोधन' नामक एक मासिक पत्र का प्रकाशन किया।

भारत में इस प्रकार जन-जागरण करके पाश्चात्य देशों में प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूरा करने के लिए स्वामी ज़ी ने जून १८९९ में पुनः विदेश के लिए प्रस्थान किया। कुछ दिन लन्दन में रहकर अमेरिका गये और वहां एक वर्ष तक रहे। वहां से पेरिस गये और तीन माह वहां रहे, फिर मिश्र होकर भारत लौट आये। दिसम्वर १९०० में वेलुड़ मठ में आकर संगठन के कार्य में लग गये। दिन रात कार्य में व्यस्त रहने के कारण उनका स्वास्थ्य खराब रहने लगा था। उनके अन्तिम दिन निकट आ गये थे। फिर भी वह कहते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



थे—"यदि देश के लोगों की आत्माओं को प्रबुद्ध करने के लिए मुझे सैकड़ों वार मृत्यु यातना का भोग करना पड़े तो भी मैं पीछे कहीं हटूंगा।" अन्त में ४ जुलाई १९०२ ई० में भगवान् का ध्यान करते हुए इस नश्वर शरीर को छोड़कर स्वामी विवेकानन्द सदा के लिए अनश्वर (अमर) हो गये।

## धर्म-देशना

स्वामी जी ने सनातन हिन्दू धर्म को समयानुकूल नवीन रूप में प्रतिष्ठित ही नहीं किया, बल्कि सच्चे मानव-धर्म का व्यापक प्रचार भी किया। उन्होंने कहा था—"मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूं जिससे ठीक ठीक मनुष्य तैयार हो सकें। जो धर्म गरीब-दुःखियों का दुःख दूर नहीं करता, मनुष्य को देवता नहीं बनाता, क्या वह धर्म हैं? मैं तो ऐसा धर्म चाहता हूं जो हम लोगों में आत्म-विश्वास तथा जातीय मर्यादा बोध जगाने, जनगण को अन्न, वस्त्र और शिक्षा देने तथा हमारे चारो ओर की सभी दुःख वेदनाओं को दूर करने की शक्ति प्रदान करें।"

ऊंच-नीच के भेदभाव को छोड़कर मानव मात्र को उन्नत बनाना ही उनके जीवन का लक्ष्य था। उन्होंने अपने शिष्यों को सम्बोधित करते हुए कहा था—"जाति, वर्ण, सवलता और दुर्बलता के भेदभाव को छोड़कर सभी स्त्री-पुरुषों एवं प्रत्येक बालक बालिका को सुना दो तथा सिखा दो कि सबल, दुर्बल, उच्च, नीच सभी के हृदय में अनन्त शक्तिमान् आत्मा मौजूद है।" अतः सभी व्यक्ति महान् बन सकते हैं, सभी साधु हो सकते हैं। एक ओर ब्राह्मण है और दूसरी ओर चाण्डाल; चाण्डाल को धीरे धीरे ब्राह्मणत्व में उन्नत करना ही मेरी कार्य-प्रणाली होगी।"

स्वामी जी ने भय को त्यागने तथा अन्याय और अत्याचार को सहन न कहने का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा—"संसार में यदि कोई पाप है तो वह है भय। यदि उपनिषदों में ऐसा एक शब्द हो जो युगों से संचित अज्ञान-राशि के ऊपर बम की तरह विस्फुरित होकर उसे एक दम छिन्न-भिन्न कर सके तो वह एकमात्र "अभीः" है। यदि संसार को कोई धर्म सीखना है तो वह है निर्भीकता का धर्म। एक समय एक व्यक्ति ने उनसे पूछा—"स्वामी जी, जब हम यह देखें कि एक प्रबल व्यक्ति एक दुर्बल व्यक्ति पर अत्याचार कर रहा है तो हमें क्या करना चाहिए?" स्वामी जी ने तुरन्त उत्तर दिया—"क्या करोगे? निश्चय ही बाहुबल के प्रयोग द्वारा प्रबल को निरस्त्र करना होगा। जहां दुर्बलता व जड़ता है वहां क्षमा का कोई मूल्य नहीं, युद्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



ही श्रेयस्कर है। जब तुम यह समझो कि सरलता से विजय प्राप्त करना तुम्हारे अधीन है तभी क्षमा करना। अहिंसा ठीक है, निर्वैर बड़ी बात है, परन्तु शास्त्र कहते हैं—तुम गृहस्थ हो। तुम्हारे मुंह पर यदि कोई एक थप्पड़ मारे और तुम उसके बदले में थप्पड़ न मारो तो तुम पाप करोगे। मनु ने कहा है—जो हत्या करने के लिए आया हो ऐसे ब्राह्मण का वध करने में भी पाप नहीं है। अतः अन्याय का सहन करना गृहस्थ के लिए पाप है।"

स्वामी जी पाप से घृणा करते थे, पापियों से नहीं। उनके हृदय में पापियों के उद्धार की भावना सदा रहती थी। पतित नारियों के प्रति भी उनका सहानुभूतिपूर्ण भाव था। समाज में चिरकाल से घृणित वेश्या तक को वे करुणा के साथ आशीर्वाद दे गये हैं। अमेरिका में एक प्रश्नोत्तर सभा में एक व्यक्ति ने प्रश्न किया था—"स्वामी जी, अपवित्रता की मूर्ति वेश्याओं के द्वारा समाज के अमंगल के अतिरिक्त क्या और भी कुछ हो सकता है ?" स्वामी जी ने करुणार्द्र कण्ठ से कहा—"पथ पर उन्हें देखकर घृणा से नाक-भौं न सिकोड़ो। वे ही ढाल की तरह खड़ी रहकर शत शत सतियों की लम्पटों के अन्याय-अत्याचार से रक्षा कर रही हैं। इसलिए उन्हें धन्यवाद दो, उनसे घृणा न करो।" इसी प्रकार एक व्यक्ति ने स्वामी जी को पत्र लिखा था—"दक्षिणेश्वर के मन्दिर में अनेक वेश्याएँ जाती हैं। इसलिए अनेक भद्र लोगों की वहाँ जाने की इच्छा कम हो रही है।" इसके उत्तर में स्वामी जी ने लिखा था—"वेश्यायें यदि दक्षिणेश्वर के महातीर्थ में न जा सकें तो कहाँ जायंगी ? पापियों के लिए प्रभु का विशेष प्रकाश है, पुण्यात्माओं के लिए उतना नहीं। जो लोग भगवान् के घर में जाकर भी 'वह वेश्या है, वह नीच है, वह गरीब है, वह छोटा है', इस प्रकार सोचते हैं उनकी संख्या जितनी कम हो उतना ही अच्छा है। जो लोग भक्त की जाति या योनि या व्यवसाय देखते हैं वे हमारे श्रीरामकृष्ण को क्या समझेंगे। मैं तो प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि शत शत वेश्याएँ आयें, बल्कि एक भी भद्र पुरुष यदि न आये तो न आये। वेश्याएँ आयें, शराबी आयें, चोर—डाकू आयें। प्रभु का द्वार सबके लिए खुला है यदि हम पापियों को आश्रय देने में संकोच करेंगे तो वे और कहाँ आश्रय पायंगें ?"

स्वामी जी ने दुर्बलता और संकीर्णता को छोड़कर चरित्र गठन और इच्छा शक्ति को प्रबल बनाने की शिक्षा दी। उन्होंने कहा था—"हे मेरे युवक मित्रो। तुम लोग सबल हो जाओ यही तुम्हारे प्रति मेरा उपदेश है। गीता-पाठ की अपेक्षा फुटबाल खेलने से तुम लोग स्वर्ग के अधिक समीप पहुँचोगे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



तुम्हारा शरीर मजबूत होने पर तुम लोग गीता अच्छी तरह समझ सकोगे। देह और मन समान रूप से विकसित होने चाहिए। कोई भी यथार्थ में दुर्बल नहीं है। आत्मा अनन्त शक्तिमान् और सर्वज्ञ है। दुर्बल मस्तिष्क कुछ नहीं कर सकता। हमें उसे बदल कर सबल मस्तिष्क बनाना होगा। धर्म बाद में आयेगा। यदि तुम्हें जीवित रहना है तो संकीर्ण घेरा छोड़ना होगा। संकीर्णता ही मृत्यु है और सम्प्रसारण ही जीवन है। कोई भी कार्य जो तुम्हारे भीतर की शक्ति जगा दे वह पुण्य है और जो तुम्हारे शरीर और मन को दुर्बल कर दे वही पाप है। इस दुर्बलता का परित्याग करो। अब हमें आवश्यकता है चरित्र-गठन तथा इच्छा-शक्ति को प्रबल करने की। मैं तेतीस वर्ष की उम्र में वेश्याओं के साथ एक ही मकान में रह सकता हूँ। एक मुहूर्त के लिए भी निन्दा करने की बात मेरे मन में न आयेगी। जो अपने चारों ओर की बुराई को नहीं देख सकता वह कभी अच्छा काम नहीं कर सकता।

## सेवा का आदर्श

स्वामी जी ने दीन, हीन, दुःखी और दरिद्रों की सेवा और उत्थान में ही अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया। उन्होंने जनसेवा व्रत की दीक्षा लेकर हमारे सामने सेवा का आदर्श रक्खा। दरिद्रों का कल्याण साधन ही उनके जीवन का श्रेष्ठ व्रत रहा। उन्होंने अमेरिका से एक पत्र में लिखा था—"मैं तत्वजिज्ञासु नहीं, दार्शनिक नहीं, साधु भी नहीं हूँ। मैं गरीब हूँ, मैं गरीबों से प्यार करता हूँ। जो उपेक्षित लाखों नर-नारी दिन-दिन दुःख के अन्धकार-गह्वर में डूबते जा रहे हैं, जिन्हें सहायता देने को कोई नहीं है, जो दीन-हीन तथा उत्पीड़ित हैं, जिनके विषय में सोचने का भी अवकाश किसी को नहीं है, उनके द्वारों पर सुख, स्वास्थ्य, नीति, धर्म और शिक्षा ढोते हुए चलना होगा। यही मेरी आकांक्षा व ध्येय है। इसे मैं पूर्ण करूँगा या मृत्यु को अपनाऊंगा।"—"यदि भगवान् का लाभ करना चाहते हो तो मनुष्य की सेवा करो। दरिद्र नारायण के भीतर नारायण ही हमारी सेवा पाना चाहते हैं।"

स्वामी जी का विचार था कि संन्यासियों को विशेष रूप से सेवा-कार्य करना चाहिए क्योंकि उनके पास अपरिमित शक्ति है। उन्होंने कहा था—"मुझे इन संन्यासी सम्प्रदायों में बहुत श्रद्धा नहीं है। भारत की सारी शक्ति संन्यासी सम्प्रदायों ने हथिया ली है। आज का संन्यासी राजकुमार से बढ़कर है। ये लोग एक विराट् शक्ति रखते हैं। परिभ्रमण करने वाले इन संन्यासियों के हाथों सन्निहित यह अपरिमित शक्ति रूपान्तरित हो जानी चाहिए, जिससे अपार जन-समूह उद्बुद्ध और उन्नत हो जाय।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



इस प्रकार स्वामी जी ने दरिद्र नारायण की सेवा के लिए तथा नारायण की पूजा के लिए सभी का आह्वान किया था।

## राष्ट्रीयता

स्वामी जी केवल आध्यात्मिक सन्त ही नहीं थे, उनमें राष्ट्रीयता भी कूट कूट कर भरी हुई थी। वह भारत के स्वाधीनता संग्राम के अग्रदूत थे। उन्होंने 'उत्तिष्ठत, जाग्रत' का जो मंत्र सुनाया था उससे लाखों साधारण मनुष्य जाग उठे थे। उन्होंने 'अभीः' मंत्र का भी पाठ पढ़ाया था। पं० जवाहर लाल नेहरू ने स्वामी जी के 'अभीः' मन्त्र के सम्वन्ध में 'भारत की खोज' नामक ग्रंथ में लिखा है—"स्वामी जी के भाषणों के भीतर एक स्वर बरावर ध्वनित हो रहा है, वह है—अभय हो जाओ, वीर बनो, दुर्वलता का परित्याग करो।' वास्वव में उपनिषदों की महान् शिक्षा यही थी। स्वामी जी ने कहा था कि वर्तमान में ऐसे वलिष्ठ मनुष्यों की आवश्यकता है जिनकी पेशियां लोहे की तरह दृढ़ और स्नायु फौलाद की तरह कड़ीं हों और जिनकी प्रचण्ड इच्छाशक्ति ब्रह्माण्ड के गूढ़तम रहस्य का भेदन करने में समर्थ हो।

स्वामी जी जब अमेरिका में प्रचार-कार्य में व्यस्त थे तब भी भारत को नहीं भूले थे। वहां से एक पत्र में लिखा था—'आगामी ५० वर्षों के लिए अन्य सभी देवताओं को मन से निकाल देना होगा। सबसे पहले हम जिस देवता की पूजा करेंगें वे हैं हमारे स्वदेश वासी।' विदेश यात्रा के बाद मद्रास में स्वामी जी ने पुनः कहा था–आगामी ५० वर्षों तक परम जननी मातृभूमि तुम्हारी आराध्य देवता हो। ये मनुष्य, ये पशु, ये ही तुम्हारे ईश्वर और तुम्हारे स्वदेश वासी ही तुम्हारे प्रथम उपास्य हैं। ईश्वर अनेक रूपों में तुम्हारे सामने विराजमान है। इन्हें छोड़ कर कहां ईश्वर की खोज कर रहे हो? जीवों से जो प्रेम करता है वही ईश्वर की सेवा कर रहा है। एक ही चिन्ता की अग्नि मेरे मस्तिष्क में जल रही है, वह है भारत के जन-साधारण का उन्नतिसम्पादन। जननि, मैं मुक्ति नहीं चाहता। तुम्हारी सेवा ही मेरे जीवन का एक मात्र धर्म है। करोड़ों भारतीयों की अज्ञता व हृदय का अन्धकार दूर करना होगा। भारत के कल्याण की कामना से एक ऐसे नवीन संन्यासी सम्प्रदाय की स्थापना करनी होगी जो भारत की सेवा के व्रत में अपनी अपनी मुक्ति की कामना का परित्याग तो करेंगे ही, साथ ही आवश्यकता हो तो आनन्द के साथ नरक में जाने को भी तैयार रहेंगे। जब तक भारत के कोटि कोटि स्त्री-पुरुष अशिक्षित तथा भूखे रहेंगे तब तक उन्हें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



वंचित करके जो लोग उनके कल्याण के संवन्ध में नितान्त उदासीन् हैं, उनमें प्रत्येक व्यक्ति को मैं देशद्रोही समझता हूं। मत भूलो कि मूर्ख, दरिद्र, अज्ञ, चमार, मेहतर तुम्हारे भाई हैं। गर्व के साथ बोलो—मैं भारवासी हूँ और भारत वासी मेरे भाई है।" ये विचार कितने उच्च हैं !

## अस्पृश्यता

स्वामी जी की दृष्टि सब के प्रति समान थी। उनके लिए उच्च, नीच, घनी, गरीव आदि सब समान थे। उन्होंने समदृष्टि को प्राप्त करके सवके प्रति समान व्यवहार किया। उनके लिए सव स्पृश्य थे, अस्पृश्य कोई नहीं था। उन्होंने इस बात का अनुभव किया था कि हमारी इस 'छुआछूत' की भावना के कारण ही भारत का अध: पतन हो रहा है तथा अनेक हिन्दू विधर्मी वनते जा रहे हैं। जिन्हें हम अस्पृश्य कहते हैं उन्हें जव तक हम प्रेम से गले नहीं लगावेंगे और उनको अपना भाई नहीं मानेंगे तव तक भारत की उन्नति असंभव है। यही कारण है कि स्वामी जी छुआछूत के विरोधी थे। वे सभी के हाथ से खाद्य द्रव्य ग्रहण कर लेते थे। उन्होंने कहा था कि शायद आज हमारा धर्म रसोईघर में आवद्ध हो गया हैं। हम छुआछूत-पन्थी हैं। भात की हण्डी हमारा उपास्य देवता है और मंत्र है 'मुझे छुओ मत, मैं पवित्र हूं।'

**शिक्षा**—शिक्षा के क्षेत्र में भी स्वामी जी के विचार क्रान्तिकारी थे। जो अस्पृश्य हैं, गरीव हैं, उपेक्षित हैं उनकी शिक्षा पर उन्होंने विशेष जोर दिया। जो लोग पाठशाला में पढ़ने को नहीं जा सकते उन्हें उनके घरपर ही शिक्षा मिलनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-गठन और मानव की शक्तियों का विकास होना चाहिए। उन्होंने वतलाया था कि कुछ पुस्तकों के ज्ञान का नाम शिक्षा नहीं है, विविध विषयों के ज्ञान का नाम भी शिक्षा नहीं है। किन्तु मनुष्य के व्यक्तिगत संकल्पों को अच्छे और व्यवहारिक रूप से गठित कर लेने की पद्धति ही यथार्थ शिक्षा है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य के अन्दर जो पूर्णता विद्यमान है उनका विकास होना चाहिए। शिक्षा-पद्धति का लक्ष्य होना चाहिए मनुष्य तैयार करना। जिस शिक्षा से जीवन में अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति मिलती हैं वही यथार्थ शिक्षा है। कुछ बातों या पुस्तकों को रटकर परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने मात्र से कोई शिक्षित नहीं कहलाता। कई परीक्षायें पास करने या अच्छा भाषण दे सकने से भी कोई शिक्षित नहीं कहलाता। शिक्षा के लिए जनता-जनार्दन के पास पहुंचने की स्वामी जी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



की योजना थी। उन्होंने कहा—"मेरी योजना है भारत की इस जनता जनार्दन के पास पहुँचने की। मैं कहता हूँ कि शिक्षा स्वयं दरवाजे पर क्यों न जावे। अगर किसान का लड़का पाठशाला तक नहीं पहुंच पाता तो उसके हल के पास ही, उसके कारखाने में ही, जहां भी वह हो वहां क्यों न भेंट की जावे? ये जो हजारों लाखों की संख्या में संन्यासी हैं, और जनता को आध्यात्मिक भूमिका पर शिक्षा प्रदान कर रहे हैं क्यों न शिक्षा प्रदान करें बौद्धिक भूमिका पर भी? हमारे कान ही तो हमारे प्रभावशाली शिक्षक हैं। हमारे जीवन के सर्वोत्तम सिद्धान्त वे ही तो हैं जिन्हें हमारे कानों ने अपनी माताओं से सुना था।

विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य के महत्व को बतलाते हुए उन्होंने कहा था कि एकमात्र ब्रह्मचर्य का पालन ठीक-ठीक कर सकने पर सभी विद्याएँ एक मुहूर्त में सीख ली जा सकती हैं, मनुष्य श्रुतिधर और स्मृतिधर बन सकता है। इस ब्रह्मचर्य के अभाव से ही हमारा देश विनष्ट हो गया है। शरीर व मन की उच्चतम शक्तियों के विकास के लिए ब्रह्मचर्य जाज्वल्यमान अग्नि की तरह नस-नस में प्रवाहित होना चाहिए। निर्जन वास, संयम तथा चित्त की गंभीर एकाग्रता इन तीनों के सम्मेलन से गठित छात्र जीवन ही ब्रह्मचर्य का आदर्श है। पवित्रता, यथार्थज्ञान की इच्छा और अध्यवसाय ये तीन बातें विद्यार्थियों के लिए नितान्त आवश्यक हैं। अध्यवसायी विद्यार्थी की सफलता निश्चित है। दुविधा-विहीन होकर गुरू की आज्ञा का पालन तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा यही विद्यार्थियों की सफलता का एकमात्र उपाय है।

स्वामी जी स्त्री-शिक्षा के भी बड़े हामी थे। उनका विचार था कि यदि नारी-समाज का अभ्युदय न हुआ, यदि महिलायें शिक्षित न हुईं तो भारत के कल्याण की संभावना नहीं है। क्योंकि एक डैने से पक्षी का उड़ना संभव नहीं। उन्होंने नारी की स्वतंत्रता और समानाधिकार के सिद्धान्त को माना था। उनके विचार से नारी और पुरुष प्रत्येक स्वतंत्र है। नारी पर पुरुष क्यों शासन करे? भारतीय नारी के गुणों से स्वामी जी बहुत ही प्रभावित हुए थे। इसीलिए उन्होंने कहा था कि इस पुण्यक्षेत्र भारत में स्त्रियों के जैसा चरित्र, सेवाभाव, दया, तुष्टि और भक्ति दिखलायी पड़ती है पृथिवी में और कहीं भी वैसा नही देखा। भारतीय महिलाओं की नारी-सुलभ स्निग्ध लज्जा और संयम देख कर नेत्र शीतल हो जाते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



## उपसंहार

इस प्रकार स्वामी जी के कार्यों एवं विचारधारा के अवलोकन से ज्ञात होता है कि स्वामी जी कितने महान् थे। अपने ३९ वर्ष के जीवन में उन्होंने जितना कार्य किया है दूसरा कोई सौ वर्ष के जीवन में भी उतना कार्य नहीं कर पाता। उत्पीड़ित व अपमानित होकर भी उनकी जिह्वा ने आशीर्वाद को छोड़ कभी अभिशाप का उच्चारण नहीं किया। निर्मल हृदय, तपस्यापूर्ण जीवन, उदार बुद्धि, उन्मुक्त चित्त, असंकीर्ण दृष्टि और सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति सहानुभूति उनके चरित्र की विशेषताएँ थीं। स्वामी जी की वाणी के भीतर हम अपने राष्ट्रीय, सामाजिक, और व्यक्तिगत जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान पा सकते हैं। वे वर्तमान और भविष्य के पथ-प्रदर्शक दूरदर्शी महान् ऋषि थे।

## विवेकानन्द-सूक्तियाँ

(१) उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत—उठो, जागो, आचार्यों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो।

(२) यदि संसार को कोई धर्म सीखना हो तो वह है "अभय"। इस मूल मंत्र का अवलम्बन करना होगा। क्योंकि भय ही पाप है और अधःपतन का निश्चित कारण है।

(३) जीव-सेवा से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है। जीव पर जो व्यक्ति दया करता है वही यथार्थ में ईश्वर की सेवा करता है।

(४) परोपकार ही एक सार्वजनिक महाव्रत है। जगत् का कल्याण करना, चाण्डाल तक का कल्याण करना यही हमारा व्रत है; चाहे उससे मुक्ति मिले या नरक।

(५) जिसने दूसरों के लिए सब कुछ दे दिया वही मुक्त है; और जो लोग मेरी मुक्ति, मेरी मुक्ति कह कर दिन-रात सर खपाते हैं वे तो "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" हैं।

(६) जिसका हृदय दरिद्रों की वेदना से विगलित हो जाता है मैं उसी को महात्मा समझता हूँ, अन्यथा वह तो दुरात्मा है।

(७) एक व्यक्ति की मुक्ति के लिए मैं हजार बार नरक जाने के लिए प्रस्तुत हूँ।



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



(८) उपनिषदों में तुमने पढ़ा है—"मातृदेवो भव," "पितृ देवो भव"। मैं कहता हुँ—"दरिद्र देवो भव," "मूर्ख देवो भव"।

(९)पुराने धर्मों का मत था कि ईश्वर में श्रद्धा नहीं रखने वाला नास्तिक है। नवीन धर्म कहता है कि अपने में श्रद्धा न रखने वाला ही नास्तिक है।

(१०) प्रत्येक आत्मा एक सूर्य है जिस पर अज्ञान के मेघ छाये हुए हैं। विभिन्न आत्माओं में जो भेद है वह है इन मेघों की सघनता के तारतम्य का।

(११) नर को नारायणत्व का सन्देश दो और उसे बताओ कि जीवन की प्रत्येक गतिविधि में उसे वह कैसे व्यक्त करे।

(१२) श्रद्धावान् हो, वीर्यवान् हो, आत्मज्ञान लाभ करो और परहित में जीवन लगा दो—यही मेरी इच्छा और आशीर्वाद है।

(१३) पहले रोटी बाद में धर्म।

(१४) मेरे देश का एक कुत्ता भी जब तक भूखा है, तब तक उसको भोजन दिलाना ही मेरा परम धर्म है।

(१५) मुझे दलित से सहानुभूति है, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। पर-दलन करने वाले से मुझे और भी अधिक सहानुभूति है।

(१६) भारत की अवनति का अन्यतम कारण है हमारी संकीर्ण दृष्टि, और कर्मक्षेत्र का संकुचित होना।

(१७) मेरा दृढ़ विश्वास है कि कोई भी व्यक्ति या जाति दूसरों से सम्बन्ध तोड़कर जीवित नहीं रह सकती।

(१८) जिस दिन म्लेच्छ शब्द का आविष्कार हुआ और विभिन्न जातियों के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न हुआ, उसी दिन से भारत का दुर्भाग्य आरम्भ हुआ है।

(१९) भारत का अधःपतन उस समय हुआ जब ब्राह्मण पण्डितों ने ब्राह्मणेतर जातियों को वेद-पाठ का अनधिकारी घोषित किया, और साथ ही स्त्रियों के भी सभी अधिकार छीन लिये।

(२०) संसार के धर्म एक निर्जीव प्रहसनमात्र रह गये हैं। आज संसार को जिसकी जरूरत है वह है—चरित्र।

(२१) परमात्मा को खोजना हो तो मनुष्य की सेवा करो। बनो और बनाओ, यही हमारा उद्देश्य है।

---

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# महामना मदन मोहन मालवीय

## (१८६१–१९४६ ई०)

महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी का जन्म २५ दिसम्बर, १८६१ को तीर्थराज प्रयाग में एक निर्धन परन्तु धार्मिक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। ये गौड़ ब्राह्मण थे तथा इनके पूर्वजों का सम्बन्ध मालवा देश से था, जिसके कारण ये मालवीय कहे जाते हैं। इनके पिता का नाम पंडित ब्रजनाथ चतुर्वेदी तथा माता का श्रीमती मूना देवी था। मालवीय जी के पिता एक धर्मानुरागी, कर्मनिष्ठ तथा संस्कृत के उत्तम विद्वान् थे। अपनी विद्वत्ता तथा धर्मनिष्ठा के कारण वे समाज में समादृत थे। इनकी माता भी अपनी दयालुता और आचारनिष्ठा के कारण अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के हृदय में सम्मान का स्थान पाती थीं।

आज से १०० वर्ष पूर्व पराधीन भारत में एक निर्धन परिवार में जन्म लेकर अपने जीवन में मालवीय जी ने जो विलक्षण कार्य किए, उसे देखकर सभी विचारशील व्यक्ति आश्चर्यचकित हो जाते हैं। अपने देश, धर्म तथा जाति को उन्नत बनाने के लिए एक सच्चे कर्मयोगी की तरह स्वार्थभावना से सर्वथा अलग रहकर जीवन भर मालवीय जी ने अथक प्रयत्न किया। भगवान ने इस अपूर्व कार्य को सम्पन्न करने के लिए महामना को यद्यपि सम्पत्ति तो नहीं दी थी, परन्तु स्वस्थ शरीर, विद्वत्ता, दृढ़ चारित्रिक बल तथा अद्‌भुत वाक्‌शक्ति दी थी। महामना का गौरवर्ण का सुडौल, लम्बा, सुन्दर तथा आकर्षक शरीर एवं व्यक्तित्व था। उनका वर्ण तप्त-कांचन की भांति निखरा हुआ दिखाई देता था। उनका जैसा भव्य शरीर था वैसे ही वे स्वच्छ वस्त्र भी पहनते थे। उनका समस्त परिधान चमकीले श्वेत रंग का होता था। उसमें क़हीं शिकन नहीं देख पड़ती थी। वे कभी कोई रंगीन कपड़ा नहीं पहनते थे। श्वेत खद्दर की अचकन, चुस्त पाजामा, गले में दुपट्टा, माथे पर अढ़ाई-तीन गज कपड़े की संवार कर बांधी हुई पगड़ी और पैरों में सफेद टाट का जूता—यह था उनका विशुद्ध भारतीय वेश। इत्र इत्यादि कृत्रिम सुगन्धित वस्तुएं वे कभी व्यवहार में नहीं लाते थे। उनकी वाणी में अपूर्व माधुर्य और प्रसाद था। हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। साधारण जनता से लेकर देश तथा विदेश के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



विद्वानों तक वे श्रोताओं को हिन्दी और अंग्रेजी में भाषण करके मंत्रमुग्ध कर देते थे। देश भर की सार्वजनिक सभाओं में, धारासभाओं में, हाईकोर्ट में, कांग्रेस के मंच से, विश्वविद्यालयों तथा धार्मिक समारोहों में लोग उनका भाषण सुनने को लालायित रहते थे। मालवीय जी घंटों तक बिना थकावट के धारा-प्रवाह रूप में बोल सकते थे। उनके भाषण की सबसे बड़ी यह विशेषता थी कि किसी स्थान पर उसमें कटुता नहीं आती थी तथा उनके विरोधी भी उनके भाषण को प्रसन्नता पूर्वक सुनते थे। श्रीमती एनीबीसेन्ट की मृत्यु के बाद भारत के विश्वख्याति के व्याख्यानदाताओं में मालवीय जी प्रधान समझे जाते थे।

मालवीय जी को उनके जीवन के विविध कार्यक्षेत्रों में हम मुख्यतः चार रूपों में देख सकते हैं—अध्यापक, पत्रकार, वकील तथा राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा के क्षेत्रों में अग्रगण्य नेता। निर्धन परिवार के होने के कारण इनका विद्यार्थी जीवन बड़े कष्ट का रहा। परन्तु मनस्वी होने के कारण वे कभी हताश व हतोत्साह नहीं हुए। पढ़ने-लिखने में यह एक प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी थे और जिस संस्था में इन्होंने शिक्षा ग्रहण की उसके प्रसिद्ध छात्रों में गिने गये। प्रारम्भ में इनकी पढ़ाई एक संस्कृत पाठशाला में हुई, जिससे संस्कृत विद्या तथा हिंदू सदाचारों का इनके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा, जो उत्तरोत्तर वह बढ़ता ही गया। सन् १८६८ में प्रयाग में सर्वप्रथम एक गवर्नमेन्ट हाई स्कूल की स्थापना हुई। इसी स्कूल में पढ़कर मालवीय जी ने १८७९ में कलकत्ते की इन्ट्रेंस परीक्षा पास की तथा सन् १८८४ में म्योर सेन्ट्रल कालेज से इन्होंने बी० ए० पास किया। कालेज में मालवीय जी अपनी सत्यशीलता, आचार-निष्ठा, धैर्य एवं सहिष्णुता के लिए विशेष रूप से विख्यात थे। प्रारम्भ से ही परोपकार के कार्यों में इनकी स्वाभाविक रुचि थी। विद्यार्थी-जीवन में ही इनके हृदय में स्वदेशानुराग तथा समाजसेवा का अंकुर उत्पन्न हो चुका था, जिसके पोषण करने में इनके गुरु महामहोपाध्याय पं० आदित्य राम भट्टाचार्य ने बड़ा ही योग दिया। बी० ए० पास होने के बाद इन्होंने एम्०ए० कक्षा में नाम लिखवा लिया, परन्तु आर्थिक स्थिति के प्रतिकूल होने के कारण पढ़ाई छोड़कर ५०) मासिक पर एक स्कूल में अध्यापकी करना शुरू कर दिया।

सन् १८८५ में श्री ह्यूम नाम के एक अंग्रेज सज्जन ने कांग्रेस की स्थापना की, जो आज एक महती राष्ट्रीय संस्था के रूप में है। प्रारम्भ में कांग्रेस का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



ध्येय अंग्रेजों के अनुकूल रहकर उनकी सहायता और समर्थन से भारतीय जनता का यथासंभव हित करना थां। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में लड़नेवाली कांग्रेस से ह्यूय की कांग्रेस सर्वथा भिन्न थी। भारत के तत्कालीन देशानुरागी श्री उमेशचन्द्र बनर्जी, श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, श्री दादा भाई नौरोजी इत्यादि नेताओं ने कांग्रेस के कार्य में सहायता दी तथा उसे प्रभावशाली बनाया। १८७६ में कलकत्ते में एक कांग्रेस अधिवेशन हुआ, जिसके अध्यक्ष पद पर थे श्री दादा भाई नौरोजी। इसमें भाग लेने के लिए मालवीय जी भी गये और वहां पर "व्यवस्थापक सभाओं में सुधार" इस विषय पर भाषण दिया। उनका भाषण सर्वश्रेष्ठ समझा गया। एक पच्चीस वर्ष के नवयुवक का इस प्रकार का ओजस्वी एवं विद्वत्तापूर्ण भाषण सुनकर सब लोगों का ध्यान मालवीय जी की ओर खिच गया और भविष्य में इनसे देश का महान् कार्य होगा, ऐसी आशा लोगों के हृदय में उत्पन्न हुई। कलकत्ता में मालवीय जी का परिचय काला-कांकर (प्रतापगढ़) के देश प्रेमी राजा रामपाल सिंह से हुआ। राजा साहब मालवीय जी की विद्वत्ता तथा व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने मालवीय जी को सर्वप्रथम दैनिक "हिन्दुस्तान" का संपादन करने के लिए आग्रह किया, जिसे मालवीव जी ने स्वीकार कर लिया।

हिन्दी के इस दैनिक पत्र का संपादन करते हुए मालवीय जी ने आज से ६०—६५ वर्ष पूर्व, देश में हिन्दी का गौरवपूर्ण स्थान होना चाहिए, इसकी जागृति जनता में उत्पन्न की थी। मालवीय जी जैसे स्वतन्त्र और स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए नौकरी करना अधिक दिन तक संभव न हो सका। अन्त में उन्होंने उसे छोड़ दिया। "हिन्दुस्तान" पत्र के अतिरिक्त मालवीय जी ने हिन्दी में "अभ्युदय" पत्र तथा "मर्यादा" पत्रिका भी निकाली। अंग्रेजी में "लीडर" पत्र के प्रकाशन में भी इन्होंने सहायता दी। मालवीय जी के लेख विद्वत्तापूर्ण एवं प्रभावशाली होते थे। इन पत्र-पत्रिकाओं में लेखों के द्वारा मालवीय जी ने जनता में नवजागृति का प्रसार किया। ये हिन्दी में खड़ी बोली के निर्माता माने जाते हैं। वे व्रजभाषा के उदीयमान कवि थे, परन्तु परवर्ती जीवन में अन्य कार्यों में अधिक व्यस्त रहने के कारण कविता करने का इन्हें अवसर ही नहीं मिला। मालवीय जी के ही प्रयत्न से कचहरियों में सर्वप्रथम सरकारी कामों के लिए हिन्दी भाषा का व्यवहार करने का कानून बना। इसके पहले केवल ऐसे कामों में उर्दू का उपयोग होता था।

नौकरी छोड़ने के बाद गुरुजनों के परामर्श से मालवीय जी ने वकालत पढ़ना शुरू किया तथा उसकी परीक्षा पास कर १८९३ में प्रयाग उच्च

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



न्यायालय में वकालत प्रारम्भ की। मालवीय जी थोड़े दिनों में एक प्रख्यात वकील गिने जाने लगे। न्यायलय में बहस करने में अपनी वाक्पटुता, कानूनों की जानकारी, सत्यप्रियता एवं निर्भीकता के कारण अपने समय के वकीलों में इनका मूर्धन्य स्थान हो गया था। सभी जगह इनके एक सफल वकील होने की प्रशंसा होने लगी थी। मालवीय जी के लिए यह ख्याति हो गई कि वे झूठे मुकदमे के लिए वह बहस नहीं करते और उनकी वाणी का उपयोग केवल सत्य और न्याय की विजय कराने के लिए होता है। थोड़े ही दिनों में इनकी हजारों रुपये मासिक की आय हो गई। परन्तु वकालत में धन और ख्याति की प्राप्ति होने पर भी यह काम इनको अधिक रुचिकर नहीं था, क्योंकि साधारण मनुष्यों की तरह इनका जीवन अर्थोपार्जन और आराम से जिंदगी विताने के लिए नहीं था। मालवीय जी उन महापुरुषों में थे, जिनका जीवन स्वार्थ को तिलांजलि देकर परमार्थ-साधन के लिए हुआ करता है। मालवीय जी का परमप्रिय लक्ष्य था—देश, समाज और धर्म की निःस्वार्थ सेवा करना। उस लक्ष्य की पूर्ति वकालत से न होती देखकर उन्होंने इस व्यवसाय को, जिससे उनको अतुल संपत्ति मिल सकती थी, छोड़ दिया और पूर्णरूप से देश, समाज और धर्म के सेवाकार्य में लग गये।

उन दिनों प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दू छात्रों के आवास की कोई अच्छी व्यवस्था नहीं थी। जहाँ हिन्दू छात्र रहते थे उनमें हिन्दू आचार-विचारों का निरादर होता था। इस कमी को दूर करने के लिए मालवीय जी ने चन्दे से धन एकत्र करके हिन्दू छात्रों के लिए प्रयाग में मैग्डानल हिन्दू छात्रावास बनवाया। प्रयाग का मिन्टो पार्क भी मालवीय जी के प्रयत्न से बना है।

अंग्रेजों के शासन-काल में मालवीय जी कई बार कौन्सिल के सदस्य चुने गये तथा उन्होंने वर्षों तक वहां रहकर देश की सेवा की। देश को अंग्रेजों की पराधीनता से छुड़ाकर स्वतंत्र बनाने का मालवीय जी ने हर सम्भव प्रयत्न किया। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में उनकी ख्याति देश के कोने-कोने में फैल चुकी थी। १९०९ में वे पहली बार लाहौर कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। इसके बाद पुनः दिल्ली और कलकत्ता के कांग्रेस के अधिवेशनों के सभापति बनाए गये। कांग्रेस के कार्य को सफल बनाने में मालवीय जी ने जीवन भर पूर्ण सहयोग दिया और जेल-यात्रा भी की।

१९३१ में महात्मा गांधी तथा श्रीमती सरोजिनी नाइडू के साथ गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए महामना विलायत गये। मालवीय जी ने ब्रिटिश

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



पार्लियामेन्ट में भारत की स्वाधीनता के लिए जोरदार भाषण दिया। उस भाषण को सुन कर उस सम्मेलन के सभापति ने कहा—

"How beautifully Pandit Malviya speaks in our tongue ? What a mastery he has over the English language ?" मालवीय जी को लोग Silvertongued orator कहा करते थे।

भारतीय स्वतंत्रता, धर्म और संस्कृति के मालवीय जी सच्चे पुजारी थे। विदेशी शासन से भारत की राजनैतिक पराधीनता के साथ-साथ जनता में, विशेषकर नवयुवकों में, भारतीय धर्म, संस्कृति तथा आचार-विचार के प्रति उपेक्षा बढ़ रही थी और पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार बढ़ रहा था। यह मालवीय जी के लिए असह्य था। अतः उन्होंने भारत की सांस्कृतिक राजधानी काशी में प्राच्य धर्म को दृढ़ करने और फलने-फूलने के लिए (प्राञ्चं धर्मं परिफलयितुम्) तथा भारत के स्वतँत्रता-संग्राम के लिए देशभक्त शिक्षित सैनिक तैयार करने के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। हिन्दू विश्वविद्यालय देशोत्थान के लिए किसी व्यक्ति विशेष के निर्माण-कार्य का सबसे बड़ा उदाहरण है। वह उनकी महानता का जीता-जागता स्मारक है। इसका विचार तो उनके मन में बहुत पहले आचुका था और अपने मित्रों एवं सहयोगियों से इस प्रकार के विश्वविद्यालय की स्थापना की बात किया करते थे। एक निर्धन ब्राह्मण के लिए विदेशी राज्य में देशप्रेम और धार्मिकता को जागृत करने वाली ऐसी विशाल संख्या का निर्माण करना उस समय एक पागलपन-सा प्रतीत होता था, परन्तु मालवीय जी सत्यसंकल्प एवं भगवद् भक्त थे। अपने भक्त की इच्छा भगवान् ने पूर्ण की और १९१६ में वसन्त पंचमी के दिन काशी में गंगा के तट पर तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिंग ने हिन्दू विश्वविद्यालय का, देश के राजा, महाराजा और गणमान्य व्यक्तियों के समक्ष, शिलान्यास किया। मालवीय जी ने अदम्य उत्साह से राजा, महाराजा, व्यापारीवर्ग तथा साधारण जनता से १ करोड़ रुपये की भिक्षा मांगी और विश्वविद्यालय का कार्य सुचारु रूप से चलाया। मालवीय जी को लोग "भिक्षुओं का सिरताज" (प्रिन्स ऑफ् बेगर्स) कहा करते थे। उनमें मांगने की अद्वितीय कला थी और वे कंजूस से कंजूस व्यापारियों से भी चन्दा ले लेते थे। विश्वविद्यालय के लिए दान करने वालों में से सर्वप्रथम नाम तत्कालीन महाराज काशीनरेश का है, जिन्होंने उस विस्तृत भूमि का दान किया, जिसपर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आज यह सुविशाल विश्वविद्यालय स्थित है। संभवतः संसार में किसी भी देश के विश्वविद्यालय के पास एक स्थान पर इतना विशाल भूखण्ड नहीं है जितने में कि हिन्दू विश्वविद्यालय फैला है। इस प्रसंग में बिरला परिवार का भी नाम उल्लेखनीय है, जिसने लाखों रुपयों का उदार दान देकर मालवीय जी की योजनाओं को सफल बनाने में सहायता दी।

आज जब हम स्वतंत्र हैं और सरकार अपनी है तथा जब उससे विश्वविद्यालय के लिए अपेक्षित धन सरलता से प्राप्त हो जाता है, तब इसके रक्षण और विकास का कार्य कोई कठिन नहीं जान पड़ता। परन्तु आज से ५० वर्ष पूर्व जब सरकार विदेशी थी और उससे इस प्रकार की देश की उन्नति करने वाली संस्था में सहायता के स्थान पर बाधा ही पड़ती थी उस समय मालवीय जी ने किस प्रकार चन्दा मांगकर इतना बड़ा विश्वविद्यालय बनाया, किन-किन कठिनाइयों का सामना किया, इसका अनुमान करना सरल नहीं है। यदि हम मालवीय जी के अन्य कार्यों को छोड़ दें और इस विश्विद्यालय के निर्माण-कार्य को ही लें तो उनका यही एक कार्य भारतीय इतिहास के पृष्ठों में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित कराने वाला है।

इस विश्वविद्यालय की स्थापना करने का मालवीय का प्रमुख ध्येय भारत में इस प्रकार के स्वतंत्रता प्रेमी व्यक्तियों को तैयार करना था, जिनमें भारतीय धर्म और संस्कृति के ज्ञान के साथ-साथ विदेशी ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल का भी अपूर्व संमिश्रण हो, जिनमें प्राची और प्रतीची का सुन्दर मेल हो, जहां से आधुनिक विचारधारा से परिचित भारत की प्राचीनता की रक्षा करने वाले नागरिक निकल सकें, जिनके जीवन में आत्म रक्षा से पहले सत्य रक्षा की भावना हो, अन्याय का प्रतिकार करने वाले हों, जो देश को स्वाधीन बनाने में समर्थ हों, जो अहिंसकों की रक्षा करें तथा आततायियों का दमन करें। मालवीय जी जब तक जीवित रहे और शरीर से शक्तिशाली रहे, इस विश्वविद्यालय के कुलपति के पद पर थे। वृद्धावस्था के कारण कुलपति-पद का त्याग करके भी विश्वविद्यालय के द्वारा उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति में लगे रहे। विश्वविद्यालय में भाषण करते हुए मालवीय जी कहा करते थे कि यहां के छात्रों में ऐसे गुणों की छाप लगी रहे कि वे जहाँ भी जांय, जन-साधारण से पृथक किए जा सकें। यह उनकी शुभ कामना थी कि यहां के विद्यार्थी सत्य, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, विद्या, देशभक्ति, आत्मत्याग आदि गुणों के कारण विश्व में सदा सम्मान प्राप्त करें—"सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया। देशभक्त्यात्म-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



त्यागेन सम्मानार्हः सदा भव।" इन उद्देश्यों की कहां तक पूर्ति हुई है इसे तो अपने देशवासी ही बता सकते हैं। यहां से निकले विविध विषयों के स्नातक देश के कोने-कोने में फैले हुए है और उत्तरदायित्व के पदों पर रहकर योग्यता-पूर्वक कार्य कर रहे हैं। यहां के इंजीनियर तो देश में सबसे अधिक ख्यात हैं और उनकी वड़ी मांग है। भारत के स्वातंत्र्य संग्राम में यहां से निकले कितने विद्यार्थी सैनिक और नेता के रूप में कार्य कर चुके हैं। विदेशी सरकार इस विश्वविद्यालय से सदा आतंकित रहती थी औ यहां के स्नातकों पर उसकी वक्र दृष्टि रहती थी। जहां तक हो सकता था यहां के पढ़े विद्यार्थियों को सरकारी नौकरी नही दी जाती थी। १९४२ के स्वतंत्रता-आन्दोलन में अंग्रेजों का ख्याल था कि यहां बम वनानें का कारखाना है। उस समय अंग्रेज सैनिकों ने यहां छापा मारकर विश्वविद्यालय को अपने अधिकार में कर लिया था।

मालवीय जी के कार्य वहुमुखी थे। उनमें देश-प्रेम, धर्मनिष्ठा और जातीयता की पावन त्रिवेणी का प्रवाह था। जो इन गुणों को परस्पर-विरोधी समझते हैं, उन्हें मालवीय जी के जीवन को देखकर इनके सुन्दर सामंजस्य की शिक्षा मिल सकती है। उनके जीवन-काल में देश, धर्म और जाति की उन्नत वनाने वाली जो संख्यायें तथा कार्य थे उनके मालवीय जी मुख्य कार्य-कर्त्ता थे। वे ऐसी वहुत सी संख्याओं के संस्थापक भी थे। कांग्रेस के वह प्रधान स्तंभ थे। यद्यपि महात्मा गांधी जी से कई वातों में मालवीय जी का मतैक्य नहीं था, फिर भी गांधी जी उनका अपने वड़े भाई की तरह सम्मान करते थे। पं० जवाहर लाल जी से मालवीय जी का उसी प्रकार का स्नेह था जैसा पिता-पुत्र में होता है। पं० जवाहर लाल जी भी मालवीय जी का अपने पिता की भांति सम्मान करते थे। जव मालवीय जी वृद्धावस्था के कारण अपनी चारपाई पर पड़े रहते थे और पं० जवाहर लाल उनसे मिलने आते थे तो उनके पैरों के पास नीचे फर्श पर बैठ जाते थे। उस समय इन भारत की विभूतियों का सम्मिलन देखते ही बनता था। मालवीय जी सनातन धर्म सभा, हिन्दू महासभा, भारतीय गोरक्षा मण्डल, महावीर दल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इत्यादि कई संस्थाओं के जन्मदाता तथा संवर्धक थे। परंतु बाद में जब हिन्दू महासभा में जातीयता की मुख्यता हो गई और देश प्रेम गौण हो गया, तथा हिन्दू सभाई कांग्रेस की अनावश्यक कटु आलोचना करने लगे तो मालवीय जी नें उससे अपना संबन्ध-विच्छेद कर लिया। उनका स्काउटिंग से सक्रिय संबन्ध था, परन्तु उनको इन सबसे अधिक प्रिय था—हिन्दू विश्वविद्यालय।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



हिन्दू विश्वविद्यालय मानों उनका प्राण था। उनकी यह दृढ़ भावना थी कि इस विश्वविद्यालय में ऐसे भारतीय तैयार होंगे जो इस नये युग में जनता के पथ प्रदर्शक होंगे और देश को स्वतंत्र एवं सुदृढ़ बनायेंगे। परन्तु किसी भी स्वदेशाभिमानी को प्राणों से भी प्रिय होती है—देश की स्वतंत्रता, और ठीक अवसर आने पर वह स्वतंत्रता के लिए अपना बलिदान कर देता है। उसी प्रकार से समय आने पर मालवीय जी एक क्या अनेक हिन्दू विश्वविद्यालयों को तिलांजलि दे सकते थे। मालवीय जी विद्यार्थियों द्वारा असहयोग करने के, गांधी जी के, सिद्धान्त से सहमत नहीं थे। इससे यह समझना गलत है कि उनको स्वतंत्रता से अधिक हिन्दू विश्वविद्यालय प्रिय था। वह तो स्वतंत्रता-संग्राम के एक चतुर सेनानी थे, जिसको समय का ठीक ज्ञान था। यही करण था कि उनके मत से शिक्षा-क्षेत्र में असहयोग आन्दोलन उस समय उचित न था। इससे उनके देश-प्रेम और त्याग में कोई अन्तर नहीं आता था।

मालवीय जी में भारतीय धर्म-परम्परा और सदाचार का अगाध प्रेम था। इसका कारण था उनका एक परम भागवत ब्राह्मण परिवार में जन्म तथा संस्कृत पाठशाला में प्रारम्भिक शिक्षा और संस्कृत भाषा का सुन्दर ज्ञान। आधुनिक युग के जितने भी नेतागण हैं, उनमें श्री लोकमान्य तिलक को छोड़कर मालवीय जी की तरह संभवत: किसी दूसरे को संस्कृत का इतना सुन्दर ज्ञान न था। उपनिषद्, मनुस्मृति, भागवत, महाभारत और गीता इन धर्म-ग्रन्थों का वह नियमित रूप से स्वाध्याय करते थे। भागवत इनकी परम प्रिय पुस्तक थी और उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय ईश्वर-भक्ति, ज्ञान और विरक्ति का (भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः) उनके हृदय में पूर्ण रूप से स्थान था। उसके सैकड़ों श्लोक और प्रार्थनायें मालवीय जी को कंठ थीं। भागवत का पाठ करते समय वह इतना भाव-विभोर हो जाते थे कि उनकी आंखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती थीं। मालवीय जी के पिता एक अच्छे कथावाचक थे। कथा कहने का गुण उन्होंने अपने पिता से प्राप्त किया था। मालवीय जी, जिनका अंग्रेजी भाषण सुनकर अंग्रेज लोग आश्चर्यचकित हो जाते थे, एक अत्यंत निपुण कथावाचक भी थे। वह कथा कहते थे और अपनी कथा में संस्कृत में लिखे हुए आर्षग्रन्थों के उपाख्यानों को कहते थे, जिनको सुनकर बड़े से बड़े संस्कृत और हिन्दी के विद्वान् मंत्रमुग्ध हो जाते थे। विश्वविद्यालय में अध्यापकों एवं विद्यार्थियों की मंडली में उनकी अमृतवर्षिणी कथा प्रसिद्ध थी। प्रत्येक एकादशी को आर्ट्स कालेज के हाल में वह स्वयं कथा कहते थे। सम्पूर्ण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



हाल अध्यापकों एवं विद्यार्थियों से भरा रहता था और अपनी कथा के प्रसंग में उत्तमोत्तम धार्मिक एवं चारित्रिक शिक्षा विद्यार्थियों को देते थे। यह इनका अत्यंत प्रिय कार्य था। ऐसे अवसरों पर नीचे लिखे पद्य तथा इसी प्रकार के अन्य पद्यों का उद्धरण बहुधा दिया करते थे :—

(१) अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्।

(२) धर्मे ते धीयतां बुद्धिः मनश्च महदस्तुते।

(३) धर्मो रक्षति रक्षितः।

(४) वृत्तस्तु हतोहतः।

(५) यः अर्थेषु शुचिः स शुचिः न नृद्वारिशुचिः शुचिः।

(६) मामनुस्मर युध्य च।

मालवीय जी में पवित्रता, दयालुता एवं त्याग आदि अलौकिक गुण थे। बाहर, भीतर, मन, वाणी एवं कर्म से वे परम पवित्र थे। वह परम वैष्णव और शाकाहारी थे। उनका भोजन अत्यंत पवित्र होता था। वह चौके में सजातीय का बनाया हुआ भोजन रेशमी वस्त्र पहन कर करते थे। जब वह गोलमेज सम्मेलन के लिए विलायत गये थे तो हरिद्वार से पीपों में भर कर गंगाजल और मिट्टी ले गये थे। यात्रा में इसी का उन्होंने उपयोग किया। भोजन की समुचित पवित्र व्यवस्था न होने पर वह कई दिन उपवास भी कर लेते थे। उनके समय में हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रावासों में मांस बनाने की पूरी मनाही थी। इस नियम का कभी कोई छात्र उल्लंघन करता था तो दण्डित होता था। चरित्र उनका हिमालय के धवल शिखर की तरह ऊंचा और चमकता हुआ था। उसमें कहीं भी कोई धब्बा नहीं था। परिहास में भी कभी किसी ने उनके चरित्र के विषय में कोई प्रतिकूल वात नहीं कही होगी। जब कभी कोई स्त्री या लड़की उनको प्रणाम करती थी तो स्वयं वह उसको देवी का रूप समझकर "नमोदेव्यै महादेव्यै" कहते थे। रुपये-पैसे के बारे में जनता तथा सरकार कभी उनके ऊपर सन्देह नहीं करती थी। करोड़ों रुपया उन्होंने एकत्र किया, परन्तु उसका व्यक्तिगत रूप में किसी प्रकार का उपयोग नहीं कहते थे। मृत्यु के समय उनके पास एक पैसा भी नहीं था और न वे अपने परिवारवालों को ही कोई धन दे गये। इस माने में वह एक आदर्श संन्यासी थे। वह पूर्ण रूप से अपरिग्रह-व्रत का पालन करते थे और शरीर यात्रा मात्र के लिए यदि कोई व्यक्ति श्रद्धा से कुछ दे देता था उसी से उनका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



काम चलता था। हृदय उनका करुणा का समुद्र था। दुःखियों के दुःख दूर करने के लिए वह व्याकुल हो जाते थे। वह कहा करते थे—"कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्"। पूर्वी बंगाल के नोआखाली में जब उन्होंने असहाय हिन्दू बालक और स्त्रियों पर मुसलमानों के अत्याचार का समाचार सुना और अपनी वृद्धावस्था के कारण कुछ करने में असमर्थ थे तो उनका करुण हृदय इस असह्य वेदना को नहीं सह सका। यह घटना उनके अन्तकाल के समीप घटित हुई थी। १२ नवम्बर, १९४६ में उनका देहावसान विश्वविद्यालय के मालवीय-भवन में हो गया।

ऐसे महापुरुष के अपार गुणों में से यदि किसी का हम थोड़ा भी अनुसरण करें तो हमारा जीवन सफल हो सकता है। अगर हमें मालवीय जी के प्रति श्रद्धा और भक्ति है तो उनके बताये हुए मार्ग पर चलना चाहिए तथा उनके हिन्दू विश्वविद्यालय की, जो उनके रचनात्मक कार्य का एक मूर्त्तिमान प्रतिबिम्ब है, जिन आदर्शों के लिए स्थापना हुई थी, उनको पूरा करने में सहायता करनी चाहिए।

———

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# महात्मा गान्धी

## ( १८६९-१९४८ )

विश्व-इतिहास के महापुरुषों में गान्धी जी का बहुत ऊंचा स्थान है। उनके जीवन-काल में ही विचारशील लोग उन्हें ईसामसीह जैसी हस्तियों से तुलित करने लगे थे। निश्चय ही भविष्य के इतिहासकार गान्धी जी की गणना विश्व की महत्तम विभूतियों, भगवान बुद्ध, लाउत्से, ईसा, मुहम्मद आदि के बीच करेंगें। गान्धी जी की महत्ता को हम थोड़े शब्दों में प्रकट करना चाहें तो कहेंगें: उन्होंने सत्य और अहिंसा के ऊंचे आदर्शों को बौद्धिक चिन्तन द्वारा स्वीकार ही नहीं किया, बल्कि उन आदर्शों को कर्म के विशाल रंगमंच पर बरतने का अभूतपूर्व प्रयत्न भी किया। गान्धी जी से पहले अनेक महापुरुषों ने सत्य और अहिंसा की महिमा को समझा था, किन्तु उनमें से किसी ने भी उक्त आदर्शों को सामाजिक-राजनैतिक संघर्षों के क्षेत्र में कार्यान्वित करने का साहस नहीं किया था। इस दृष्टि से गान्धी जी के विचारों तथा व्यवहार में जैसी गहरी एकता थी, वैसी इने-गिने महापुरुषों के जीवन में ही मिलती है।

गान्धी जी एक महान कर्मयोगी थे, जिन्होंने नैतिकता के उच्चतम आदर्शों को अपने जीवन व प्रयत्नों में प्रतिफलित किया। ऐसे महापुरुष के महनीय व्यक्तित्व का निर्माण किन परिस्थितियों में और किस तरह के प्रयत्नों द्वारा, किस कोटि की साधना व तपस्या से, संभव हुआ ?

गान्धी जी का जन्म २ अक्टूबर, १८६९ ई० में पोरबन्दर राज्य के एक वैश्य परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम करमचन्द गान्धी था और पितामह का उत्तमचन्द। उत्तमचन्द पोरबंदर रियासत के मुख्य मंत्री थे। कुछ काल बाद उन्हें अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा। गान्धी ज़ी के पिता श्री करमचन्द कुछ दिनों पोरबन्दर के मुख्य मन्त्री रहे, बाद में वे राजकोट रियासत के मुख्यमन्त्री बन गये। उन दिनों पोरबन्दर की जनसंख्या लगभग ७२ हजार थी और राजकोट की ३६,७७०।

गान्धी जी की माता का नाम पुतली बाई था; वे बड़े साधु स्वभाव की, धर्मप्राण तथा धर्मभीरु महिला थीं। परिवार में गांधी जी का सबसे अधिक प्रेम उन्हीं के प्रति था। वे तरह-तरह के व्रत रखा करती थीं; चातुर्मास व्रत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



का पालन करते हुए, कभी-कभी सूर्य के न दीखने पर, वे भूखी रह जाती थीं। ऐसे अवसर पर बालकों के चिन्ता प्रकट करने पर वे कहतीं, "आज भगवान की यह इच्छा नहीं है कि मैं भोजन करूं"।

पोरबन्दर के एक स्कूल में भरती होने पर बालक गान्धी को गणित में कठिनाई का अनुभव होता। बाद में उन्होंने अपनी "आत्मकथा" में लिखा, "मेरी बुद्धि मामूली रही होगी और मेरी स्मृति घटिया"। साल भर बाद वे राजकोट के एक स्कूल में दाखिल हुए। बालक गान्धी एक मामूली विद्यार्थी था, किन्तु समय का पावन्द। उसे गाड़ी में जाने की अपेक्षा पैदल स्कूल जाना ज्यादा पसंद था। बचपन से ही गान्धी को पैदल चलने का अच्छा अभ्यास हो गया।

राजकोट के हाई स्कूल में एक वार इंस्पेक्टर पधारे। छात्रों से पांच अंग्रेजी के शब्द लिखने को कहा गया। वालक गान्धी ने एक शब्द गलत लिखा, शिक्षक के इशारा करने पर भी उसने किसी दूसरे छात्र से पूछकर सही हिज्जे लिखना उचित नहीं समझा। बाद में शिक्षक ने उसे ऐसी मूर्खता के लिए फटकारा। बालक गान्धी अज्ञाकारी स्वभाव का था, किंतु आज्ञाकारिता का अर्थ शिक्षक की अनुमति से धोखा देना नहीं था। बचपन से ही गांधी को सचाई से प्रेम था, और सत्य पर टिके रहने का साहस।

१३ वर्ष की अवस्था में मोहनदास गान्धी का विवाह कर दिया गया। बाद में गान्धी जी ने वाल-विवाह की प्रथा को बहुत खराब, निर्दय प्रथा कहकर निन्दित किया।

चौदह-पन्द्रह वर्ष के गांधी की अपनी पत्नी में बड़ी आसक्ति थी। जब वे और उनकी पत्नी लगभग १५ वर्ष के थे, उनके पिता बीमार पड़े। गांधी जी पिता की सेवा करते, किन्तु उनका मन पत्नी में लगा रहता। पिता की मृत्यु के समय वे अपनी गर्भवती पत्नी के साथ थे। इसका उन्हें सदा पछतावा रहा। स्कूल में कोई ऐसा अपराध हो जाने पर जिससे शिक्षक की डाँट खानी पड़े, गान्धी को बहुत दु:ख होता।

युवक गान्धी को शुरू से ही अपने देश से प्रेम और देश की आजादी की चिन्ता थी। एक मुसलमान मित्र ने एक बार उन्हें सुझाया: "अंग्रेज मांस खाते हैं, इसीलिए वे वलवान हैं, यदि हम बलवान वनना और भारत को आजाद करना चाहते हैं तो हमें मांस खाना चाहिए"। गान्धी ने इस बात को सच मानकर एक बार मांस खाया, पर तुरंत ही उनका जी खराब हो गया। फिर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



भी उन्होंने कर्तव्य समझकर मांस का भोजन किया। जिस साथी ने मांस खाने का सुझाव दिया था उसका नाम था शेख महताब। एक बार यह सज्जन गान्धी को एक वेश्या के कोठे पर ले गये, पर गांधी अपनी झिझक और संकोची स्वभाव के कारण वच गये।

महापुरुषों में दूसरे मनुष्यों के समान दुर्वलताएँ नहीं होतीं, ऐसा नहीं है; किन्तु महापुरुष दुर्वलताओं पर विजय प्राप्त करते हैं, और क्रमशः उन गुणों का अर्जन करते हैं जो महत्ता की ओर ले जाने वाले हैं।

मोहनदास गांधी के पिता अक्सर अपने मुसलमान तथा पारसी मित्रों के साथ हिन्दू धर्म तथा दूसरे धर्मों के भेद पर चर्चा करते; युवा गांधी को उस चर्चा में रस मिलता। मोहनदास गान्धी की माता एक जैन साधु से अक्सर परामर्श लिया करती थीं, यों भी गुजरात के उस प्रदेश में जैन धर्म का विशेष प्रभाव था। मोहनदास ने अहिंसा का पाठ जैन धर्म से सीखा। सन् १८८५ ई० में श्री करमचन्द की मृत्यु हो गई। उसके वाद परिवार में जैन साधु का प्रभाव बढ़ गया। उन्होंने मोहनदास गान्धी को इंगलैण्ड जाने की सलाह दी। मा और चाचा ने शुरू में वाहर जाने के प्रस्ताव का विरोध किया, किन्तु वाद में वे राजी हो गये। जाने से पहले गान्धी ने प्रतिज्ञा की कि वह अपने को मदिरा, स्त्री और मांस-भक्षण से दूर रखेंगे।

सन् १८८८ ई० में गांधी लन्दन में प्रविष्ट हुए। उस समय के एक फोटो में वे एक अप-टु-डेट नवयुवक दिखाई देते हैं। काफी दिनों तक उन्हें अच्छे वस्त्र पहनने का शौक रहा। वे स्वभाव से शर्मीले थे, पर चाहते थे कि अंग्रेजों की रहन-सहन स्वीकार करके उनके जीवन में घुस सकें। इसके साथ ही गान्धी अपने व्यक्तित्व और उसके विकास पर सतर्क दृष्टि रखते। कुछ अंग्रेज मित्रों ने चाहा कि वे मांस खाने लगें, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। माता से की गई प्रतिज्ञा को झुठलाया नहीं जा सकता था। वाद में उन्हें शाकाहार का मण्डन करने वाली एक पुस्तक—हेनरी साल्ट की "ए प्ली फॉर वेजिटेरिए-निज्म"—पढ़ने को मिली, जिसने उन्हें कट्टर शाकाहारी बना दिया। कुछ दिनों तक भद्र पुरुष (जेन्टिलमैन) वनने की धुन रखने के वाद गान्धी का झुकाव "सादा जीवन" की ओर हुआ। इसका एक कारण था, बड़े भाई के धन के भरोसे ठाट वनाकर रहने की प्रवृत्ति के प्रति विरक्ति। धीरे-धीरे वे बहुत सादा जीवन व्यतीत करने लगे। वे इंगलैण्ड के "शाकाहारी समाज" (वेजि-टेरियन सोसायटी) के सदस्य भी बन गये। भोजन व जीवन की सादगी से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



शरीर को कुछ कष्ट जरूर हुआ, पर मन को संतोष और शक्ति मिली। अव गान्धी सप्ताह में सिर्फ पन्द्रह शिलिंग पर गुजारा करते। इसी समय लंदन के एक मुहल्ले में गान्धी जी ने एक शाकाहारी क्लब वनाया; वे स्वयं उसके मन्त्री बने। उसके उप-सभापति गीता के प्रसिद्ध अनुवादक सर एडविन आर्नाल्ड बने। गीता का यह अनुवाद गान्धी जी ने पढ़ा। वाद में उन्होंने इतनी संस्कृत सीख ली कि वे मूल गीता पढ़ सकें। उन्होंने गीता पर 'अनासक्ति योग' नामक पुस्तक भी लिखी।

गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित किया। क्या गीता में हिंसा की शिक्षा है? गीता का मुख्य उपदेश निष्काम कर्मयोग है। गीता सिखाती है कि हमें फल में आसक्ति न रखते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। क्षत्रिय होने के नाते युद्ध करना, यानी आततायियों को दण्ड देना, अर्जुन का कर्तव्य था। इसलिए श्रीकृष्ण ने उसे युद्ध में प्रवृत्त किया। गीता की यह शिक्षा गान्धी जी के अहिंसावाद के विरुद्ध पड़ती दिखाई देती है। उन्होंने गीता की व्याख्या कुछ भिन्न ढंग से की। हमें वस्तुतः जिनसे युद्ध करना चाहिए वे स्वयं हमारे आसुरी विकार हैं। "यह शरीररूपी क्षेत्र धर्म क्षेत्र है, क्योंकि यह मोक्ष का द्वार हो सकता है। कौरव अर्थात् आसुरी वृत्तियां। पाण्डुपुत्र अर्थात् दैवी वृत्तियां। प्रत्येक शरीर में भली और बुरी वृत्तियों में युद्ध चलता ही रहता है, यह कौन नहीं अनुभव करता? महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता नहीं, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता से रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है।" (अनासक्तियोग) यदि गीता का अभिप्राय युद्ध में प्रवृत्त कराना होता तो दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध-व्यवहार सिखलाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण नहीं वतलाता। "साधारण पारिवारिक झगड़ों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता-जैसी पुस्तक की रचना संभव नहीं है।"

गीता की चरम शिक्षा कर्मयोग है। गान्धी जी इस युग के सबसे बड़े कर्मयोगी थे।

वाद के जीवन में गान्धी जी बाइविल (न्यू टेस्टामेंट) के भी बड़े प्रेमी बन गये। उन्हें महात्मा ईसा के निम्न उपदेश बड़े प्रिय थे: "मैं तुमसे कहता हूं कि दुष्टता का प्रतिरोध मत करो, यदि कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर चपेटा मारे, तो वायाँ गाल भी उसकी ओर कर दो। यदि कोई व्यक्ति तुम्हारा कोट छीन ले, तो उसे अपनो चोगा भी ले लेने दो। "बाइविल की ही शिक्षा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



हैं : वे भाग्यवान हैं, जो विनम्र ह...तुम भाग्यवान हो, यदि दूसरे लोग तुम्हें गालियां दें और तुम्हें पीड़ा पहुचाएँ।"

लन्दन में गांधी जी की भेंट मदाम ब्लेवात्स्की और श्रीमती एनीबीसेण्ट से भी हुई, और उन्होंने थियासोफी का साहित्य भी कुछ पढ़ा। वे वस्तुतः आध्यात्मिक जीवन के लिए विशेष भूख का अनुभव कर रहे थे।

भारत लौटने पर उन्होंने अपनी माता की मृत्यु का समाचार सुना, जिसे अब तक उनसे छिपाकर रखा गया था। गान्धी जी को इस बार पिता की मृत्यु से भी ज्यादा शोक हुआ।

गान्धी जी ने राजकोट तथा बम्बई में वकालत शुरू की, पर उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। उनके भाई लक्ष्मीदास पोरबन्दर रियासत में अपने दादा तथा पिता के स्थान पर मुख्य मन्त्री बनना चाहते थे। किन्तु उनका ब्रिटिश राजदूत से झगड़ा हो गया। उनकी इच्छानुसार वकील गान्धी राजदूत से मिले, किन्तु उसका बर्ताव बड़ा निराशाजनक था। राजदूत की रुखाई ने उनके जीवन को एक नया मोड़ दे दिया।

इसी समय पोरबन्दर के मुसलमानों ने अपने वकील के रूप में उन्हें साल भर के लिए अफ्रिका भेजने का प्रस्ताव किया। गान्धी जी राजी हो गये। उस समय किसने सोचा था कि अफ्रिका का प्रवास गान्धी जी को एक महान नेता में परिवर्तित कर देगा!

**गान्धी जी अफ्रिका में**

गान्धी जी अफ्रिका में वकील का जीवन शुरू करने गये थे, पर वहां उन्हें महत्त्वपूर्ण नैतिक-राजनैतिक संघर्षों में फंस जाना पड़ा। इन संघर्षों ने उनके आत्मबल की परीक्षा की, और उन्हें क्रमशः एक तेजस्वी नेता एवं धार्मिक योद्धा बना दिया। दक्षिण अफ्रिका का समाज वर्ण यानी काले-गोरे का भेद, वर्गभेद, धर्मभेद आदि से खण्डित हो रहा था। गोरे अंग्रेज हिन्दुस्तानियों को कुली कहते थे और भारतीय कर्मचारियों को 'कुली शिक्षक' 'कुली व्यापारी' आदि कहकर संकेत करते थे। कुली विशेषण से बचने के लिए कुछ हिन्दुस्तानी अपने को पारसी कहना पसंद करते, और कुछ मुसलमान अपने को अरब घोषित करते। इस प्रकार स्वयं भारतीय लोग आपस में विभक्त थे।

मई, १८९३ ई० में गान्धी जी नेटाल पहुँचे। पहुंचने के कई दिन बाद वे अदालत में गये। मैजिस्ट्रेट ने उन्हें हुक्म दिया कि वे अपनी पगड़ी उतार दें,



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



गान्धी जी अदालत से बाहर चले आये। उन्होंने अंग्रेजी हैट पहनने का इरादा किया, किन्तु उन्हें बताया गया कि काले आदमी का हैट उसके होटल का बैरा होने का सूचक था।

एक मुकदमे के सिलसिले में गान्धी जी प्रथम श्रेणी का टिकट लेकर रेल से प्रिटोरिया जा रहे थे। आगे के एक स्टेशन पर डिब्बे में एक गोरा यात्री दाखिल हुआ, उसने गान्धी जी से डिब्बा छोड़ने को कहा। गान्धी जी ने फर्स्ट क्लास टिकट के बल पर इन्कार किया। कुछ देर बाद एक पुलिस के आदमी ने आकर उन्हें हटा दिया। तीसरे दर्जे में सफर करने के बदले उन्होंने स्टेशन के वेटिंग रूम में रुकना स्वीकार किया। बेहद ठण्ढ थी और गान्धी जी का ओवरकोट सामान के साथ पुलिस के कब्जे में था, पर उन्होंने कोट मांगा नहीं, रात भर जाड़े में ठिठरते रहे।

गान्धी जी ने इस छोटी घटना को एक बड़ी समस्या के रूप में देखा, जिसे सुलझाने के लिए लम्बा संघर्ष अपेक्षित था। शुरू में उनके जी में आया कि भारत लौट आयें, पर बाद में सोचा कि यह कायरता होगी। अन्याय का विरोध करना उनका कर्तव्य व धर्म था। रेलयात्रा का यह अनुभव गान्धी जी के जीवन में एक बड़ी घटना थी। इस प्रकार के और भी कई अनुभव उन्हें अफ्रिका में हुए।

इस समय गान्धी जी की अवस्था सिर्फ चौबीस वर्ष थी। अफ्रिका पहुंचने के एक सप्ताह के भीतर उन्होंने प्रिटोरिया में समस्त भारतीयों की एक सभा की; सबसे कहा: "हमेशा व्यापार में सच्चाई बरतो, ज्यादा स्वच्छ रहना सीखो, जाति और धर्म के भेद भूल जाओ, अंग्रेजी सीखो।" गान्धी जी ने भारतीयों को अपनी दुर्दशा का बोध कराया। उस तरह की बैठकें बार-बार होने लगीं। धीरे-धीरे गान्धी जी प्रिटोरिया के सब निवासियों को जान गये।

वकील की हैसियत से गान्धी जी एक मुकदमा लड़ रहे थे। अपने लाभ की चिन्ता न करते हुए उन्होंनें दोनों पार्टियों में समझौता करा दिया। साल भर बाद वे हिन्दुस्तान लौटना चाहते थे, पर उन्हें रुक जाना पड़ा, सो भी बीस वर्ष के लिए। नेटाल की सरकार हिन्दुस्तानियों को निर्वाचन के अधिकार से वंचित करने के लिए एक बिल तैयार कर रही थी, गान्धी जी ने उसके विरोध का बीड़ा उठाया।

सन् १८९६ ई० में नेटाल में चार लाख नीग्रो निवासी थे, पचास हजार गोरे और इक्यावन हजार हिन्दुस्तानी। ट्रान्सवाल जनतन्त्र में साढ़े-छै लाख

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



नीग्रो थे, एक-सौ बीस हजार गोरे और पांच हजार हिन्दुस्तानी। ऐसा ही अनुपात दूसरे क्षेत्रों में था। अफ्रिका में हिन्दुस्तानी गोरों के फायदे के लिए पहुंचे थे, नेटाल में उनके विरुद्ध कानून बने हुए थे। पग-पग पर उनका अपमान होता था। नेटाल में, रात के नौ बजे के बाद, वे बिना पास लिये बाहर नहीं निकल सकते थे। यदि कोई भारतीय मजदूर पांच वर्ष के बाद दक्षिण अफ्रिका में एक स्वतंत्र मजदूर के रूप में रहना चाहता था तो उसे अपने परिवार के प्रति सदस्य पर तीन पौण्ड वार्षिक कर देना पड़ता था। यह कर ठकेवाले मजदूर की छ: महीने की आय के बराबर होता था। ऐसे ही अनेक संकट भारतीय जीवन को घेरे हुए थे।

निर्वाचन के अधिकार को छीनने के क़ानून के खिलाफ गान्धी जी ने लोगों को संगठित किया और सरकार से लड़ाई छेड़ दी। अन्याय के विरोध के उत्साह ने गांधी जी के शर्मीलेपन को खत्म कर दिया, और उन्हें एक अच्छा वक्ता बना दिया। इस बीच में गांन्धी जी छै महीने को हिन्दुस्तान आये और यहां गोपालकृष्ण गोखले तथा लोकमान्य तिलक से भेंट की। जगह-जगह-सभाएँ हुईं और भारतवासियों में दक्षिण अफ्रिका की समस्या की चेतना जगी। शीघ्र ही उन्हें नेटाल वापस जाना पड़ा। वहां के गोरे उनके हिन्दुस्तान के कारनामों से बहुत नाराज थे।

डरबन में गोरों ने यह माँग की कि गान्धी आदि के जहाज को हिन्दुस्तान वापस भेज दिया जाय, पर गान्धी जी डटे रहे। कई दिन जहाज वन्दरगाह के बाहर पड़ा रहा। गान्धी जी, एक गोरे सरकारी वकील के सुझाव से, साँझ के अंधेरे में डरबन नगर में प्रविष्ट हुए। फिर भी वे मार्ग में पहचान लिए गये, और उन पर प्रहार किये गये। गान्धी जी ने कई आक्रमण-कर्त्ताओं को पहचान लिया था, पर उन्होंने पुलिस को उनका नाम बताने से इनकार किया। गोरों द्वारा अनेक बार अपमानित होने तथा इस बार पीटे जाने पर भी उन्होंने कभी उनसे घृणा नहीं की।

सन् १८९९–१९०२ ई० के बोर युद्ध में गान्धी जी ने अफ्रिका में ब्रिटिश सरकार की मदद की। यह मदद घायलों की सेवा-शुश्रूषा के रूप में की गई। सन् १९०४–१९०६ ई० में ट्रान्सवाल की सरकार ने हिन्दुस्तानियों के खिलाफ अनेक नियम बनाये। अगस्त १९०६ ई० में ट्रान्सवाल के सरकारी गजट में एक प्रस्तावित कानून का मसविदा छपा, जो विधानसभा के सामने पहुंचने वाला था। इसके अनुसार प्रत्येक हिन्दुस्तानी स्त्री-पुरुष को उसकी अंगुलियों के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



निशानों से युक्त एक सर्टीफिकेट सदैव अपने साथ रखने का हुक्म था। बिना सर्टीफिकेट के व्यक्ति को जुर्माना व कैद की सजा दी जा सकती थी। इस प्रस्ताव से भारतीय लोगों में आग फैल गई, पर वे करते क्या ? गान्धी ने कहा, "हम इस कानून का विरोध करेंगे, ऐसे कानून को मानने की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठतर है।"

गान्धी जी ने अपना पहला सत्याग्रह संग्राम उक्त कानून के खिलाफ किया। जुलाई ३१, १९०७ में उक्त कानून जारी हुआ। गान्धी जी ने भारतीय जनता को निर्भीक होकर उसे तोड़ने को प्रेरित किया। गान्धी जी और सैकड़ों दूसरे लोग जेलों में वन्द कर दिये गये। जेल की लायब्रेरी से गान्धी जी ने अमरीकी लेखक थोरो का प्रसिद्ध निबन्ध 'सविनय अवज्ञा' (सिविल डिस्-ओबिडियेन्स) लेकर पढ़ा; उससे वे बड़े प्रभावित हुए।

सत्याग्रह संग्राम शुरू करने से पहले गांधी जी ने, अपनी पत्नी कस्तूरबा की सहमति से, आजन्म ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया था।

सन् १९०९-१० ई० में गान्धी जी ने प्रसिद्ध रूसी लेखक ताल्स्तॉय से भी पत्र-व्यवहार किया। उक्त लेखक की कुछ रचनाओं से गान्धी जी वड़ प्रभावित हुए। ताल्स्तॉय की पहली पुस्तक जो उन्होंने पढ़ी, वह थी "द किंग्डम आव् गाड इज विदिन यू"।

मार्च सन् १९१३ ई० में केप कालोनी की सुप्रीम कोर्ट ने यह पास किया कि गैर-ईसाइयों के विवाह कानूनी नहीं समझे जायेंगे। इसका मतलव यह था कि समूची गैर-ईसाई स्त्रियां पत्नियां न होकर रखेलें मात्र थीं। बीच में सत्याग्रह बन्द हो गया था, अव फिर उसके शुरू किये जाने का समय आया। नवम्बर, १९१३ में गांधी जी ने, जिनसे स्मट्स की सरकार डरने लगी थी, अपने विरुद्ध गवाह पेश करके अपने को बन्दी बनवाया। अन्त में सरकार को सुप्रीम कोर्ट का निर्णय बदलवाना पड़ा। दूसरी बातों में भी अफ्रीकी सरकार को हिन्दुस्तानियों के सामने झुकना पड़ा। सन् १९१५ में जब गान्धी जी भारत वापस आये तो वे एक वीर सत्याग्रही नेता के रूप में प्रतिष्ठित व प्रसिद्ध हो चुके थे।

सन् १९०९ में गान्धी जी ने अपनी पहली पुस्तक "हिन्द स्वराज" प्रकाशित की थी। उसमें उन्होंने कहा था—भारत का लक्ष्य मनुष्य के नैतिक व्यक्तित्व को ऊंचा उठाना है। अन्याय का विरोध करना चाहिए, क्योंकि अन्याय को सह लेना नैतिक व्यक्तित्व को छोटा बनाने वाला है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



हिन्दुस्तान आकर गान्धी जी ने सावरमती आश्रम की स्थापना की, यह आश्रम अहमदाबाद के निकट साबरमती नदी के तट पर है।

सन् १८८५ में एक अंग्रेज एलान आक्टेवियन ह्यूम के प्रयत्न से इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। अनेक वर्षों तक कांग्रेस का नेतृत्व नरम दल वालों के हाथों में रहा, वे लोग मुख्यतः कागजी कार्यवाही तथा वैधानिक तरीकों द्वारा भारत सरकार से सुविधाएँ प्राप्त करने की कोशिश में लगे रहते थे। गान्धी के आगमन तक कांग्रेस का देश की जनता से विशेष सम्पर्क नहीं था। सन् १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हुआ। उस परिस्थिति में नरम दल के कांग्रेसी भी "होम रूल" अर्थात् अपने शासन की आवाज उठाने लगे। श्रीमती एनीबीसेंट और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की होम रूललीग इसी समय स्थापित हुई। गान्धी जी ने यह उचित समझा कि युद्ध काल में ब्रिटिश सरकार की मदद करें, जैसा कि उन्होंने बोअर युद्ध के समय अफ्रिका में किया था।

फरवरी १९१६ में काशी विश्वविद्यालय का शिलान्यास तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग ने किया। इस अवसर पर काशी के नगवा खण्ड में गंगाजी के तट पर विराट उत्सव किया गया। वायसराय तथा विविध प्रदेशों के राज्यपाल देशी राजे-महाराजे आदि वहाँ उपस्थित थे। इसके उपलक्ष में पुराने सेंट्रल हिन्दू कालेज के भवन में बहुत-से सार्वजनिक भाषणों की भी आयोजना की गई थी। विशिष्ट आगंतुकों ने वहाँ अपने व्याख्यान दिये। एक दिन महात्मा गांधी को भी भाषण करने के लिए विश्वविद्यालय के प्रमुख जन्मदाता पंडित मदनमोहन मालवीय ने निमंत्रित किया। भवन श्रोताओं से भरा हुआ था। बहुत से स्थानीय सरकारी उच्च अधिकारी भी मौजूद थे। मंच पर आभूषणों से अलंकृत कितने ही राजा-महाराजा बैठे हुए थे। दरभंगा के महाराज सभापति थे। महात्मा गांधी ने भाषण करते हुए इन राजे-महाराजों को संबोधित करते हुए कहा कि "आप लोग अपने आभूषण बेच कर दरिद्रों की सेवा कीजिए।"

वायसराय के आगमन के कारण नगर में काफी आतंक था। ऐसा मालूम होता था कि नगर को दुश्मनों ने घेर लिया है। जगह-जगह पर पुलिस का पहरा था। सड़कें बंद थीं। इसका घोर विरोध करते हुए गांधी जी ने कहा कि "वायसराय की हत्या हो तो अच्छा है, पर नगर वालों को इस प्रकार से सताना नहीं चाहिए।" इस पर बड़ी गड़बड़ी मची। लोग चकित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



होकर सुन रहे थे। सभापति ने गांधी जी को रोका। गान्धी जी चुप हो गये। श्रोताओं ने आवाज उठायी, "बोलिए-बोलिए।" गान्धी जी ने कहा कि "मैं सभापति की आज्ञा मान सकता हूं, दूसरों की नहीं।" सभापति ने उन्हें आगे बोलने के लिए कहा। गांधीजी ने शहर की गंदगी का संकेत करते हुए कहा कि—"आश्चर्य है कि हम लोग ऐसे गंदे रहते हैं। अंग्रेज अपने घर में बहुत अच्छे हैं, पर हमारे सम्पर्क में वे भी खराब हो जाते हैं।" देश की दरिद्रता और अंग्रेजी शासन की निरंकुशता पर वे बोल रहे थे। सभापति, राजे-महराजे, और सरकारी कर्मचारी उठकर जाने लगे। सभा विसर्जित हो गई। गांधीजी को गिरफ्तार करने के लिए स्थानीय अधिकारी उद्यत हुए। मालवीय जी ने इस कार्रवाई को यह कह कर रोका कि "मैं गांधी जी को स्वयं ही चले जाने को कहूँगा।" गांधीजी इसके बाद काशी से चले गये।

इस संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि जब १९१५ में गांधी जी दक्षिणी अफ्रिका से भारत लौटे थे तब श्री गोपालकृष्ण गोखले ने उन्हें परामर्श दिया कि "आप एक वर्ष बिना भाषण दिये देश की स्थिति का अध्ययन कीजिए।" गोखले को महात्मा गांधी अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। गोखले ने उन से स्पष्ट कह दिया था कि "भारत दक्षिण अफ्रिका नहीं है। जिस प्रकार का आंदोलन वहाँ सफल हो सकता था, यहाँ नहीं हो सकता।" थोड़े ही दिनों बाद गोखले की मृत्यु हो गई। संयोगवश हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के समय वह वर्ष समाप्त हुआ जिसमें गांधी ने चुप रहना स्वीकार किया था। वास्तव में भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उनका यह पहला भाषण था, और इसमें आगे की उन घटनाओं की कुछ झलक देखी जा सकती थी, जिनमें महात्मा गांधी युग-पुरुष के रूप में प्रधान पात्र रहे।

देश के सवर्ण हिन्दुओं की नाराजी की परवाह न करते हुए गान्धी जी ने अपने साबरमती के आश्रम से अछूतोद्धार का आन्दोलन आरम्भ किया। आश्रम में रहने के लिए एक अछूत परिवार आया। गांधी ने उन्हें आश्रम में ले लिया। आश्रम के अधिकांश सदस्यों ने बुरा माना। स्वयं कस्तूरबा को यह कल्पना असह्य लगी कि वे चौके में अछूतों के साथ भोजन करें और उनके जूठे बर्तन मांजें। गांधी जी ने पत्नी को समझाया : हिन्दू महिला होने के नाते उन्हें पति का साथ देना चाहिए। अछूत परिवार में लक्ष्मी नाम की एक लड़की थी। गांधी जी ने उसे अपनी बेटी के रूप में ग्रहण किया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



यदि गान्धी जी केवल जनता की प्रसन्नता और प्रशंसा की अपेक्षा करते तो वे हिन्दू जनता की मनोवृत्ति के विरुद्ध कभी अछूतोद्धार की चर्चा न करते। किन्तु गांधी जी सत्य के पुजारी थे, और भय उनके स्वभाव के विरुद्ध था। जो निर्भीक और साहसी नहीं है वह कभी वीर जनों के पथ पर नहीं चल सकता। गांधी जी ने अछूतों को "हरिजन" का नाम दिया।

## नील दाग़ : चम्पारन का संघर्ष

दिसम्बर सन् १९१६ में गान्धी जी कांग्रेस की वार्षिक बैंठक के सिलसिले में लखनऊ आये थे। वहाँ राजकुमार शुक्ल नाम के किसान उनसे मिले, और बिहार प्रान्त के चम्पारन में चलने के लिए उनसे बड़ा आग्रह किया। वहां की करुण कहानी सुनकर गांधीजी ने निमन्त्रण स्वीकार किया। कुछ दिनों वाद वे राजकुमार शुक्ल के साथ पटना में श्री राजेन्द्र प्रसाद जी के घर पहुँचे। वहाँ से गांधी जी मुजफ्फरपुर गये, वहां उनकी आचार्य जे० वी० कृपलानी से भेंट हुई। धीरे-धीरे अनेक कर्मठ लोग गान्धी जी के साथ चम्पारन की समस्या को हल करने में लग गये। उन लोगों में श्री राजेन्द्र प्रसाद और आचार्य कृपलानी के अतिरिक्त मौलाना मजरुल हक भी थे।

चम्पारन तिरहुत जिले का एक भाग है। मोतीहारी उसका मुख्य शहर है। वहां का प्रधान उद्योग नील की खेती थी। वहां के जमींदारों ने किसानों को इस वात के लिए मजबूर किया कि वे अपनी पन्द्रह फी-सदी जमीन नील की खेती में लगायें और नील की सारी फसल उन्हें लगान के रूप में देदें। इस प्रकार का एक लम्बी अवधि का समझौता था। किसान इसे पसन्द नहीं करते थे। इधर जमींदारों ने सुना कि जर्मनी में रासायनिक प्रक्रिया से नील वनने लगा है। इस पर उन्होंने किसानों को समझौते से मुक्त करने की वात की। शर्त यह लगाई कि किसान उस मुक्ति के लिए जमींदारों को मुआवजे में रुपया दें। जमींदार अव स्वयं नील की खेती बन्द करना चाहते थे, फिर भी वे किसानों से रुपया ले रहे थे। जब किसानों को जर्मनी में नील के निर्माण की बात मालूम हुई तो वे अपना रुपया वापस मांगने लगे।

गान्धी जी ने स्थिति की जांच-पड़ताल के लिए तिरहुत डिवीजन के कमिश्नर से आज्ञा मांगी। इस पर कमिश्नर उन्हें डराने-धमकाने लगा। उन्हें तुरन्त तिरहुत छोड़ने का हुक्म मिला। गांधी जी ने इनकार किया। उनके विरुद्ध मुकदमा चलाया गया। अबतक गांधी जी किसानों के बीच बड़े प्रसिद्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



हो गये थे। सरकार सहसा उनके विरुद्ध कुछ नहीं कर सकती थी। धीरे-धीरे सरकार को झुकना पड़ा। सरकार को गांधी जी पर चलाया हुआ मुकदमा वापस लेना पड़ा। सम्पूर्ण मामले की जांच के लिए एक समिति बनी। अन्त में किसानों की मांगें स्वीकार हुईं। हिन्दुस्तान में गान्धीजी के सत्याग्रह की यह पहली विजय थी। इस सत्याग्रह के सम्बन्ध में गान्धीजी को चम्पारन में पूरे सात महीने रहना पड़ा।

चम्पारन की विजय ने देश के किसानों तथा जनता को नया बल व साहस दिया। वहां किसानों तथा देश के सभी लोगों ने एक बड़ा पाठ सीखा—बलवान ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध निर्भय बने रहने का पाठ। गीता में दैवी सम्पत् वाले लोगों का पहला लक्षण "भय का अभाव, निर्भीकता" ही बतलाया गया है। चम्पारन की विजय ने देश को नया साहस दिया। सत्याग्रह संग्राम के और देश के इतिहास में यह एक नई घटना थी।

इसी समय अहमदाबाद की कपड़े की मिलों में मजदूरों तथा मालिकों के बीच तनाव हो गया, जिसके कारण गान्धी जी को चम्पारन से वहां जाना पड़ा। मजदूर चाहते थे कि मजदूरी ज्यादा मिलनी चाहिए और काम के घन्टे कम होने चाहिए। गान्धी जी को उनकी मांगे उचित लगीं। गान्धी जी ने मजदूरों को पूर्ण रूप में अहिंसात्मक रहकर हड़ताल करने की सलाह दी। गान्धी जी ने इस प्रसंग में उपवास शुरू कर दिया। इस समय गांधी जी का परिचय सरदार वल्लभ भाई पटेल से हुआ। मिल मालिक शुरू में अटल थे, पर पीछे दोनों दलों में समझौता हुआ। उस समय का गांधीजी द्वारा किया हुआ समझौता अभी तक चल रहा है।

सन् १९१८ के शुरू में महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की स्थिति संकटमय थी। उस समय लड़ाई के लिए रंगरूट भरती करने नें गांधी जी ने सरकार की मदद की। इससें पहले भी उन्होंने सरकार की मदद की थी। नवम्बर सन् १९१८ में मित्र राष्ट्र विजयी हुए।

जैसा कि ऊपर कहा गया, महायुद्ध (१९१४-१८) के दौरान में श्रीमती एनीबीसेंट और लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपनी-अपनी होम रूल लीगें स्थापित कीं। उन्होंनें यह चाहा कि अंग्रेजों के संकटकाल का लाभ उठा कर देश की स्वाधीनता प्राप्त की जाय। श्रीमती एनी बीसेंट नजरबंद कर दी गई थीं। अन्य राजनीतिज्ञों ने यह सोचा कि अंग्रेजों की यदि मदद की जाय तो संभव है कि युद्ध के बाद हमें उनके उपनिवेशों का पद मिल जाय और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



हम अधीन जाति की तरह न रहें। इसी बीच (१९२७) में सेक्रेटरी आफ स्टेट्स फार इंडिया मिस्टर मांटेगू भी अपने प्रतिनिधि-मण्डल के साथ देश की राजनीतिक स्थिति का अध्ययन करने आये। इनके प्रस्ताओं का कोई संतोष-प्रद परिणाम नहीं हुआ। महायुद्ध भी समाप्त हुआ। महात्मा गांधी जी का जोर राजनीतिक क्षेत्र में बढ़ता गया। उन्होंने अपना कार्यक्रम उपस्थित किया। इस कार्यक्रम में और पहले के कार्यक्रम में यह वहुत बड़ा भेद था कि यह अपने ही कार्य को निर्धारित करने के लिए निर्णय करते थे। यह वतलाते थे कि हमें स्वयं क्या करना चाहिए। वे शासकों से कुछ माँग पेश नहीं करते थे। उनसे यहां से चले जाने के ही लिए कहते थे। पहले सब प्रस्ताव इस प्रकार के थे कि शासकों को अमुक अमुक वात करनी चाहिए। देशवासियों को स्वयं क्या करना चाहिए, इस संबन्ध में विचार नहीं होता था।

युद्ध की समाप्ति पर अंग्रेजी शासन की तरफ से देश की राजनैतिक उन्नति के लिए कुछ नहीं किया गया। सभी लोग हतोत्साहित हुए। इस पर गांधीजी के कार्यक्रम के अनुसार चलने की तरफ अधिक ध्यान होने लगा। पंजाब में विशेष कर भयंकर दमन हुआ। जालियांवाला वाग में शान्ति से सभा करने के लिए एकत्रित सैकड़ों आदमी मारे गये। तवसे यही विचार होने लगा कि अंग्रेजों से हम कुछ आशा नहीं कर सकते, जो कुछ करना होगा स्वयं हमें ही करना होगा। १९२० के अंत तक गांधीजी पूर्णरूप से देश के राजनीतिक नेता हो गये। उन्होंने कहा कि हमें सरकारी नौकरियों, अदालतों, उपाधियों और शिक्षालयों से असहयोग करना चाहिए। राष्ट्रीय विद्यालयों को स्थापित कर उनके द्वारा अच्छी शिक्षा देनी चाहिए। अस्पृश्यता का निवारण कर दलित वर्गों की उन्नति करनी चाहिए, और हिन्दू-मुसलमानों में सद्भावना फैलाकर देश की एकता को दृढ़ करना चाहिए। इन्हीं मूलमंत्रों को लेकर १९२१ में ब्रिटिश राजकुमार के स्वागत समारोह का वहिष्कार, १९३० में व्यक्तिगत सत्याग्रह, और १९४२ में "भारत छोड़ो" का आंदोलन उठा कर महात्मा गांधी ने अपने विचारों और प्रस्ताओं को वाह्य रूप दिया। साथ ही साथ उनका रचनात्मक कार्य भी चलता रहा। १९३९ में द्वितीय महायुद्ध हुआ। अभी वह चल ही रहा था कि "भारत छोड़ो" आंदोलन उठाया गया। १९४७ में स्वराज्य मिल गया।

महात्मा गांधी के राजनीतिक कार्य में ग्रामीण उद्योग-धंधों की बड़ी उन्नति हुई। हाथ से कते और बुने के वस्त्रों आदि का बहुत प्रयोग हुआ। अस्पृश्यता-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


निवारण में भी बहुत कुछ काम हुआ। पर हिन्दू-मुसलमान मैत्री नहीं स्थापित हो सकी और साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ता ही गया। महात्मा गांधी के आन्दोलन से विमुख करने के उद्देश्य से अंग्रेजी शासक मुसलमानों को लोभ देते रहे, और मुसलमान नेताओं ने भी यही समझा कि अंग्रेजों से मिलकर ही काम करने में हमारा हित हैं। जब उन्होंने यह देखा कि अब अंग्रेज देश से चले जायंगे, तो उन्होंने अपने लिए पृथक् राष्ट्र की मांग पेश की, और जाते-जाते अंग्रेज देश का विभाजन करते गये। इससे गांधीजी को बड़ा ही धक्का लगा। उन्हें इस स्थिति में और इस रूप का स्वराज्य पसंद भी नहीं आया। वह यह कहते रहे कि "मेरा तो सारे जीवन का काम मिट्टी में मिल गया।"

महात्मा गांधी स्वयं हर प्रकार से मुसलमानों को संतुष्ट करना चाहते थे। १९२०-२१ से १९२३-२४ तक वे हर बात में मुसलमानों का पक्ष भी लेते रहे और उनकी सहायता करने को उद्यत रहे। उन्होंने सक्रिय रूप से "खिलाफत आन्दोलन" में भाग लिया। तुर्की के खलीफा के प्रति अंग्रेजों के दुर्व्यवहार से भारत के मुसलमान बहुत ही क्षुब्ध हुए; गांधी जी ने मुसलमानों का साथ दिया। उस समय बहुत से मुसलमान धार्मिक और राजनीतिक नेता इनके साथ हो लिए। पर जब तुर्क के ही लोगों ने खलीफा को हटा दिया, तो भारत के मुसलमानों ने स्वतंत्रता-संग्राम से अपने को पृथक् कर लिया।

महात्मा गांधी अपने सिद्धांतों पर सदा दृढ़ रहते थे; वे सत्य और अहिंसा के ही मार्ग पर चलते थे, और अपने विरोधियों से मिलकर उन्हें अपनी बात समझाने के लिए सदा प्रस्तुत रहते थे। यही कारण है कि यदि एक तरफ भीषण संघर्ष के लिए देशवासियों को निमंत्रित करते थे, तो दूसरी तरफ वे शासकों से सम्पर्क बनाये रखने में भी कोई दोष नहीं देखते थे। जब वे अपना आन्दोलन आरम्भ करते थे, तो देश के प्रधान अधिकारी वायसराय को सूचना दे देते थे। १९२२ में बारडोली में वे सत्याग्रह आरम्भ करने ही वाले थे कि गोरखपुर के चौरी चौरा स्थान पर भीषण काण्ड हो गया। पुलिस और जनता के झगड़े में कई पुलिसवाले मारे गये, और उनके थाने में आग लगा दी गई। उस समय गांधी जी ने आन्दोलन फौरन ही स्थगित कर दिया, यद्यपि इसके कारण उनकी काफी टीका-टिप्पणी की गई।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



गांधीजी दूसरों का दोष सदा अपने ऊपर लेने को तैयार रहते थे। यदि कहीं कोई खराबी होती थी, तो अपने को दोषी बतलाते थे। इस कारण बीच-बीच में भयंकर उपवास किया करते थे। अकसर तो वे २१ दिन की सीमा बाँध कर ऐसा करते थे, पर एक बार १९३२ में जब वे जेल में ही रहे और जब उन्होंनें देखा कि ब्रिटिश शासक हरिजनों अर्थात् अस्पृश्यों आदि को हिन्दू समाज से पृथक् करना चाहते हैं, तो उन्होंने जेल में ही आमरण अनशन आरम्भ किया। उनका कहना था कि हिन्दुओं से हरिजनों को मैं कभी भी पृथक् नहीं होने दूंगा। हरिजनों के पुराने नेतागण और ब्रिटिश शासक दोनों को ही इनकी भीष्म-प्रतिज्ञा के सामने झुकना पड़ा। समुचित समझौता हुआ। महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता की उपाधि अपने स्नेह और सम्मान के रूप में देश ने एकमत से दी।

महात्मा गांधी की कार्य-प्रणाली की यह विशेषता थी कि वे अपने सभी छोटे-बड़े कार्यकर्ताओं से प्रत्यक्ष संबंध बनाये रहते थे, उनके सुख-दुःख में सदा साथ देते थे, और सभी लोग अपना-अपना कार्य करते हुए यह अनुभव करते थे कि उनकी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि हमारे ऊपर है। दुःख, आश्चर्य, लज्जा की बात है कि ऐसे अजातशत्रु के भी प्राणों पर प्रहार करने वाले पैदा हो ही जाते हैं। ३० जनवरी १९४८ को दिल्ली में जब वे सायंकाल की प्रार्थना में जा ही रहे थे कि किसी आततायी ने उनके ऊपर गोली का प्रहार किया, उनकी इहलीला समाप्त हो गई। प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने देशवासियों को इस दुःखद घटना की सूचना देते हुए आकाशवाणी द्वारा ठीक ही कहा था कि "आज हमारे जीवन की ज्योति बुझ गई। आज चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देता है। हमारे राष्ट्रपिता, हमारे परमपूज्य नेता हमारे बीच नहीं रहे।" सब लोग गांधीजी नहीं हो सकते, पर सब लोग उनकी जीवनी, कार्यप्रणाली और उच्च आदर्शों से शिक्षा ले सकते हैं, और अपने-अपने सीमित कार्यक्षेत्रों में उसी प्रकार आचार-विचार कर अपने को उतना ही उपयोगी बना सकते हैं, जितना कि महात्मा जी संसार के विस्तृत रंगमंच पर थे।

एक बार किसी ने गांधी जी से प्रश्न किया कि उनका मुख्य संदेश क्या है; गांधी जी ने उत्तर दिया, 'मेरा जीवन ही मेरा संदेश है।' गांधी जी सत्य और अहिंसा के बड़े प्रचारक ही नहीं थे, वे और उनका जीवन इन सद्‌गुणों का प्रत्यक्ष रूप ही थे। गांधी जी इन तत्त्वों का बड़ा व्यापक और गहरा आख्यान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



करते थे। इसके अतिरिक्त गांधी जी एक ऐसे महात्मा थे जिन्होंने सदा, सर्वत्र अन्याय के विरुद्ध लड़ना अपना प्रमुख ध्येय बनाया। अन्याय के विरोध में ब्रिटिश साम्राज्यशाही से टक्कर लेने में वे जरा भी नहीं हिचके। यों गान्धी जी सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा को भारत की स्वतंत्रता से भी अधिक महत्त्व देते थे। वस्तुतः, उनकी दृष्टि में, असली स्वतंत्रता का मतलब एक ऐसे मानव-समाज की स्थापना था जहां किसी तरह का अन्याय न हो, और जहाँ सत्य, पारस्परिक सद्भावना और प्रेम के तत्त्वों की पूर्ण प्रतिष्ठा व प्रसार हो।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection